सस्ता साहित्य मण्डल का

तिहत्तरवाँ ग्रन्थ

मेरी कहानी

[पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा]

हिन्दी-सम्पादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

अक्तूबर १९३६; पहली बार, ३०००,
नवंबर १९३६; दूसरी बार ३०००
क़ीमत चार रुपये ।

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता साहित्य मण्डल" ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय
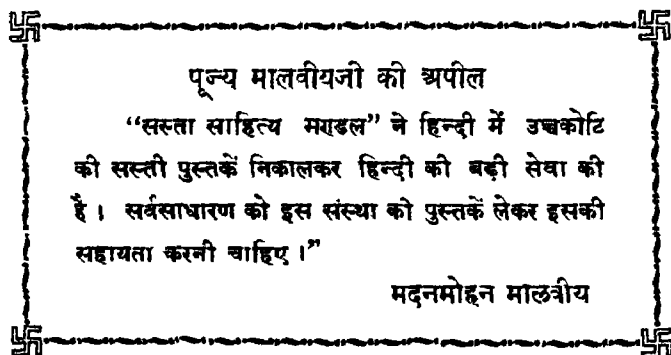
मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
पो० ब० नं० ७८, दिल्ली

कमला नेहरू

कमला को

—जिसकी अब याद ही रह गई—

मेरी ओर से

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूं। एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत अच्छा नहीं रहता, फिर दूसरी और जिम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में पं० जवाहरलाल जी की 'आत्मकथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की जिम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज ? पूज्य बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और संपादन के बाद ही यह जिम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस खयाल से कि काम जल्दी और समय पर खत्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी खत्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललालजी असावा तथा भाई शंकरलालजी वर्मा (मन्त्री, प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'काँग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम मे भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मै इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (असेम्बली सदस्य) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मंत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेञ्च उद्धरणों का अंग्रेजी भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (गवालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट-जाने पर भी, मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा (स० सम्पादक हिन्दुस्तान) ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-सशोधन और कही-कही भाषा-सबन्धी संशोधन आदि मे शुरू से ही सहायता दी है। अतः इन दोनों का भी मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध मे भी। मै सरल और बोल-चाल की भाषा— जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के जरिये मै उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफ़सोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मै शुरू से अखीर तक उसे निबाह न सका। फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा खयाल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कहीं-कहीं ग़लतियाँ और मतभेद की आशका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठकों से मेरा अनुरोध है कि जो भूले उनकी निगाह मे आवे उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मिहरबानी करें, जिससे दूसरे सस्करण में उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा मे प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी शब्दो का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढ़ी-चुस्त लोगो को वह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फार्म खुद पडित जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अब यदि सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बडा संतोष मिलेगा; क्योंकि मै, वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को, पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटुंडी (अजमेर)।
गांधी जयन्ती १९३६.

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ़ एकाध आख़िरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फ़रवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का ख़ास मक़सद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं की ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का ख़याल रखकर ही मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नहीं है; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का ख़याल करके लिखता तो शायद मैंने इससे मुख़्तलिफ़ रूप मे इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज्यादा ज़ोर दिया होता। उस हालत मे, जिन कुछ बातों को इसमें मैंने यों ही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन कुछ बातो को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हे महज सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालो की उनमें से ज्यादातर बातो से दिलचस्पी न हो जिन्हे मैंने तफ़सील मे लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहस-मुबाहसे के लिए कोई गुंजाइश ही नही है; लेकिन मैं समझता हूँ कि आज के हिन्दुस्तान मे उनका कुछ-न-कुछ महत्व जरूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बार-बार जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवतः बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का ख़याल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय मे लिखी गई है जो मेरी जिन्दगी का ख़ास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूं, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग़ में उठते थे। इसमे, जहाँतक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन

नहीं । यह बात कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कहीं अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक है । इसलिए मै यह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकागी—इकतर्फा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियो का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नही हो पाया है । किन्ही बीती हुई घटनाओ के असली विवेचन में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे नजदीक भूतकाल की घटनाओ का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते है, उन्हें इसके लिए किसी दूसरे साधनो का सहारा लेना होगा । लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथायें उन्हे छूटी हुई कडियो को जोडने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने मे सहायक हो सके ।

मैंने अपने कुछ साथियो की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय मे सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही, कुछ समुदायों और व्यक्तियो की भी शायद और भी कडी आलोचना की है । मेरी यह आलोचना उनमे के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नही सकती । लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामो में पडते है, उन्हे आपस मे एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए । दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी में डालनेवाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते है, और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते है । आपस के मतभेदो और उन सब बातो के प्रति, जिनमे मतैक्य है, आदर और वस्तु-स्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यो न हो, मुकाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए । लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमे किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नही है ।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओ के विवेचन को जान-बूझकर टाला है । जेल में मै न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूं, न में अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए । जेल से छूटने के बाद भी मैंने इसमें उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नही समझा । मैं जो कुछ लिख चुका था,

उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह मेरी यह 'कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नज़दीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्रमात्र रह गई है।

बेडनवीलर,
२ जनवरी, १९३६।

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

मेरी कहानी

पण्डित मोतीलाल नेहरू

१

कश्मीरी घराना

"अपने आपके बारे में लिखना है तो अच्छा काम, मगर है मुश्किल। क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और यदि अपनी तारीफ़ करें, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार गुज़रता है।"

—अब्राहम कोली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो, यो भी उसके ख़राब हो जाने का अन्देशा रहता है, फिर हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा। और जब लडका ऐसा हो जो शुरू के ११ साल तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर ख़राबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहने है, जो उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी है और हम हरेक के बीच में काफी साल का फर्क़ है। इस तरह अपने बचपन में मै बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हम-उम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ; क्योंकि मै किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नही भेजा गया। मेरी पढ़ाई की ज़िम्मेदारी ख़ानगी मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर मे किसी तरह अकेलापन न था। हमारा परिवार बड़ा था, जिसमें चाचा-ताऊ और दूसरे नज़दीक के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारों में आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाईस्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी नज़र में मै उनके कामो या खेलों में शरीक होने लायक नहीं हुआ था। इस तरह इतने बड़े परिवार मे, मैं और भी अकेलापन महसूस करता था और ज्यादातर अपने ही ख़यालो और खेलो में ही मुझे अकेले अपना वक़्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज्यादा हुए होगे, १८वी सदी के शुरू में हमारे पुरखे दौलत और नामवरी हासिल करने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयो से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुख़सियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानो में उनका बड़ा नाम था। फर्रुख़सियर जब कश्मीर गया, तो उसकी उनपर नज़र पड़ी।

और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। यह १७१६ के आस-पास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका ख़ानदानी लक़ब था वह बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल ग़ायब हो गया और हम महज़ नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डांवाडोल ज़माना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आये, जिसमे वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के नाम-मात्र के बादशाह के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के ग़दर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भर-जवानी में ही वह मर गये थे।

१८५७ के ग़दर की वजह से दिल्ली से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे ख़ानदान के तमाम काग़ज़-पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस होगये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहाँ से चल पड़ा और आगरे में जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो ताऊ जवान थे और कुछ-कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इस अंग्रेज़ी जानने की बदौलत मेरे छोटे ताऊ और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक आफ़त से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगो के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चों का हुआ करता है। इत्तिफ़ाक़ से कुछ अंग्रेज सिपाही उन्हें रास्ते में मिले। उन्हे शक हुआ कि, हो न हो, यह लड़की किसी अंग्रेज़ की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुक़दमा करके सज़ा ठोक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे ताऊ तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नज़दीकी पेड़ पर ज़रूर फांसी पर लटका दिये गये होते। मगर ख़ुश-क़िस्मती से मेरे ताऊ के अंग्रेज़ी जानने ने मदद की, जिससे इस फ़ैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख़्स गुज़रा, जो मेरे ताऊ वग़ैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरों की जान बचाई।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को मेरे पिताजी का जन्म हुआ[1]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमें वह मुग़लों का दरबारी लिबास

१. एक अजीब और मज़ेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी दिन, इसी महीने और इसी साल पैदा हुए हैं।

पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार-से दिखाई देते हैं, हालांकि उनकी सूरत-शकल कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो ताउओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफ़ी बड़े थे। बड़े ताऊ बंशीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे ताऊ नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतड़ी के दीवान हुए और वहां दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने क़ानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हीके साथ रहे और उन्हींकी छत्र-छाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावत मेरी दादी के बहुत लाडले थे। वह बूढी थीं और बड़ी दबंग भी। कोई उनकी बात न सुने, यह उन्हे गवारा नहीं होता था। उनको मरे अब कोई पचास वर्ष हो गये होंगे; मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती हैं और कहती है कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थीं। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई काम किया, तो वह उसके लिए भयंकर साबित होती थी।

मेरे ताऊजी नये हाइकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाइकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। ताऊजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गई और वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर और इलाहाबाद के स्कूल और कॉलिज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उन्होंने महज़ फ़ारसी और अरबी की तालीम पाई थी। उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह बरस की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फ़ारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दखल रखते थे। और इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्ज़त से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाक़त हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमामस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कॉलेज में वह सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ़ हो गया था, और सो भी उस वक्त जब कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरों को छोड़कर इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज़-मिज़ाज

और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफ़ेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक ज़ोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफ़ेसर का ज़िक्र प्रेम-भरे शब्दों में किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेन्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद के प्रिन्सिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से सम्हालकर रक्खी थी। वह उन दिनों की है, जब कि वह कॉलेज में पढ़ते थे।

कॉलेज की परिक्षाओं मे वह पास होते चले गये। कोई ख़ास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नही की थी और जो पहला परचा किया तो उससे उन्हें बिलकुल संतोष नही हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही परचा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद? उन्होंने बाकी परचे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षाये आगरा में हुआ करती थी) मगर बाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला परचा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफी की जो आगे के परचे नही किये। खैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

अब उन्हें काम-धधा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमे बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुन्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकील के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हे एक स्वर्णपदक भी मिला। कानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होने कानपुर की जिला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोड़कर मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का खास शौक़ था। उन दिनो कानपुर कुश्तियों और दंगल के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी

इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। पण्डित नन्दलाल एकाएक गुज़र गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बडी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे मे जुट पडे। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। ताऊजी के क़रीब-क़रीब सब मुकदमे उन्हें मिल गये और उन्हें उनमें अच्छी कामयाबी भी मिल गई। इससे अपने पेशे मे भी बहुत जल्दी कामयाबी मिली। मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र मे ही उन्होंने वकालती सफलता मे नामवरी हासिल करली और इसके लिए उन्होंने अपनी निष्ठुर प्रेयसी वकालत में अधिक-से-अधिक तल्लीन होकर इसकी कीमत भी चुकाई थी। उनके पास न सार्वजनिक और न खानगी कामो के लिए वक़्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियो के दिन भी वह वकालत के काम मे ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेजी-दाँ लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खीचने में लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों मे गये भी थे और, जहाँ तक विचारों से सम्बन्ध है, उसके प्रति अपनी रुचि और भक्ति प्रकट भी कर चुके थे। लेकिन उसके कामों में वह कोई खास दिलचस्पी नही लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक्त नही था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यो का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त भी होगा या नहीं; उस समय तक इन विषयों पर उन्होने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हे इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और संगठन मे शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यो बचपन और जवानी के शुरू की तेजी देखने मे कम हो गई थी, पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। अधिकार की नई इच्छा उनमें जग गई थी। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और आत्मावलम्बन का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक्कतों का मुकाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनो राजनैतिक क्षेत्र से अपनेको बचाये रखते थे। और बात यह है कि उन दिनो कांग्रेस में लड़ाई का मौका ही बहुत कम था। फिर भी, उस क्षेत्र से उनका परिचय नही था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा

रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी को जोर से पकड़ लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे—किसीकी मेहरबानी से नहीं, जैसा कि उनका विश्वास था, और न किसीकी ख़िदमत करके, बल्कि ख़ुद अपने संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजों और उनके तौर-तरीक़ के क़द्रदाँ भी थे। उनका यह ख़याल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये है और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ, उसीके लायक़ हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नही जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर क्या सकते थे। हाँ, एक और ख़याल भी उनके दिमाग़ में था, जोकि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नही—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके है।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढ़ी नही कि खर्च भी उसके साथ बढ़ा नही। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तुहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे में ढलता गया।

मेरे बचपन[१] में हमारे घर का यह हाल था।

१. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी संवत् १९४६, को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

२

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुजुर्गों की छत्रच्छाया में बीता। उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ में आ जाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज़ और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबिला करे और इसे हरगिज़ बरदाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनाई पड़ते थे। उनपर खूब बहस भी होती थी। यह एक मशहूर बात थी कि जब किसी अंग्रेज़ ने किसी हिन्दुस्तानी को क़त्ल कर दिया तो उसको जूरी, जिनमें उन्हीके देश-वाले रहते थे, बरी कर देते। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो—और जबरदस्त भीड़ रहा ही करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफ़र नहीं कर सकता था, चाहे भले ही वे खाली पड़े रहें। जो डब्बे रिज़र्व नहीं रहते थे, उनपर भी अंग्रेज़ लोग अपना क़ब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नहीं घुसने देते थे। सार्वजनिक बगीचों और दूसरी जगहों में भी बेञ्चें और कुर्सियां रिज़र्व रक्खी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता तो मुझे बड़ी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार भर में मेरे एक चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेज़ों से और ज्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक़ था। यूरेशियन तो अपनेको शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफ़र में हुआ करते थे।

हालांकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, मुझे जहांतक याद है, किसी अंग्रेज़ के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकायें अंग्रेज़ थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज़ भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेज़ों की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी जबरस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झांकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखें ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस मे क्या-क्या बातें करते हैं। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो मै खींचकर बाहर लाया जाता और मै, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज़ को देखकर मै सहम गया और माँ के पास झपटा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे है!"

मै पिताजी की बहुत ही इज्जत करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था। और दूसरो के मुकाबले मे इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मै भी अपने दिल में यह आशा लगाये था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। लेकिन जहां मै उनकी इज्ज़त करता था और उन्हे बहुत ही चाहता था, वहाँ मै उनसे डरता भी था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगडते हुए मैंने उन्हे देखा था। उस समय वह बडे भयंकर मालूम होते थे। और मै मारे डर के कांपने लगता था। नौकरों के साथ जो यह बर्ताव उनका होता था उसके प्रति मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा भी आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनो में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नही मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमे हँसी-मजाक का माद्दा बड़े ज़ोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपपर ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, उनकी अपने-आप पर क़ाबू पाने की ताक़त बढ़ती गई। और फिर शायद ही कभी उनकी इस पुरानी आदत का परिचय मिलता।

उनकी तेज़-मिज़ाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज मैंने पिताजी की मेज़ पर दो फ़ाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनो का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल ली। बाद मे बड़े ज़ोरों की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नही। आखिर पेन मिल गया और मैं गुनहगार क़रार

दिया गया। पिताजी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुँह लिये मैं माँ की गोद में दौड़ा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन पर क्रीम और मरहम लगाने पड़े थे।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी के प्रति मेरे मन में कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सजा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी ज़रूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमें और शामिल हो गया था। मगर मा के साथ ऐसा न था। उससे मैं बिलकुल नहीं डरता था। क्योंकि मैं जनता था कि वह मेरे सब कुछ किये-धरे को माफ़ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं मा को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नज़दीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ स्वप्न में भी पिताजी से कहने का खयाल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटी थी और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थी। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूब-सूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मा के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर मे नीचे मैदान मे आये थे

एक और शख्स जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुशी मुबारकअली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेज़ी फौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और खासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहन-शील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौ-जवान आंखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खजाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफलैला के और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी इन्तकाल कर गये। उसकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथायें भी मैं सुना करता था, जोकि मेरी मा और ताइयाँ सुनाया करती थीं। मेरी एक ताई, पण्डित नन्दलालजी की

विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियो का तो मानों खजाना ही भरा था।

धर्म के मामले में मेरे ख़यालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसपर ज्यादा ध्यान नही देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया किया करती थी। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े अदामियों की देखा-देखी उनके तात्कालिक आचरण की कोशिश किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मै उनका रस लिया करता था। कभी-कभी मै अपनी मा या ताई के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और बडे साधू-संन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारिया चलाते थे; दिवाली, रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हज़ारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमें कि जेल में पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें कि स्वाँग और जूलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ घटित घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहनकर बड़ी मसजिद में नमाज के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैंया और दूसरी बढ़िया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वग़ैरा छोटे त्यौहार भी हम हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मनाते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज्यादा दिलचस्पी रहती थी, जिसका खास मुझीसे ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव।

इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराजू में मैं गेहूँ और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीज़े ग़रीबों को बाँट दी जाती और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफे नज़र किये जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मै अपनेको मानो उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है? वास्तव में मैंने इस बात का आन्दोलन खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गांठ के मौक़े बरस में एक बार ही क्यों और अधिक क्यो न आया करें? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्ष-गाँठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बरात भी जाया करते। उस सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थी और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बो के लोग आकर रहते थे और उनमे बहुतेरे लड़के और लड़कियाँ भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौक़ा मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या ग़रीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियो में धूम-धाम और फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं उसकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़ज़ूल-ख़र्ची के अलावा उसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमें न कोई सुन्दरता होती है न कला। (कहना नही होगा कि इसमें अपवाद भी होते है) इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज़ लेकर फ़ज़ूल-ख़र्ची करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी मुफ़लिसी उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमे उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौक़ा मिल जाता है, जो कि उनकी मेहनत-मशक्कत के रेगिस्तान में एक झरने का काम देता है। रोज़मर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते हैं उनको ऐसा कौन निठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और

तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फजूल-खर्ची को आप शौक से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहखर्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ्ज हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तैमाल किये जाते हैं, जिसे ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते है—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-खुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यमश्रेणी के लोगो के लिए भी है। फ़जूल-खर्ची को छोड़ दें तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही है, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनो के बाद मिल जाते है। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है; यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नही है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहाँ शादी के जलसो को लोग इतना चाहते है। एक और चीज़ इसके मुकाबले की है और कुछ बातो में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कॉंग्रेस की बैठके।

और लोगो की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत मे, कश्मीरियो को एक खास सुभीता है। उनमे परदे का रिवाज या मर्द-औरतो को एक-दूसरे से न मिलने-जुलने देने का रिवाज कभी नही रहा है। मैदान में आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबिक, दूसरो से और ग़ैर-कश्मीरियों से जहाँतक ताल्लुक है, उन्होने इस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर मे जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते है, उन दिनो यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होने स्त्री और पुरुषो के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रक्खा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर मे आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियो की दावतो और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते है। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती है, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते है। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की आज़ादी उन्हे नही थी।

इस तरह मेरा बचपन गुज़रा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बो में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब मे भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानो तक पहुँचते। तब वह गुस्सा होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवकूफ़ी के नतीजे है। मै यह तो नही समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है। मगर मै इतना ज़रूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है। क्योंकि लोग एक-दूसरे से बिगड़कर बदमज़गी से बोलते थे और आपस में मिलना टालते थे। ऐसी हालत मे

मैं बड़ा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों का एक छोटा वाक़या मुझे अभीतक याद है। मैं ६–७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज़ घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब, जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके आगे थे। वह रास्ते में मुझे मिले और वे सब मेरे साथ इस तरह पेश आये मानों मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

३

थियोसॉफ़ी

जबकि मै दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रक्खा था। इस मकान में एक बड़ा बाग था और एक तैरने का बड़ा-सा हौज़। वहाँ ज्यों-ज्यों नई-नई चीज़ें दिखाई पड़ती त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मज़दूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मै कह चुका हूँ कि मकान मे तैरने के लिए एक बडा हौज़ था। मै तैरना जान गया और पानी में गिरते मुझे जरा भी डर मालूम नही होता था। गर्मी के दिनो मे कई बार मौका-बे-मौका मै उसमे नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते, वह एक नई चीज़ थी और वहाँ तथा मकान मे बिजली की बत्तियाँ लगाई गई थी। ये इलाहाबाद में उन दिनो नई बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द रहता था और उनमे जो तैरना नही जानते थे उनमे से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खीचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ़ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का क़िस्सा याद आता है, जबकि उन्होने इलाहाबाद-हाइकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नही जानते थे और न जानना ही चाहते थे, वह पन्द्रह इञ्च पानी में पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और क़सम खाने को एक सीढ़ी नीचे नही उतरते थे, और अगर कोई उन्हे आगे खीचने की कोशिश करता तो ज़ोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नही थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कड़ा करके हौज़ के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनो बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मै अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात मे मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का पैदा होना। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मुझे कोई भाई या बहन नहीं हैं जबकि और कइयों के है। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों योरप थे। मुझे याद है कि मै उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी

उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मजाक़ में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की योरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। योरप से लौटने पर उन्होंने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी, पण्डित बिशननरायण दर, जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंगलैण्ड गये थे और वहाँ से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारो ने प्रायश्चित्त भी कर लिया, तो भी पुराने खयाल के लोगो ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी क़िस्म का ताल्लुक़ नही रक्खा। इससे बिरादरी में क़रीब-करीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारक-दल में मिल गये, लेकिन उन सबको विधिवत प्रायश्चित्त तो करना ही पड़ा। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या थी, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नही थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक समूह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफ़ा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामो मे शरीक होते—यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहाँ भी जाते-आते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढे और उन्होने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त को करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा तहल्का मचा, खासकर पिताजी की तेज़ी और किसी क़दर अक्खड़पन के कारण। आखिर कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही साल के अन्दर जैसे-जैसे खयालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियाँ हटती गई, ये सब दल एक में मिल गये। बहुत-से कश्मीरी लड़के-लड़कियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिका पढने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नही हुआ। खान-पान का परहेज करीब-क़रीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगो को, खासकर बडी-बूढी स्त्रियो को, छोड़कर ग़ैर-कश्मीरियो, मुसलमानो तथा ग़ैर-हिन्दुस्तानियो के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जाति-वालो के साथ स्त्रियो का परदा उठ गया और उनके मिलने जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक ज़ोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालो के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत बढ़ा

नहीं है—हालाँकि दिन-दिन बढ़ती पर है। मेरी दोनो बहनों ने ग़ैर-कश्मीरियो के साथ शादी की है और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हंगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज़ धार्मिक दृष्टि से नही, बल्कि ज्यादातर जाति-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के प्रकट चिन्हों को क़ायम रक्खें। उन्हे डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदें तो इन दोनो बातो को खो देंगे। इस विशाल देश मे हम कश्मीरियों की सख्या दरिया में ख़सख़स के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण जिन्होने आधुनिक समय में, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की, वह थे मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपनेको ऐसा ही कहा करते थे)। वह बड़े खूबसूरत और जहीन थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज मे पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फ़ारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होने सैर की और जहाँ कही गये उन्होने अपनी एक-एक शादी की। मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगो के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान मे शाही घराने की एक लडकी से शादी करली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह योरप भी गये थे और तत्कालीन तरुण महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होने अपनी यात्रा का बड़ा रोचक वर्णन और सुन्दर सस्मरण लिखे है।

जब मैं कुल ११ वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ़० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फ़रासीसी या बेल्जियन थी। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफ़ारिश से आये थे। कोई ३ साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातो में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय एक और मेरे शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी, जो मुझे हिन्दी और सस्कृत पढाने के लिए रक्खे गये थे। कई वर्षो की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे कुछ कम पढा पाये थे—इतना थोड़ा, कि मै अपने नाम-मात्र के सस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैने हॅरो मे पढ़ी थी। कुसूर तो इसमें मेरा ही था, भाषायें पढने में मेरी गति अच्छी नही थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही नही थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबे पढ़ने का चाव लगा और मैने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डाली—अलबत्ते बिना किसी उद्देश के। बच्चों और लड़कों सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैने देख लिया था। लेविस केरोल की किताबें और

'दि जंगल बुक्स' और 'किम' मुझे बहुत पसन्द थीं। गस्टेव डोरे के चित्र, जो 'डॉन क्विक्सॉट' में थे, मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फ़िड्जॉफ़ ननसेन की 'फ़ारदेस्ट नार्थ' ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया। स्कॉट, डिकन्स और थैकरे के कई उपन्यास मुझे पढ़े याद है। एच० जी० वेल्स के रोमान्सेज़, मार्क ट्वेन और शर्लाक होम्स की कहानियाँ भी पढ़ी हैं। 'प्रिज़नर्स ऑफ़ ज़ेन्दा' को पढ़कर मुझे रोमाञ्च हो उठा था और जिरोम के० जिरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट' से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। दूसरी किताबें भी मुझे याद हैं। वे हैं ड्रू मॉरियर की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य से भी मुझे दिलचस्पी हो गई थी, जोकि कई परिवर्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने विज्ञान की एक प्रयोगशाला खड़ी करली थी और मैं प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग घण्टों किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

अपनी पढ़ाई के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफ़ी। हर हफ़्ते उनके कमरे में थियोसॉफ़िस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मेरे हृदयंगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'कामशरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व' इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफ़िस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के धम्मपद, पायथागोरस, तयाना के अपोलोनियस और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था। परन्तु वह मुझे बहुत रहस्य-पूर्ण और लुभावना मालूम होता था और मैं खयाल करता था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है। यहीं से ज़िन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ से धर्म और परलोक के बारे में सोचने लगा था। खासतौर से, हिन्दू-धर्म, मेरी नज़र में ऊँचा उठ गया था—उसके कर्म-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं; बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण ज़रूर मालूम होते थे। मुझे 'कामशरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी-बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी साधन के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत साफ और सच्चे मालूम होते हैं और नीचे विशाल विश्व-पटल में सारा जन-प्रदेश

मुझे दिखाई पड़ता है। मै नहीं जानता कि फ्रूड तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होगे।

उन दिनो मिसेज़ बेसेन्ट इलाहाबाद आई थी और थियोसॉफ़ी-सम्बन्धी कई विषयो पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणो से मेरा दिल हिल उठता था और मै चकाचौध होकर घर आता था—अपने-आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने मे हो। मै उस समय १३ साल का था, तो भी मैने थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मै पिताजी से इजाज़त लेने गया तो उन्होंने उसे हँसकर उडा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नही चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दु ख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह मे बहुत बातों मे बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमे आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफ़िकल सोसायटी मे शरीक हुए जबकि मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान मे थी। धार्मिक-विश्वास की बनिस्बत कुतूहल के कारण शायद वह उसके मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमे से हट गये। हॉ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसायटी मे शरीक हुए थे, कायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदो पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मै १३ वर्ष की उम्र मे थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना और खुद मिसेज बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमे कुछ उपदेश दिया और कुछ गूढ़ चिन्हो के बारे मे कहा—जो कि शायद फ्रीमेसनरी ढग के थे। उस समय मै पुलकित हो उठा था। मै थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी डाढ़ी बड़ी उम्दा थी।

३० बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका खयाल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफ़ी के इन दिनो मे मेरा चेहरा स्थिर, गम्भीर और उदास दिखाई पड़ता था, जैसा कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है और थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मै अपने मन मे समझता था कि मै औरो से ऊँची सतह पर हूँ और अवश्य ही मेरा रग-ढग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के-लड़की अपनी संगत के लायक़ न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफ़ी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत ही थोड़े अर्से मे थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमे कोई शक नही कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मै उनका

और थियोसॉफ़ी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये है और ऊंचे व बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते हैं, जोकि खतरे की बनिस्बत आराम को ज्यादा पसन्द करते हैं। शहीदो के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलों पर चलना पसन्द करते है। लेकिन, हाँ, मिसेज़ बेसेन्ट के लिए मेरे दिल मे हमेशा बड़ा आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लड़ाई थी। जापानियों की रोज़-बरोज़ होनेवाली फ़तह से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मैं अखबारों में ताजी खबरें पढ़ने का मुन्तज़िर रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई किताबे मँगाई और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास ने तो मानो मुझे भूलभुलैयां में डाल दिया, लेकिन पुराने जापान की सरदारो की कहानिया मै चाव से पढता और लेफ्केडियो हर्न का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था। मै योरप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावो में डूबा रहता, और बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बांधा करता, कि कैसे हाथ मे तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए लड़ूगा।

मै चौदह साल का था। हमारे घर मे रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बडे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धधो मे लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाये मंडराया करती थी और स्त्रियों के प्रति मेरी दिलचस्पी कुछ बढने लगी थी, लेकिन अब भी मै लडकियो की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था और लडकियो के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता था। कभी-कभी कश्मीरी दावतो में—जहाँ सुन्दर लड़कियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह, उनपर कही निगाह पड़ गई या बदन छू गया तो मुझे रोमाञ्च हो उठता था।

मई १९०५ में, जब मै पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मा, मेरी छोटी बहन, और मै चारो एकसाथ गये।

४

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के अखीर मे हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सूशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन मे आने के कुछ दिनो बाद ही एम० ए० अन्सारी (डाक्टर अन्सारी) से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँ के विद्यालयों में चमत्कारिक सफलता प्राप्त की थी और उन दिनों लन्दन के एक अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हॅरो मे दाखिल होने के लिए मेरी उम्र कुछ बड़ी थी; क्योकि मैं उन दिनो १५ बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो योरप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनो बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नही रहा था। इसलिए मुझे बहुत ही सूना-सूना मालूम पड़ता था और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनो तक नही रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की जिन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में मशगूल रहने लगा. लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल मे यह ख़याल बना रहता कि मै इन लोगों मे से नही हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होगे। कुछ हद तक मै सबसे अलग, अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मै खेलो मे पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मै चमका-चमकाया तो कभी नही, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मै खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू मे तो मुझे नीचे के दर्जे मे भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक्क़ी मिल गई। ग़ालिबन कई बातों में और खासकर आम बातो की जानकारी मे मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था। इसमें शक नही कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज्यादातर सहपाठियों से ज्यादा किताबें और अखबार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने अपने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लड़के बड़े मट्ठे होते है; क्योकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमे अपवाद भी मिले थे, खास कर ऊपर के दर्जों मे।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे नई सरकार की बाबत सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहाँ तक कि मैंने कॅम्बॅल-ब्रॅनरमन के मंत्रि-मण्डल के सदस्यो की क़रीब-क़रीब पूरी फेहरिस्त बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी, वह था हवाई जहाज़ों की शुरुआत। वह ज़माना राइट ब्रदर्स और सान्तोस डयूमों का था। इनके बाद ही फौरन फ़र्मन, लैथम और ब्लीरियाट आये। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हवाई-जहाज द्वारा उडकर हफ्ते के अखीर में आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

इन दिनों हॅरो मे चार या पॉच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहनेवालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था। लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोक-प्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँ से चले गये। पीछे महाराजा कपूरथला के बड़े लड़के परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब है। वहाँ उनका मेल बिलकुल नही मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़को से बिलकुल नहीं मिलते-जुलते थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीको का मज़ाक उडाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हे देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस घुडकी का कोई अच्छा असर नही होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस मे रह चुके थे और फ्रान्सीसी भाषा मे धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेजी पब्लिक स्कूलों मे विदेशी भाषाओ के सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नही आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब यकायक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमें मालूम हुआ कि परमजीत-सिंह की सोने की मूंठ की खूबसूरत छड़ी खो गई है। तलाशी मे वह नही मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह छड़ी उनके मकान में रक्खी मिली। ज़ाहिर है कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मजे में बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह में उनके खिलाफ़ भाव ज़रूर काम करता था कि ये लोग "बदमाश यहूदी" है और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजान में, मै भी यही सोचने लगा कि इनसे नफ़रत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियों के खिलाफ़ कभी कोई भाव न था और अपने जीवन में आगे जाकर यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मै हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मै यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खीच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं उनसे मै बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेज़ी अखबारों में बहुत ही कम खबरे मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में—बगाल, पजाब और महाराष्ट्र में—बडी-बडी बातें हो रही है। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पडता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन सब बातों से मेरे ऊपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो मे एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मै इस बारे मे बातें कर सकता। छुट्टियो मे मै अपने कुछ चचेरे भाइयो तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और तभी मुझे अपने जी को हलका करने का मौका मिला।

स्कूल मे अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला वह जी० एम० ट्रिवेलियन की गैरिबाल्डी-विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैने फौरन ही इस माला की बाकी दो किताबें भी खरीद ली और उनमें गैरिबाल्डी की पूरी कहानी बड़ी सावधानी के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान मे भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन मे इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह-से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तग जगह मालूम होने लगी, और मै विश्व-विद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र मे जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ़ दो बरस रहकर वहाँ से चला गया। यह दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मै हॅरो से खुद अपनी मरज़ी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया तब मुझे बड़ा दु:ख हुआ और मेरी आँखों में आँसू आ गये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहाँ

से सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आ जाता है कि हॅरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था ? क्या कुछ हदतक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था, क्योंकि हॅरो की परम्परा और उसके गीत के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था ? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपनेको बचा नहीं सकता था, क्योंकि उस स्थान के साथ अपना मेल बिठा सकने के ख़याल से मैंने उनका विरोध कभी नहीं किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू में मैं केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलिज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र १७ या १८ बरस के करीब थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुक़ाबिले में यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के बन्धनों से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आखिर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और अगर कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा। ये तीनों साल शान्ति-पूर्वक बीते; इनमें किसी प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे धीमी-धीमी बहनेवाली कॅम नदी की तरह चले। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र; परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक महदूद न थी। केम्ब्रिज या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से बहुत-से ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में विद्वत्तापूर्वक बात-चीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुईं, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसीके बारे में अपना घोर अज्ञान जाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे और बर्नार्ड शॉ की भूमिकाओं तथा लॉवेज़ डिकिन्सन की नई-से-नई पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बड़ा चलता-पुर्जा समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़ी शान के साथ बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ईवान ब्लॉक, हैवलोक एलिस, क्राफ्ट एबिंग और ओटो वीनिंगर के हवाले देते जाते थे। हम लोग यह महसूस

करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में, विशेषज्ञों को छोड़कर, साधारणतः जितना जानने की जरूरत है उतना हम जानते हैं।

वास्तव मे, हम बातें जरूर बढ़-बढ़कर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी बहुत बरसों तक, केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यो था, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था और मुझे इस बात मे सन्देह है कि उनके सहवास में हममें से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मै उसमें कोई पाप नही समझता था। मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नही थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से। वह तो इन आचारो से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आम तौर पर जिन तरीको से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रक्खा। उन दिनो मै निश्चित-रूप से एक झेंपू लड़का था। शायद यह इसलिए हो कि मै बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अंश तक ऑस्कर वाइल्ड और वाल्डर पेटर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की ज़िन्दगी की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा बडा नाम देना है तो आसान और तबीयत को खुश करनेवाली बात, लेकिन मेरे मामले मे इसके अलावा कुछ और बात भी थी; क्योंकि मै खास तौर पर आराम की ज़िन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धर्म के दमनकारी बन्धनो को मै पसन्द नही करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मै किसी दूसरे स्टैंडर्ड की खोज करता। उन दिनों मै सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नही जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढंग से उसका उपभोग तो मै नही करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यों समझूँ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। अपने पिताजी की तरह मैं भी हमेशा कुछ हदतक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाज़ियों का—जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं का। १९०७

तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की जिन्दगी तो बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब मिश्रित और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छायें मेरे मन में अजीब खिचड़ी पकातीं, एक भँवर-सी पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थीं। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि इनका फ़ैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शरीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीज़ें देखनी थीं, इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी। जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात में आपस में बाते तथा विचार-विनिमय करते—उस समय तक जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमें जाड़े से कँपाकर बिछौने पर भेज न देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज़ मामूली न रहकर तेज़ हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनों हम लोग जीवन की समस्याओं के साथ गम्भीरता के स्वाँग करके खेलते थे; क्योंकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्यायें न हो पाई थी और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नही फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था—इसलिए कि इससे ऐसे दूसरे संसार को जगह मिले जो दुनिया के युवको के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा दिली रंज से भरा हुआ हो। लेकिन उन दिनों यह ससार भविष्य के परदे मे छिपा हुआ था और हमे अपने चारों तरफ़ एक सुनिश्चित तथा उन्नतिशील व्यवस्था दिखाई देती थी जो उन लोगों के लिए, जो उसमे रह सकते थे, आनन्दप्रद थी।

मैने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन अन्य अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनो मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भली-भाति साफ़ तौर पर विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट तरंगें-मात्र थी जो मेरे मन में उठा करती थी और जिन्होंने अपने इसी दौरान में अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान से मैं उन दिनों बिलकुल परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी जिन्दग़ी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज़ ऐसी ज़रूर थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राज-

नैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक असर डाला उनमें मेरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और योरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानों उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक के कार्य-कलाप और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञायें ले रही थी उनसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम दल के थे। हिन्दुस्तान मे यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था मजलिस। इस मजलिस में हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसे कुछ हद तक बेवजूद थीं। इसमें पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस मे जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मै अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नहीं कर सका। कॉलेज में "मैग्पाइ और स्टम्प" नाम की जो वाद-विवाद की सभा थी उसमे भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेग, और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो पीछे जाकर भारत-मन्त्री हो गये थे, बहुत बार इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेन्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हींसे सुनी। जिस बात के बारे मे तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमे विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्धश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञान के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को ला-कलाम समझता था वैसे ही समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं शदी के शुरू के विज्ञान को आजकल के विज्ञान के बखिलाफ़ अपने निर्णयों की बाबत और ससार की बाबत बड़ा इतमीनान था।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर बहस करते

हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी अक्सर बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहाँ तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ कर जाते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाइकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर वकील तथा ऐसे ही लोग बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलो में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों के पास आने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानों हम उनसे बड़े है। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी शिक्षा-दीक्षा उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और हम चीज़ों को उनके व्यापक रूप में देख सकते थे। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपने बैठने के एक कमरे में मिले। वहाँ हम सिर्फ़ एक दर्जन के क़रीब थे। लेकिन उन्होने इतने ज़ोर-ज़ोर से बातें की मानों वह दस हज़ार की सभा मे भाषण दे रहे हो। उनकी आवाज़ इतनी भारी थी कि मै उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र के मुक़ाबिले में मुझे लालाजी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए, क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज मे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ़ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँ तक कि हममें से बहुतो को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था।

हिन्दुस्तानियों मे हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुँचने से कुछ पहले आक्सफ़ोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मै उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों मे से कई ऐसे निकले जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक़अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इन दिनों इलाहाबाद-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस हैं, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे।

मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इण्डियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में ही गया। कभी-कभी हमें उनका 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में, श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेबें 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं और वह प्रायः हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इण्डिया-ऑफ़िस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियो के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुतसे हिन्दुस्तानियों को बरदाश्त करना पड़ता था, चाहे मन से हो या बेमन से, क्योंकि उसकी सिफ़ारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय मे दाखिल होना ग़ैरमुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने मेरे पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नही था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटो में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें से बहुत-से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ़ेस का सभापतित्व भी किया था और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम-दलवालों की तीव्र आलोचना की थी। वह संयुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के सभापति भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त मे सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डबलू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की खातिर-तवाजो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज़ कतई ग़लत था; क्योंकि पिताजी अपनी राजनीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी दूर भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विकारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की

क्रान्ति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे और गरम-दल के सख्त खिलाफ़ थे, हालांकि मेरा खयाल है कि वह तिलक की तारीफ़ करते थे।

ऐसा क्यों था ? क़ानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता-जाता नहीं जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नजदीक में दिखाई नहीं देती थी। उनको यह नहीं मालूम होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा इन आन्दोलनों की पुश्त में वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुतसे पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पांत वग़ैरा को, वह क़तई नापसन्द करते थे और उन्हें उन्नति-विरोधी मानते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है।

१९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके कि वे आंशिक प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वह जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य जोड़कर पिताजी ने आक्रामक ढंग अख़्त्यार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम-दलवाले नौजवान थे और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफ़िक़ काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे, जिन लोगों को वह बेवकूफ़ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। और इसलिए वह जब कभी मौक़ा मिलता उनपर टूट पड़ते थे।

मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड़ देने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक गुस्ताखाना खत लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कारंवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होंने क़रीब-क़रीब यहाँ तक सोच लिया था, कि मुझे फ़ौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज में रहता था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कॅरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनों तक उसमें एक खास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, इसलिए वह विचार छोड़ दिया गया। मेरा खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पडता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं २० बरस का था और उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस के उम्र की मियाद २२ बरस से लेकर २४ बरस तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड मे एक साल और बिताना पडता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्द ही घर लौट जाऊँ। मेरे पिताजी पर एक बात का और भी जोर पड़ा, और वह बात यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और मा दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मे उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति मे गरम-दल की ओर झुकाव बढता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी क़ानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा, हाँ; उसमें मुझे न तो सम्मान मिला न अपमान। बाक़ी वक्त मैंने यों ही

बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ी, फैबियन और समाजवादी विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी हुई। आयर्लैण्ड के और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलन मे मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयर्लैण्ड गया तो सिनफ़िन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ़ खींचा था।

इन्ही दिनों मुझे हैरो के पुराने दोस्तों के साथ रहने का मौक़ा मिला और उनके साथ मेरी आदतें खर्चीली हो गईं। पिताजी मुझे खर्च को काफ़ी रुपया भेजते थे, लेकिन मै अक्सर उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था। इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो गई थी और उन्हे अन्देशा हो गया कि कही मैं बुरे रास्ते तो नही पड़ गया हूँ। परन्तु मैं दरहक़ीकत ऐसी कोई खास बात नही कर रहा था। मै तो सिर्फ़, उन खुशहाल परन्तु कुछ हद तक खाली-दिमाग अंग्रेजों की नक़ल-भर कर रहा था जो 'मैन अबाउट टाउन' कहलाते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश-हीन आराम-तलबी की ज़िन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नही हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और खाली एक चीज जो बढ़ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी योरप के जुदा-जुदा देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउन्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कौन्सटेन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर बर्लिन आये तब मै और पिताजी दोनो वही थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उडान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी खुशी मनाई गई और खुद क़ैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलॉफ फ़ील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ठीक समय पर आकर बड़ी वज़ादारी के साथ हमारे आसपास चक्कर लगाने लगा। एडलॉ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउन्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेट किया था। वह चित्र अबतक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले लगाये। मेरा खयाल है कि उड़ाके का नाम काम्टे डि लैम्बर्ट था। अठारह बरस बाद जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया था तब भी मैं वहाँ था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मैं सैर-सपाटे के लिए नारवे गया हुआ था तब मै बाल-बाल बचा। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे-से होटल में अपने मुकाम पर पहुँचे

और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज के या मुंह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटल ने हमें उदारतापूर्वक प्रदान किये थे, सुसज्जित होकर हम में से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज, पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफ़ानी धारा में जा पहुँचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पैर जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी। मैं फिसल कर गिर गया। बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, मेरे पैर जम न सके, तूफानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरा अंग्रेज़ साथी किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागने लगा और अन्त में किसी तरह मेरा पैर पकड़ने में कामयाब हुआ और मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें यह मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे मे थे, क्योंकि हमसे दो-तीन सौ गज की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज़ थी।

१९१२ की गरमी मे मैंने बैरिस्टरी पास करली और उसी साल शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंगलैंड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनो में दो बार मैं घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे शक है कि जब मैं बम्बई में उतरा तो कुछ ऐसा अभिमानी-सा था कि मेरे क़द्र किये जाने की बहुत कम गुंजाइश थी।

५

हिन्दुस्तान की युद्धकालीन राजनीति

१९१२ के आख़िर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत सुस्त था। तिलक जेल में थे, गरम दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी कारगर नेतृत्व के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गई थी और सरकार को कौंसिलों की मिन्टो-मॉरले योजना के मातहत माडरेटों को अपनी तरफ खींचने में पूरी तरह क़ामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतीयों की समस्या के बारे में, खास तौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी ज़रूर थी। कॉंग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल भर में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिन की छुट्टियों में मै डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कॉंग्रेस मे शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का मजमा था, जिसमें सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्तरी किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुत: वह एक प्रकार का सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक उत्तेजना या खींचा-तानी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमे शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख पुरुष वही थे। उनकी तेज-स्विता, उनकी सचाई और उनकी शक्ति से वहां आये उन थोड़े-से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मेरे ऊपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना हो गई। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हे अपने लिए एक फर्स्ट-क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इस-लिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कॉंग्रेस के अधिवेशन के बाद वह उत्सुक थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद भूपेन्द्रनाथ वसु, जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर

हुए, गोखलेजी* के पास गये और यों ही बातचीत में उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूँ ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि बसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट बाद बसु फिर श्री गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट में चले चले तो आपको तकलीफ़ तो न होगी ? गोखले ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले बसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ और हम दोनों नीचे की दोनों बर्थों पर सो जायँ। मेरा ख़याल है कि अन्त में यही हुआ और बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी।

मैं हाइकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। योरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाकातों को ताज़ा कर लेने से ख़ुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगो के साथ-साथ, मुझे जिस तरह की ज़िन्दगी बितानी पडती थी, उसकी सब ताज़गी गायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश-हीन जीवन की नीरस खाना-पूरी मे ही फँस रहा हूँ। मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से जो असन्तोष था उसके लिए मैं समझता हूँ कि मेरी दोग़ली या कम-से-कम खिचड़ी शिक्षा जिम्मेदार थी। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की ज़िन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनायें बन गई थी वे जिन चीज़ों को मै यहाँ देखता था उनसे मेल नही खाती थी। सौभाग्य से मेरे घर का वायु-मण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना भी काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो आम तौर पर उन्ही क़ानूनी पेशे सम्बन्धी पुराने विषयो पर ही बार-बार बाते करते थे। निस्सन्देह यह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ स्फूर्ति मिले और मेरे मन में जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। वहाँ विनोद या प्रमोद की बातें कहने को भी न थी।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही मे लावेज डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमे उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि, "ये दोनों जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से क्यों नहीं मिल सकतीं ? महज़ इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अँग्रेज ऊब जाते हैं; यही सीधा और कठोर

सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुतसे अंग्रेज यही महसूस करते हों और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। दूसरी पुस्तक में फ़ॉर्स्टर ने कहा है, कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज यही महसूस करता है और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह जीते हुए देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असंभव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा महसूस करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनो ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें खुशी होती है और वे आजादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वभाविक रूप में चलने-फिरने लगते हैं।

आम तौर पर अंग्रेज उन एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उससे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इनमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त होकर तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ्तर में, दिन-भर हमेशा चक्कर लगाती रहनेवाली अथाह और अनन्त फाइलों में, सिर खपाने के बाद ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँ से अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहाँ व्हिस्की पीते हैं तथा इंग्लैंड से आये हुए 'पंच' आदि सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं। किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस क्रमशः मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहाँ की आबोहवा को कोसते हैं और आम तौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं जो उनकी दिक्क़तें बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

इतनी छुट्टियाँ और फर्लो मिलने पर भी जब अंग्रेज हाकिमों की यह हालत है तो हिन्दुस्तानी अफ़सर जो उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे

हो सकते हैं, क्योंकि वे तो अंग्रेजी नमूने की नकल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज हाकिमों के पास बैठकर तरक्की, छुट्टी के क़ायदों, तबादलों और नौकर तथा नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियों वग़ैरा के किस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबरानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरों को छोड़कर बाक़ी सब जगहों में इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्य श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की जिन्दगी पर, खास तौर पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया है। पेशेवर लोग—जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी—उसके शिकार हो गये, और अर्द्धसरकारी विश्वविद्यालयों के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से क़तई कोई ताल्लुक नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक महदूद थी। बंगाल में १९०६ के राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने ज़रा इस वस्तुस्थिति को झकझोर कर बंगाल के मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों में और कुछ हद तक जनता में भी नई जान डाल दी। आगे चलकर गांधीजी[१] के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेजी से बढ़ने को था।

१. मैंने इस पुस्तक में सब जगह महात्मा गांधी के बजाय गांधीजी लिखा है, क्योंकि वह खुद 'महात्मा गांधी' के बदले 'गांधीजी' कहा जाना पसन्द करते हैं। परन्तु अंग्रेज़ लेखकों के लेखों व पुस्तकों में मैंने इस 'जी' की विचित्र व्याख्यायें देखी हैं। कुछ ने कल्पना कर ली है कि वह प्यार का शब्द है और गांधीजी के मानी हैं, 'नन्हे से प्यारे गांधी'। यह बिलकुल वाहियात है और इससे यही मालूम होता है कि ऐसा लिखनेवालों को भारतीय जीवन के बारे में कितना अज्ञान है। हिन्दुस्तान में 'जी' एक सबसे ज्यादा मामूली शब्द है जो मर्द, औरत, लड़के, लड़की, बच्चे सबके नाम के आगे अन्धाधुन्ध लगा दिया जाता है। उसमें सम्मान का भाव ज़रूर रहता है, जैसे कि 'मिस्टर' और 'मिसेज़' में रहता है। दरबारी मुहावरों में और नामों के आगे-पीछे के शब्दों तथा सम्मान्य उपाधियों में हिन्दुस्तानी भाषा बहुत भरपूर है। 'जी' बिलकुल शुद्ध होते हुए भी इन सबसे ज्यादा सरल और घरेलू है, हालांकि अपने बहनोई रणजीत एस० पण्डित से मुझे मालूम हुआ कि 'जी' की वंश-परम्परा बहुत पुरानी तथा प्रतिष्ठित है। वह संस्कृत के 'आर्य' शब्द से (नाज़ियों का आर्यन नहीं) निकला है जिसके मानी हैं सज्जन या कुलीन। प्राकृत में यही आर्य 'अज्ज' हो गया। उससे सरल 'जी' निकला।

परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त होता है और वह अपनेमें इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंगलैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में, मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नही था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ़ आक्रमणकारी राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता। फिजी में हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतियों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ़ यानी ऐसे खास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन खड़ा होता तो मैं अपनी पूरी ताक़त से उसमें जुटकर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामो में मैंने अपना जी बहलाना चाहा, लेकिन उनकी तरफ मेरी खास रगबत या झुकाव न था। बाहर जाना और जंगलों में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मै कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारू। सच बात तो यह है कि मै जानवरो को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोडा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरो पर गिर पडा और अपनी आँसूभरी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ देखने लगा। तबसे उन आँखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नही सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज्जत थी; क्योकि उन्होंने निर्वाह मात्र पर अपने-को स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक ऐसी समिति है जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधे काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

मगर एक छोटे-से मामले में, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, श्री

श्रीनिवास शास्त्री ने मेरे दिल को बड़ा धक्का पहुँचाया। वह इलाहाबाद में विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण दे रहे थे। उन्होने विद्यार्थियों से कहा कि अपने शिक्षकों और प्रोफ़ेसरों की इज्ज़त करो, उनकी आज्ञा मानो और वैध अधिकारियों द्वारा जो क़ायदे-क़ानून बना दिये जायँ उनका सावधानी के साथ पालन करो। उनकी ये भली-भली बातें मुझे ज़रा भी पसन्द न आईं। ये सब पुरानी और मामूली बातें थी और सो भी अवाञ्छनीय; क्योंकि उनमें सत्तावाद पर अधिक ज़ोर दिया गया था। मैंने सोचा कि शायद यह इसलिए हो कि हिन्दुस्तान में अर्द्ध सरकारी वातावरण फैला हुआ है। मगर श्री शास्त्री ने आगे बढकर विद्यार्थियों को आदेश दिया कि वे एक-दूसरे के अकर्मों और कुकर्मों की रिपोर्ट अधिकारियों को तुरन्त करदें। दूसरे शब्दों में वे एक-दूसरे का भेद लेते रहें और भेद देनेवालों का काम करें। यद्यपि श्री शास्त्री ने इन सख्त शब्दों का व्यवहार नही किया था, लेकिन मुझे उनके मानी साफ़ दिखाई दे रहे थे। मैं एक बडे नेता की इस दोस्ताना सलाह को सुनकर दंग रह गया। मैं उन दिनों नया-नया ही इंग्लैण्ड से लौटा था, और वहाँ मेरे स्कूल व कॉलेज में मेरी जिस शिक्षा पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया गया था, वह यही थी कि अपने साथी के साथ कभी विश्वासघात मत करो। सौजन्य के नियमों के खिलाफ इससे बड़ा पाप और कोई न था कि आप छिपकर सुनें और भेद देकर अपने साथी को विपत्ति में डालें। इस सिद्धान्त को यकायक इस तरह सोलहों आने उलटा जाता देखकर मुझे बहुत बेचैनी हुई और मैंने यह अनुभव किया कि मुझे जो सदाचार सिखाया गया है उसमें और श्री शास्त्री के सदाचार में ज़मीन-आस्मान का अन्तर है।

विश्व-व्यापी महा-युद्ध मे हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नही पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी बीभत्सता का पूरा रूप अनुभव भी नहीं किया। राज-नीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। ब्रिटिश डिफ़ेन्स आफ़ रिएल्म एक्ट की तरह जो भारत-रक्षा नामक क़ानून बना था, वह देश को ज़ोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यन्त्रों की और गोलियों से मारे जाने की खबरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन भरती की खबरें सुनाई देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे तो भी अंग्रेज़ों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरें सुनकर माडरेट और गरम-दलवाले दोनों को ही खुशी होती थी। यह नहीं कि किसीको जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे प्रभुओं को नीचा देखना पड़े।

असल में यह ऐसा ही खुशी का भाव था, जैसा कमज़ोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपनेसे ज़बरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर होता है। मेरा खयाल है कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिश्रित भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्स के साथ थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से बेहयाई के साथ जो प्रचार लगातार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफ़ी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेन्ट ने होमरूल-लीगें कायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने खास तौर पर मिसेज़ बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिन-दिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों मे कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल मे बिजली-सी दौड़ गई और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों का दिल फड़कने लगा। नज़दीक भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीद करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश-भर में होमरूल-आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल-लीगों में न सिर्फ वे पुराने गरम-दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से बाहर रक्खे जाते थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों मे से बहुत-से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लीगों ने छुआ तक नहीं।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से बुड्ढों में खलबली मच गई, जिनमें कई माडरेट लीडर भी थे। मुझे याद है कि नज़रबन्दी से कुछ दिन पहले तक अखबारों में श्री श्रीनिवास शास्त्री के वक्तृत्वपूर्ण भाषणों को पढ़कर हम लोगों के दिल कैसे हिल जाते थे। लेकिन नज़रबन्दी से ठीक पहले या उसके बाद से श्री शास्त्री चुप हो गये। जब काम का वक्त आया तब वह हमे बिलकुल छोड़ गये और एक ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा नेतृत्व की ज़रूरत थी, उनकी चुप्पी पर हममें बहुत मायूसी और नाराज़गी फैली। तबसे मेरे दिल में यह विश्वास घर कर गया है कि श्री शास्त्री कर्मवीर नहीं है और संकट-काल उनकी प्रतिभा के अनुकूल नही पड़ता।

लेकिन दूसरे माडरेट लीडर आगे बढ़ते गये। उनमें से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे वहीं डटे रहे। मुझे याद है कि यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के ढंग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग के लोगों में से जिस नये इण्डियन डिफेंस फ़ोर्स का संगठन कर रही थी, उनके बारे में बड़ी बहसे होती थीं। कई मामलों

में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फ़ोर्स के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के साथ किया जाता था, और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जबतक ये सब अपमान-जनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय तबतक हमें इस फ़ोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद आखिर हम लोगों ने संयुक्त-प्रान्त में सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों से भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फ़ोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्ज़ी भेज दी और उस तजवीज़ को बढ़ाने के लिए हम लोगों ने इलाहाबाद मे एक कमिटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी हुई और उस क्षण के जोश में मैंने कमिटी के मेम्बरों को, जिनमें पिताजी, डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दें और सरकार की नज़रबन्दी वाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले मे दूसरे सब काम भी बन्द करदें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लड़ाई के वक़्त मे ऐसा लड़ाकू काम करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होमरूल-लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद इन माडरेट नेताओ में से कुछ ने होमरूल-लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। मेरे पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद वाली शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटो की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति, जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिक़ारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के खिलाफ़ बगावत करती थी; परन्तु पुराने गरम-दल के नेता उन्हे आकर्षित नही करते थे। उनकी भाषा और उनके ढंग उन्हें कर्ण-कटु मालूम होते थे। मिसेज बेसेन्ट की नज़रबन्दी की घटनाओं का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटो के तरीक़ों से कुछ नहीं हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता तबतक दूसरा भी कोई कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आपमे से तेज़-से-तेज़ के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर मे आल-इंडिया कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग में वह ज्वाइण्ट कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईस्वी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से

पिताजी बड़े खुश हुए; क्योंकि इससे सम्मिलित उद्योग का रास्ता खुल गया । उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियों से बिगाड़कर भी हमारे साथ चलने को तैयार थे । भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मान्टेगु ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया उसके पहले और दौरे के दर्मियान माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे । लेकिन मान्टेगु-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया । १९१८ में लखनऊ में सूबे की एक विशेष कान्फ्रेंस हुई । पिताजी इसके सभापति थे । इसी-में वह, सदा के लिए, माडरेटों से अलग हो गये । माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस मान्टेगु-चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के ख़िलाफ़ कड़ा रुख़ अख़्त्यार करेगी । इसलिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया । इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होने बायकाट किया । तबसे अबतक वे काँग्रेस से बाहर है ।

माडरेटो ने जो ढंग अख़्त्यार किया वह यह था कि वे काँग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जलसों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें और बहुमत के ख़िलाफ़ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रक्खें और न उसके लिए लड़ें । यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ । मेरा ख़याल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम ख़याल था, और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्राय: सोलहों आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ । मेरा ख़याल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो काँग्रेस के शुरू के उन कुछ जलसों मे भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा । इसकी बदौलत पब्लिक की निगाह मे उनकी इज्ज़त बढ़ गई ।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मै आम सभाओं मे व्याख्यान देने से बचा रहा । अभीतक मुझे पब्लिक में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी । कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेज़ी में तो होने नही चाहिएँ और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था । मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूं । सम्भवत: यह १९१५ में हुआ । लेकिन तारीख़ के बारे में मैं ठीक-ठीक नही कह सकता । इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या यह तरतीब भी मुझे साफ़-साफ़ याद नहीं है । प्रेस का मुँह बन्द करनेवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें

मुझे यह मौक़ा मिला था। में बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेज़ी में। ज्यों ही मीटिंग खतम हुई मुझे इस बात से बड़ी सकुचाहट हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं; बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ़ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दर-असल महज़ व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुतसे नौजवानों को, यह भी आशा थी कि डॉक्टर सप्रू मुमकिन है कि राजनीति मे कुछ आगे कदम रक्खें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा संभावना थी; क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुकाबले में पिताजी बहुत ठडे मालूम होते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफ़ी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गई थी, और कुछ वक्त के लिए हमे सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदें थी। इसमे तो कोई शक नहीं कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ़ खीचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करते तथा उनपर यह ज़ोर डालते थे कि वह ज़ोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करें।

उस ज़माने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था—उसकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ जो मेरा बढ़ता हुआ झुकाव था उसे पिताजी बड़े गौर से देख रहे थे; खास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियों को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी लगातार माँग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ नहीं दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ़ जा रहा हूँ जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख्त्यार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ न था। हाँ, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप नहीं बरदाश्त करना चाहिए, और कुछ-न-कुछ ज़रूर करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख्त्यार

किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी न अपनाते। आगे रक्खे जानेवाले हरेक क़दम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई क़दम आगे रख देते तब फिर पीछे पैर नही हटाते थे। उन्होंने आगे जो क़दम बढ़ाया वह किसी उत्साह के झोके में नहीं बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एकबार आगे क़दम रख लेने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त मे १९१९ में पंजाब में जो दुःखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका और उन्होंने गाँधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नही कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकायें उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नो पर शान्ति-पूर्वक बात-चीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बात-चीत में वह गुस्सा हो जाते और हमें बात जहाँ-की-तहाँ खतम कर देनी पड़ती।

मै गाँधीजी से पहले-पहल १९१६ मे बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ़्रीका मे उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होने थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बाँध रक्खा था। इसके बाद ही चम्पारन मे निलहे गोरों से होनेवाले किसानों के दु.ख दूर करने में उन्होने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार हैं और उससे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई

वक्तृत्वपूर्ण भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनों के गोलमोल समाजवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ में रौजर केसमेण्ट ने अपने मुकदमे में जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमें यह बताया कि गुलाम जातिवालों के भाव कैसे होने चाहिएँ। आयर्लैण्ड में ईस्टर के दिनों में जो बग़ावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ़ खींचा; क्योंकि क्या वह सच्चा साहस नही था, जो निश्चित विफलता पर हंसता हुआ संसार के समाने यह ऐलान करता था कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नही कुचल सकती?

ये ही उन दिनों मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबों के पढ़ने से मेरे दिमाग में समाजवादी विचारों के अंगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनों वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नही थे जितने कि दयापूर्ण और हवाई थे। युद्धकाल मे तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रन्ड रसल के लेख तथा ग्रंथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारों और इच्छाओं से मेरे मन का भीतरी संघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया। यों मै उसे चलाता रहा; क्योंकि उसके सिवा मै करता भी क्या? लेकिन मै अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि, एक ओर ख़ास तौर पर आक्रामक ढंग का सार्वजनिक कार्य है, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालत का पेशा, ये दोनो एकसाथ निभ नही सकते। सवाल सिद्धान्त का न था, लेकिन समय और शक्ति का था। न जाने क्यों कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय मे बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खास तौर पर उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मै अपने पसन्द के किसी कानूनी विषय पर एक किताब लिखूं। क्योंकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपनेको 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में वह मुझे विचारों की भी मदद देंगे और उस किताब का संशोधन भी कर देगे। लेकिन मेरे वकील के जीवन में उनकी यह सब दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली इससे बढ़कर और कोई चीज नही हो सकती थी कि मै क़ानूनी किताब लिखने मे अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गये थे। फ़ौरन ही उन्हे गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिलकुल

अनाकर्षक नही मालूम होती थीं। एक मर्तबा में और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा खयाल है कि यह बात १९१८ की है, ठीक उस समय की जब कि माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आई थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें तथा एक-दूसरे पर हमला करने लगे; क्योंकि वे राजनीति में भिन्न-भिन्न फिर्कों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वह कपोत की तरह कोमल और माडरेटों के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन मे मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी उसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे? वह ज़ोर से बोले कि गोखले पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मैं किसी को उनके खिलाफ एक भी शब्द नही कहने दूंगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नही लगा, लेकिन उन्होने कोई नाराजगी नहीं दिखलाई। ज़ाहिर है कि वह शास्त्रीजी के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले मे तिलक की तारीफ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा है।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मै महात्माओं से नफरत करता हूँ। मै उनसे कोई वास्ता नही रखना चाहता।"

६

मेरी शादी और हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली मे, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो घाटी में छोड़ दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा तथा लदाख रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकीर्ण और निर्जन घाटियों में घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती हैं। जोज़ीला-घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ़ खाली कड़ी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकड़ी तह के ऊपर चढते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बरफ़ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थी और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशर—हिम-सरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी। लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ़ थी कि अक्सर हमें चीजों की दूरी के बारे मे भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थी, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ नंगी चट्टान और बरफ़ और हिम और कभी-कभी कुछ खुशनुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इस जंगली और सुनसान निवासो में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा मे मुझे एक बड़ा स्फूर्त्तिदायी अनुभव हुआ। जोज़ीला-घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मतायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से सिर्फ़ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच मे बुरी तरह हिम व बरफ से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या है? तजुर्बे के अभाव मे भी जोश में आकर हमने तय किया कि हम गुफा तक पहुँचने की कोशिश करेंगे। अतः हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ११ हज़ार ५०० फीट की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गड़रिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई हिम-सरोवरों पर चढ़कर उन्हें पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं और सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ भारवाहियों के मुँह से खून निकलने लगा, हालांकि उनपर बोझ बहुत नहीं था। इधर बर्फ पड़ने लगी और हिम-सरोवर भयानक रूप से रपटीले हो गये। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक क़दम आगे बढ़ने के लिए खास कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खतापूर्ण उद्योग करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद हमें एक सुविशाल हिम-क्षेत्र देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत-चोटियां थी। मानों देवताओं का कोई मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताज़ा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नही कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई १५-१६ हजार फीट की ऊँचाई पर जरूर होंगे, क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमे इस हिम-क्षेत्र को, जो सम्भवत: आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढाई खत्म होने से हमारी मुश्किले भी खत्म हो गई होंगी इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते-हँसाते यात्रा की यह मंजिल भी तय करना शुरू किया। लेकिन इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि यहाँ दरारें बहुत-सी थीं और ताज़ा गिरने-वाली बरफ खतरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नई बरफ ने ही मेरा क़रीब-क़रीब खात्मा कर दिया होता। क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रक्खा त्योंही वह धसक गई और मैं धम से नीचे एक विशाल दरार में, जो मुँह बाये हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज उसमे बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियो की खोज के लिए इतमीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन रस्सी नही छूटी और मैं दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगो के होश तो ढीले हो गये थे। पर फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारो की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गईं। इनमें से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मादे हताश होकर लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊँची-ऊँची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एकबार फिर वहाँ जाने का संकल्प किया। मैंने कई योजनायें सोची और कई यात्राओं के मनसूबे बांधे और उनमें से एकके तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना

न रहा। वह थी तिब्बत की आश्चर्यमयी झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलाश। यह अठारह बरस पहले की बात है और मै आज भी कैलाश तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले कभी था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही। लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया। पहाड़ों पर चढ़ने या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही संतोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मै वहाँ जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूँ, क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता। इसके अलावा, जेलों में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अत. मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मै हिमालय पर चढ़कर उसे पार करूंगा और उस झील तथा कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूंगा। परन्तु इस बीच में जीवन की घड़ियाँ बीतती जा रही है, जवानी अधेड़पन मे तबदील हो रही है, और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बुड्ढा हो जाऊँगा कि कैलाश और मानसरोवर जा ही नही सकूँगा; परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-श्रृंगो की पड़ती छाया—
साध्य-गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलको पर बैठे अकुलाते,
शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता![1]

१. वाल्टर डि ला मेअर के एक पद्य का भावानुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है:—

"Yea, in my mind these mountains rise,
Their perils dyed with evening's rose;
And still my ghost sits at my eyes
And thirsts for their untroubled snows."

७

गांधीजी मैदान में : सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध खतम हुआ तबतक हिन्दुस्तान का जोश-खरोश दब चुका था। उद्योगवाद फैल गया था और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को लगाने के लिए मौके और सत्तायें मिलें ताकि वे ज्यादा दौलतमंद हो जायँ। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम-वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ ज्यादा अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जो कि शान्तिमय और बिल्कुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन व स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता में भी, और खासकर किसानों में भी, दिखाई पड़ते थे। पंजाब के देहाती इलाकों में जबरदस्ती रंगरूट भर्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभीतक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारूवाले तथा दूसरे लोगों पर षड़यंत्र के मुक़दमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढ़ा दिया था। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख़्तियार किया गया उसपर, गुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नहीं हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहाँ दूसरी ओर इन्तजार भी कर रहे थे।

सारे देशभर में इन्तजार और आशा की हवा ज़ोरों पर थी। लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल का दौर हुआ, जिसमें क़ानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सज़ा देने की धारायें रक्खी गई थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उसका स्वागत किया था। यहाँतक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उसका विरोध

किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक-स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उसको तुरत-फुरत क़ानून बनवा ही डाला। और खास रिआयत, पूछो तो, यह की गई कि उसकी मीयाद महज़ तीन वर्ष की रखदी गई।

१५ बरस पहले इस बिल पर और इसकी बदौलत जो हलचल मची उस-पर ज़रा निगाह दौडाना निरुपयोगी न होगा। रौलट-क़ानून बन तो गया, मगर, जहाँतक मै जानता हूँ, अपनी ३ वर्ष की ज़िन्दगी मे वह कभी काम में नहीं लाया गया, हालाँकि वे तीन साल शान्ति के नही बल्कि ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखा था। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बना डाला जिसका उसने कुछ उपयोग भी नही किया और बदले मे उलटा एक तूफान मोल ले लिया। इससे यह बहुत-कुछ ख़याल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश सिर्फ झगड़ा मोल लेना था।

एक और मज़ेदार बात सुनिए। आज १५ साल के बाद ऐसे कितने ही क़ानून बन गये है जो रोज-ब-रोज़ बरते भी जाते है और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये क़ानूनो और नये आर्डिनेन्सो के मुकाबिले में, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे है, रौलट-बिल तो क़रीब-क़रीब आज़ादी का परवाना ही समझा जा सकता है। हाँ, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमे मॉन्टेगु-चैम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक बडी किस्त मिल चुकी है और अब, सुनते हैं, एक और बड़ी मिलनेवाली है। हम तरक्की जो कर रहे है!

१९१९ के शुरू मे गाधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दे। इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलो की तरह, कोई परवा न की और, उस हालत में, गाधीजी को अपनी तबीयत के खिलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पडा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-कानून को तथा उन आपत्तिजनक क़ानूनों को जिनका निर्देश समय-समय किया जायगा, न मानेगे। दूसरे शब्दों मे उन्हे खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझ कर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारो मे यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मै फौरन ही

सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो, और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है। पिताजी इस नये खयाल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले न थे। कोई नया कदम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे, और जितना ही ज्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फ़ायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी हमारा जाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पड़ा नहीं था और यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाज़ियाँ लगाने का सवाल है, जिनमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की संभावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक-दूसरे की भावनाओं और बातों पर खयाल रक्खें। मैं चाहता था कि जहाँ-तक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ न भुगतनी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रात मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गत होगी; क्योंकि उनके खयाल में मुझे आगे-पीछे जेल ज़रूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गाँधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को बहुत नागवार हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनायें घट गईं जिनसे सारी हालत ही बदल गई और सत्याग्रह सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस याने सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली और अमृतसर में पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुतसे आदमियों

का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-काण्ड हो जाना—जालियांवाला-बाग़ का हत्या-काण्ड—पंजाब में फौजी क़ानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानों दूसरे प्रान्तों से अलग काट दिया गया हो। उसपर मानों एक गहरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उसतक नहीं पहुँच पाती थीं। वहाँ से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी और न कोई वहाँ जा सकता था न कोई वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का किसी तरह उस नरक-कुण्ड से बाहर आ पहुँचता, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ़-साफ़ हाल नही बता सकता था। हम लोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी खबर का इन्तजार करते रहते थे, और हमारे दिलो में कटुता भरती जा रही थी। हममे से कुछ लोग फौजी क़ानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे। लेकिन हमें ऐसा नही करने दिया गया और, इस दर्म्यान, कांग्रेस की तरफ से दुखियों और पीड़ितो को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही खास-खास जगहों से फौजी कानून वापस लिया गया और बाहर वालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य काँग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच के काम में अपनी सेवायें अर्पित की। पीड़ितों की सहायता का काम मुख्यत: पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यत: मेरे पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख मे। गाधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ़ लिया और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौक़ा था। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा क़ीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जालियाँवाला-बाग से और उस भयकर गली से जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को काँग्रेस-जाँच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार खुद जाकर उस बाग़ को देखा था और उसकी हर चीज़ की जाँच बडे ग़ौर से की थी।

यह कहा गया था, मै समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग़ से निकलने के दूसरे दरवाज़े भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खी। यदि डायर का यही खयाल था और दरअसल उसमें दरवाजा रहा होता, तो भी इससे उसकी जिम्मेदारी कम नहीं हो

जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा। कोई भी शख्स इतनी ऊँची जगह पर खड़ा होकर, जहाँ कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊँचे-ऊँचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ़ एक तरफ़ कोई सौ फ़ीट के क़रीब कोई मकान न था, सिर्फ़ ५ फ़ीट ऊँची दीवार थी। गोलियाँ दनादन चल रही थीं और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हजारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गई—जैसा कि हमारे बयानों तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानों से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढ़कर भाग न सके। और जब यह सब खतम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढेर दीवार के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अन्त में मैं अमृतसर से देहली रात की गाड़ी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ ऊपर की एक 'बर्थ' खाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने उस खाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फ़ौजी अफ़सर थे। वे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आही पहुँचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेज़ी के साथ, मगर विजय के घमंड में, बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग़ के 'सूरमा' डायर सा० है। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को ख़ाक में मिला दूँ। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मैं रुक गया। हण्टर-कमिटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संग-दिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जाँच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हें पसंद नहीं करती थी। मगर क़रीब-क़रीब हमेशा ही अपनी दलीलों से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हें मंजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरन्देशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अंतर्दृष्टि में मेरी श्रद्धा बढ़ती गई।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त

असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनों इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था, उससे उनको संतोष नहीं था और उन्होंने १९१९ के शुरू में 'इण्डिपेन्डेन्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अखबार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले करीब-करीब सभी लोगों पर—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था और उसके रगड़े-झगड़ों की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी इस लम्बी ग़ैरहाज़िरी में पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड़ गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालांकि १९२०–२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्यों ही हम जेल गये त्योंही उसकी हालत अबतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू में उसकी ज़िन्दगी खतम हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नहीं ली! हां, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण भी मैं ऐसा नहीं कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूंकि फौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा हो गई थी, उन्होंने लिखा—'पंजाब का ज़ख्मी और पीड़ित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?' मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल न हुए। उनकी आँखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं जो माण्टेगु-चैम्सफोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-काँग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश, और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड़, अगुवा बनने के

लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज मे 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज़ बुलंद होने लगी थी। अली-बन्धु हाल ही नज़रबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफ़त-डेपुटेशन में योरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान में खिलाफ़त-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उनके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से नाता जोड़ने की फ़िराक में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफत के नेताओं और मौलवियों और उलेमा की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफ़त-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके दिल्ली पहुँचने से पहले, जो ऐड्रेस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गाधीजी पहुँचे और उन्होंने उसका मज़मून पढ़ा तो उसे बहुत नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ रद्दोबदल नही किया गया तो मै डेपुटेशन में शरीक न हो सकूँगा। उनका ऐतराज़ यह था कि इस मज़मून मे गोल-मोल बातें कही गई हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं मगर यह साफ़ तौर पर नही कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम मांगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि इससे न तो वाइसराय के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ; न लोगों के साथ और न अपने साथ। उन्हे ऐसी बढ़ी-चढ़ी मागें पेश न करनी चाहिएँ जिनपर कि वे अड़ना न चाहते हों। कम-से-कम मांग बिलकुल साफ़ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुभा न हो और फिर मरने तक उसपर डँटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राज-मार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलकों में एक नई चीज़ थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थी। आख़िर गाधीजी की बात क़ायम रही और उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मज़मून में क्या ख़ामियां है और वह किस तरह गोल-मोल है, और कुछ नया मज़मून भी अपनी तरफ़ से भेजा, जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम माँग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मज़मून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा, मेरी राय में पहला मज़मून ही बिलकुल ठीक है। मगर गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-

पत्री से उनकी और खिलाफ़त कमिटी की स्थिति साफ़ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफ़त-कमिटी की मांगें मंजूर नहीं करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलेमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं। अहिंसात्मक असहयोग पर और खासकर अहिंसा पर चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमजोरी, लाग-लपट और छिपाव मन में न होना चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था, लेकिन वे रजामन्द हो गये। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ता साफ़ कर दिया कि वह इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि उनके मजहब मे नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नही है।

१९२० में राजनैतिक और खिलाफ़त-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एकसाथ चले। और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आखिर को दोनों एकसाथ मिल गये। पहले खिलाफ़त-कमिटी ने उस कार्यक्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की एक मीटिंग (मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद में सैयद रजाअली के मकान में इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो योरप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह में थे; बाकी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमें यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामंजूर करदें, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे में पड़ने का न था। मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुआ होंगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देंगे? गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर वे, ऐसा मालूम होता था कि, पहले से भी ज्यादा घबरा गये। उन्होंने एक डिक्टेटर जैसा भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह कटा-छँटा साफ़ और सख्ती लिये हुए था। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और अजहद सरगर्मी भरी हुई थी। उनकी आँखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से जबरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ़-निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होंने कहा कि यह मुक़ाबिला बड़ा जबरदस्त होगा और सामना भी बड़े जबरदस्त से है। अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और पूरी कड़ाई

के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए । जब लड़ाई का ऐलान कर दिया जाता है तो फ़ौजी क़ानून का दौर हो जाता है । हमारे अहिंसात्मक युद्ध में भी, यदि हम चाहते हों, कि हमारी फ़तह हो तो, हमें अपनी तरफ़ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फ़ौजी क़ानून जारी करने होंगे । आपको यह हक़ है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें और जब कभी और जैसी चाहें सजा दे दें । लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते हैं तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द जरूर रहना होगा । आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फ़ौजी क़ानून के निज़ाम में रहना होगा । लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मंजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा । ज्योंही आप मुझसे उकता जायँ, त्योंही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों-तले रौद दें, और मैं चू तक न करूँगा ।

इसी आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फ़ौजी मिसाल और उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुतसे श्रोताओ के बदन में चीटिया रेंगने लगीं । मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों मे जोश भरा करते थे । और जब रायें लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के, हक में हाथ ऊँचे कर दिये ।

जब हम सभा से लौट रहे थे तो मैंने गाधीजी से पूछा, कि क्या इसी तरीक़े से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेंगे ? मैंने तो यहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखो से आग की चिनगारी निकलने की आशा रक्खी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डरपोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखाई पड़ा । और फिर भी इन लोगों ने—आम राय का इतना असर था कि—लड़ाई के हक़ में राय दे दी । निश्चय ही मुस्लिम लीग के इन मेम्बरों मे से बहुत कम ने आगे लड़ाई में योग दिया था; बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मिल गई थी । मुस्लिम लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी भी बड़े तबक़े की प्रतिनिधि नहीं रह गई थी । हाँ, १९२० की खिलाफ़त-कमिटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कहीं ज्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लिए कमर कस ली ।

१ अगस्त गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालांकि अभी कॉंग्रेस ने न तो इसको मंजूर ही किया था और न इसपर विचार ही किया था । इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया । उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे । मैं उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जलूस में शरीक हुए थे जिसमें सारी बम्बई के लाखों आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड़ पड़े थे ।

८

मेरा निर्वासन और उसके परिणाम

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग यानी मध्यम-वर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हदतक अब भी, जिस राजनीति का शोर है, वह मध्यम-वर्ग के लोगों की राजनीति थी। क्या नरम और क्या गरम दोनों विचार के लोग मध्यम-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बेहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फले-फूले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिससे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मजदूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही मुकामी तौर पर संगठित हो पाये थे और उनका प्रभाव नही के बराबर था। किसान अपढ़, अज्ञान, मुफलिस, गंवार, दुःखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटने और सरकार, जमींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, पुलिस, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखो मजदूर हैं, या उनकी कोई वकत है। अंग्रेजों के अखबार बड़े अफ़सरों के कारनामो से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेजों के सामाजिक जीवन की, यानी उनकी पार्टियो की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करतीं। उनमे हिन्दुस्तानियों के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिलकुल नही की जाती थी, यहांतक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दिये जाते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती जब कोई हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली, कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा जिक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहाँ कोई दंगा-फ़साद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अखबार भी अंग्रेजों के अखबारों की नक़ल करने की कोशिश करते।

लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे भी हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली में, और जब किसी जानेवाले अफ़सर की बिदाई में कोई पार्टी दी जाती थी, 'जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था,' दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता तो क़रीब-क़रीब हमेशा ही लगान वग़ैरा बढ जाता, जिससे शोर मच जाता था; क्योंकि उसका असर ज़मींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो ज़मीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात भी नही पूछता था। ये अख़बार ज़मींदार और कल-कारखानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अख़बारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, खुद कांग्रेस का भी शुरू के दिनों में यह एक मतालबा था कि जहाँ-जहाँ अभी बन्दोबस्त नही हो पाया है वहाँ स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय, जिससे ज़मीदारो के हक़ूक की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कहीं जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों मे राष्ट्रीय आन्दोलन की बढती के कारण हालत बहुत बदल गई है और अब अंग्रेज़ों के अख़बारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है। क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अंदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अख़बारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानो और मज़दूरों की भलाई की भी बाते किया करते है, क्योकि एक तो आज-कल यह फ़ैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारखानो और गाँव-सबन्धी बातो के जानने की तरफ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों और ज़मींदा-वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते है, जोकि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अख़बारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवज़ा मिल जाय। फिर भी इनमें से बहुत से अख़बार 'कॉंग्रेसी' कहलाते हैं, हालाँकि वे जिनके ताबे में है उनमें से बहुतेरे काँग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। किन्तु काँग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और संस्थायें उसे अपने फ़ायदे के लिए इस्तैमाल करते हैं। जो अख़बार ज़रा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन करते हैं उन्हें या तो बड़े-बड़े जुरमानों का, यहां तक कि बड़े सख़्त प्रेस-कानूनो के ज़रिये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, ख़ौफ़ बना रहता है।

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानों में या खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण

बिलकुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मै इतना जरूर जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाय तो उसका पहला लक्ष्य यह हो कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यमवर्ग की प्रधानता हुए बिना नही रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मै ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्हीं दिनो एक नई बात मे मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर एक महत्त्व का काम करना था। मैं, अपनी खुद की प्रायः कोई इच्छा न रहते हुए, किसानो के सम्पर्क मे फेंक दिया गया, और यह भी एक अजीब तरीके से हुआ।

मेरी मा और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बड़े राज के मामले में मशगूल थे, जिसमे कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धु दास थे। हम सेवाय-होटल में ठहरे हुए थे। उन दिनों अफ़गान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियों के दर्म्यान मसूरी मे सुलह की बातें हो रही थी (यह १९१९ में हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय-होटल मे ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें खास दिलचस्पी नही थी और इस महीने-भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नही देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ, कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफ़गान-प्रतिनिधि-मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे एक बडी अजीब बात मालूम हुई; क्योंकि इस महीने-भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नही और न मुझे उसका मौक़ा ही मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगों का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिज़ाज के खिलाफ़ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उसने मुझे डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट से, जो कि

देहरादून का सुपरिन्टेन्डेंट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूंकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून जिले से बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूं। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार मा और पत्नी दोनों को वहाँ छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक़्त मुझे उस हुक्म की खिलाफ़वर्ज़ी करना मुनासिब मालूम नहीं हुआ, क्योंकि उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी मुलाक़ात थी। उन्होंने दोस्ताना तरीक़े पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा, कि मुझे यक़ीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मन-चले आदमी की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया, कि हुक्म में कोई ऐसी खराब बात नहीं है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान में कोई फ़र्क आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोड़ने का कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी मा या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ तो वह ज़रूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी मा की हालत ज्यादा खराब हो गई और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमें उस हुक्म की मन्सूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख़्स मैंने होटल के आंगन में देखा वह अफगान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिये हुए था! मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँ का एक मिनिस्टर और अफ़गान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफ़गानों ने अखबारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज़ फूल और फलों की एक डलिया मेरी मा को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मंडल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे, और उन्होंने हमें अफ़गानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमंत्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फ़ायदा न उठा पाये; और पता नहीं वहाँकी नई हुकूमत में वह निमंत्रण अब कायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन आते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक ही फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण

पर काफी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता, तो क्या हुआ होता ? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खिंचा होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीक़ा और इसलिए उसका असर भी कुछ और ही होता।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ वहाँ के खास-खास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करे। रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो वहाँ के रहनेवाले न थे। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रो के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार जोर-ज़ुल्म से वसूलयाबी करते है, कैसा उनका अमानुष व्यवहार है, और कैसी हालत उनकी हो गई है जिसको कि अब बर्दाश्त नही कर सकते। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चले और उनकी हालत की जाँच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी जान बचाने के लिए हम उनके साथ रहे। वह हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आखिर को मैंने उनसे वादा किया कि मै दो-तीन रोज़ बाद ज़रूर आऊँगा।

मैं कुछ साथियो को लेकर वहाँ पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे। वे रेलवे से और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस दौरे मे मैंने कई नई बातें देखीं। हमने देखा कि सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। जरा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो जाते। एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव इस तरह सब गाँवों में संदेशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते। और इससे भी ज्यादा तेज़ी से 'सीताराम, सीता··रा आ··आ म' की धुन की आवाज़ आकाश में गूँज उठती और चारों तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते। मर्द-औरत फटे-टूटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरों पर जोश और उत्साह था और आँख चमकती हुई दिखाई देती थीं—मानों कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन में उनकी तमाम मुसीबत का खात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके मंज़िले-मकसूद तक पहुँचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर; और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िंदगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें हिन्दुस्तान के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई जगह न थी। नगे-भूखे, दलित-पीड़ित हिन्दुस्तान का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते है, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नई ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सकड़ों कहानियाँ सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिससे वे कुचले जा रहे हैं। किस तरह खिलाफ़-क़ानून लाग लगाये जाते हैं और ज़ोरी-ज़ुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोपड़ों से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ़ ज़मींदारों के एजेण्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक्क़त करते हैं और अन्त में यह देखते है कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है—दूसरे ही उठा ले जाते है और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमें से बहुतों के ज़मीन नहीं थीं और जिन्हे ज़मींदारों ने बे-दखल कर दिया था, उन्हे सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोंपडा। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो कि क़ानून के मुताबिक़ एक हद से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नज़राना वग़ैरा बढ़ा दिये थे। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा अदा करते और फिर जब क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदखल कर दिये जाते, और उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हदतक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे

अवध में एकसी थी। और यह किसानों का १९२०-२१ का बवन्डर तो सिर्फ़ परतापगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद ज़िले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो था, रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जोकि बाबा रामचन्द्र कहलाता था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मज़दूर बनकर फ़िजी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलों की तरफ़ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढ़ा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानों से अपना ज़ाती फ़ायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफ़ों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभायें होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और ज़रूरत के वक्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवों को आपस में बाँधने का चिन्ह बना दिया। फ़ैज़ाबाद, परतापगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन ज़िलों का समावेश पुराने अयोध्या-राज में होता था। तुलसीदास की रामायण वहाँ लोगों के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगों को इसके हज़ारों दोहे, चौपाई बर-ज़बान थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसंगों पर मौज़ूं दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक ख़ास तर्ज़ था। कुछ हद तक किसानों का सगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊट-पटांग वादे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशायें बँधीं। उसके पास किसी-किस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था और जब उनका जोश आख़िरी सीमा तक पहुँच गया तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिशें कीं। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहाँके लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल भी गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ास तौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपनेको 'अवध का राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। ज़मींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों

के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मजदूरों की तादाद बढ़ रही थी । वहाँ यों सिर्फ़ एक ही किस्म के किसान थे । और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके ।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं। एक जमींदारी इलाक़ा जिसमें बड़े-बड़े जमींदार हैं, और दूसरा वह जहाँ किसान जमीन के मालिक हैं । मगर कहीं-कहीं दोनों एक-दूसरे से मिल जाते हैं । बंगाल, बिहार और संयुक्त-प्रांत जमीदारी इलाक़ा है । किसानी इलाक़े के लोगों की हालत इनसे अच्छी हैं, हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है । पंजाब और गुजरात के (जहाँ जमीन के मालिक किसान हैं) किसानों की हालत जमीदारी इलाक़े से कहीं अच्छी है । जमींदारी इलाके के ज्यादातर हिस्से में कई क़िस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार, ग़ैर-दख़ीलकार और शिकमी वग़ैरा । इन जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एकसाथ कोई जोरदार काम नहीं किया जा सकता । लेकिन अवध में १९२० में न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न हीनहायत काश्तकार ही थे । वहाँ सिर्फ़ आरज़ी काश्तकार थे, जो बे-दख़ल होते रहते थे और जिनकी जमीनें ज्यादा नज़राना या लगान देने पर दूसरो को दे दी जाया करती थी । इस तरह चूंकि वहाँ ख़ास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था ।

अवध में आरज़ी पट्टे की भी कोई गारटी देने का रिवाज नहीं था । जमींदार शायद ही कहीं लगान की रसीद देते थे । और कोई भी जमींदार कह सकता था कि लगान अदा नहीं किया गया और काश्तकार को बे-दख़ल कर सकता था । उस बेचारे के लिए यह साबित करना ग़ैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया । लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थी । मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके में तरह-तरह की कोई पचास ऐसी लागें लगी हुई है । मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गई हो । मगर ताल्लुकेदार जिस तरह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसीकी शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफ़सर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी ख़रीदा गया हो तो—उनके ख़र्च का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी । यहाँतक कि इन लागों के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के ख़रीदने का ख़र्च) वग़ैरा नाम पड़ गये थे ।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नहीं जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो; बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा

के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया। यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और जोरदार आन्दोलनों का मूल-कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें कराई थी, उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उनके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नही था। किसी अखबार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए है, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम तथा आन्दोलन करते हैं।

६

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गांवों में घूमता रहा। और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हींके साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घण्टों उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गांवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहाँ कहीं हम गये, हमारे साथ पुलिस के लोग, खुफिया और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूँ, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान और पम्प-शू पहने हुए थे। कभी-कभी वह हमसे कहते कि जरा धीरे चलें। मैं समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हें दुश्वार हो गया और वह रास्ते मे ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी बदन को झुलसाये देती थी और आँखों को अंधा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मै इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नही रहा; और इलाहाबाद लौटने पर जब कहीं मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और फिर मुझे याद पड़ा कि सफ़र में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपसे खुश हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मजबूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका और जो मै उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बिना ज्यादा तकलीफ़ के बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह

यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मजबूत और काम करने लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब अपने आखिरी दिनों तक जिन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रक्खी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाक़ी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में परतावगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हजारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार न करता था। यह बात मुझे इस परतावगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रक्खा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक किस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझ-पर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोड़े हों चाहें हजारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या जाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफ़ी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुँच

पाती थी। लेकिन जब कि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब की ज्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी मां और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसान-ही-किसान भरे थे और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मै मसूरी से वापस लौटा, गाँवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर अपने-आपपर एक नया विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। ज़मीदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम होता चला जाता था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। ज़मींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और क़ानून के खिलाफ़ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इससे ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुक़ेदार घबराये और अपना बचाव करते और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुक़ेदार और बड़े ज़मींदार ज़मीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपने को "लोगों के स्वभाविक नेता" कहने में अपना फ़ख़् समझते है। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे है, लेकिन सरकार उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी या करने की भूल की थी उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग़ में बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने किसानों के लिए कुछ भी नहीं करते थे जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते हैं, और ज़मीन और लोगों को महज़ चूस कर अपना पेट भरने वाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे मुक़ामी अफ़सरों की खुशामत-दरामद करते रहें—जिनकी कि मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थों और हक़ों की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

ज़मींदार शब्द से ज़रा धोखा हो जाता है और किसी-किसीको यह खयाल हो सकता है कि तमाम ज़मींदार बड़ी-बड़ी ज़मीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीक़ा है वहाँ ज़मींदार के मानी हैं खुद खेती करने वाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहाँ ज़मींदारी-प्रथा है, ज़मींदारों में कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हज़ारों ज़मीन-मालिक, और वे हज़ारों लोग भी जो हद दर्जे की ग़रीबी में दिन काटते

हैं और किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नहीं हैं, आ जाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के क़रीब वे लोग हैं जिनकी गिनती ज़मींदार-वर्ग में की जाती है। ग़ालिबन इनमें से ९० फ़ी सदी के ऊपर की हालत गरीब-से-ग़रीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फ़ी सदी की हालत किसी क़दर अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले ज़मीन-मालिक सारे सूबे में पाँच हज़ार से ज़्यादा नहीं हैं और इसके कोई १/१० दरहक़ीक़त बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार कहलाने लायक हैं। बाज़-बाज़ बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे ग़रीब ज़मींदारों से कहीं अच्छी है। ग़रीब ज़मीन-मालिक और मध्यम दर्जे के ज़मींदार बुद्धि में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आम तौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनों। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते है। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में खास हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारों और बड़े ज़मींदारों ने नहीं—हाँ, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर। और तो और पर उनमें कुलीन वर्ग की खूबियाँ भी नहीं पाई जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों में वे गिर गये है। अब-तक तो उनका खात्मा ही होना चाहिए था। अब वे तभी तक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर में देहाती इलाकों में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया—यहाँतक कि सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गाँवों में पहुँच चुका था। हर जिले में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात में जाता, और उनके साथ वे किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देते थे। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनों आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रान्त में ये दोनों बहुत कुछ एक-दूसरे मे मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेबाज़ी एकबारगी कम हो गई और गाँवों में पञ्चायतें कायम होकर उनमें मुकदमे फ़ैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में खास तौर पर ज़्यादा गिरा क्योंकि जहाँ भी कोई कांग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता वहाँ इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर खास तौर पर ज़ोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी क़द्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काट पर पड़ने से रोका ज़रूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते हैं तो मार-काट कर बैठते हैं और उनका उभाड़ किसानों की और मालिकों की खासी लड़ाई ही बन जाती है। और

उन दिनों अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने ग़ज़ब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ़ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुक़ेदार पीटा गया। ताल्लुक़ेदार अपने घर में बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और बदचलन था।

एक और क़िस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुईं। मगर ये टक्करें तो होकर ही रहती; क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नही कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफ़र करने लगे—ख़ास तौर पर तब जब कि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद ६० से ७० हज़ार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लमखुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुक़ाबिला करने लगे, जैसा कि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे कर्म-चारियों से कहते कि–'साहब, अब पुराना ज़माना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मैं नही जानता। हाँ, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं सुझाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे है। बाद को जाकर जब रेलवेवालों ने कड़ाई की तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की शरद् ऋतु में (जब मै कलकत्ते मे कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान नेता गिरफ्तार कर लिये गये। ख़ास परतावगढ़ में उनका मुक़दमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुक़दमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का हाता भर गया और वहाँ से जेल तक के रास्ते भर एक लाइन बन गई, जहाँ कि नेता लोग रक्खे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुक़दमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गई और उसने जेल को क़रीब-क़रीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुक़दमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज़ अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे। मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा ही मौका जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अंत दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के शुरू की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला, कि जल्दी आओ; क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं जेल में रक्खे गये थे। किसानों को परतापगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनांचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने ज़ायद पुलिस और फ़ौज का इंतज़ाम कर रक्खा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दे। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ़ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की खबर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फ़ौज किसानों का सामना करने के लिए रक्खी गई थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्जा मिला, कि मै वापस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा, कि किस क़ानून की किस दफ़ा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है; और जबतक इसका जवाब नही मिलेगा तबतक मैं अपना काम जारी रखना चाहता हूँ। जैसे ही मै नदी तक पहुँचा कि दूसरे किनारे पर से गोलियों की आवाज़ सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फ़ौजवालों ने रोक लिया। मैं वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एका-एक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने वहाँ उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ क़दम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयों पर गोलियों का बरसना और चारों और फ़ौज-ही-फ़ौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब ज़िला-मजिस्ट्रेट उस जगह से लौटे जहाँ से गोलियाँ चलाई जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी बहाने कोई दो घण्टे तक मुझे रोक रक्खा—ज़ाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानों से और शहर के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने से या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था; मगर यों वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यक़ीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिन-पर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे ज़रूर

वहाँ से हट गये होते । जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे उनका हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया । किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना । जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योंकर सफल होने दे सकते थे ? विदेशी सरकारों का, जिनका कि दारोमदार अपने रौब पर होता है, यह तरीक़ा नहीं हुआ करता ।

रायबरेली जिले में उन्हीं दिनों दो बार किसानो पर गोलियाँ चलीं, और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पञ्चायत के मेम्बर के लिए मानों डर का राज्य ही फैल गया । सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था । उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी । इसलिए चरखा तो मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफ़त आ जाती । चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे । इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीकों से रायबरेली और परताबगढ़ जिले के देहाती इलाक़ों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की । ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे ।

कुछ दिन बाद, १९२१ में, फैजाबाद जिले में दूर-दूर तक दमन का मजा चखाया गया । वहाँ एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ । कुछ देहात के किसानो ने जाकर एक ताल्लुक़ेदार का माल-असबाब लूट लिया । बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे जमीदार के नौकरों ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगड़ा था । उन गरीबो से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट ले; और उन्होंने 'महात्मा गाधी की जय' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया ।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन में घटना स्थल पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फैजाबाद जिला) के पास ही था । मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घण्टों में ५-६ हजार लोग कई गाँवो से, कोई १०-१० मील की दूरी से, वहाँ इकट्ठे हो गये । मैंने उन्हें बुरी तरह आड़े हाथों लिया, कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करें । (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मै उसे समझता था, भरा हुआ था ।) मैंने उन लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने

के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरों के सामने कोई दो दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यक़ीनन उनपर आफ़त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने खानगी में बातचीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लंबी-लंबी सजायें पाने की हालत में ला रक्खा। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन नही थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौक़ा भला कही खोने जैसा था? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया। एक हज़ार से ऊपर गिरफ्तारियाँ हुईं और ज़िला-जेल ठसाठस भर गई। कोई एक साल तक मुक़दमे चलते रहे। कितने ही मुकदमे के दौरान मे जेल ही में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं और पिछले दिनों जब मैं जेल गया तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाक़ात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे!

हिन्दुस्तान के किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनो तक मुकाबिला करने की ताक़त नही रहती। अकालों और बीमारियों के दौर में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह ताज्जुब की बात है कि एक साल भर तक उन्होंने सरकार और जमीदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुकाबिला करने की ताक़त का परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हाँ, पहले जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गाँवों में पुराने कार्यकर्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था और जो छोटे रूप में काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद, बहुत-कुछ हाथ बंटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानों-सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को हीन-हयात ज़मीन पर अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए

लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२९ में जो मंदी सारे संसार में आई उससे चीजों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ ।

१०

असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसकी तरफ कि राष्ट्रीय विचार वालों ने शायद ही कुछ तवज्जो की हो। हिन्दुस्तान के जुदे-जुदे भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों मे जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था— हालांकि वह अपने ढग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से, बल्कि शुरू से आखिर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ़ बहुत-कम ध्यान दिया गया था। यहाँ तक कि संयुक्त-प्रान्त के अखबारों ने भी उसकी तरफ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादको और उनके अधिकांश शहराती पाठको के लिए अध-नंगे किसानों की जमात के उन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार की खूबी न थी।

पजाब और खिलाफ़त-सम्बन्धी अन्यायों की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की जबान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसी में लगा हुआ था। अलबत्ते शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज, पर ज्यादा जोर नही दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और बड़े-बड़े उद्देशों को पसन्द नही करते हैं— वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताक़त लगाना ज्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज की बातें वायु-मण्डल में और लोगों के दिमागों में बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे उनमें बार-बार उनका जिक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पंजाब और खिलाफ़त के और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसन्द

थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित रूप से वैध और माडरेट थी। सदी के शुरू के उन दिनों परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छाने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अरसे तक विदेशों में रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाक़ातों (१९०९ से लगभग) का हाल लिखा है। दोनो के बारे में उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूक-फूंक कर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओ से कहीं ज्यादा उनका मुक़ाबिला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यह समझ सकते है कि उस समय हमारी राजनीति की और हमारे नेताओं की नाड़ी कितनी धीमी चलती थी और उनका असर एक सुयोग्य और अनुभवी विदेशी सज्जन पर क्या पड़ा। लेकिन पिछले २० वर्षों में उनकी नब्ज की चाल में बडा फ़र्क पड़ गया है।

इस विरोध मे लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभाव-शाली लोग भी थे। कांग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे—इसलिए नही कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे—क्योंकि वह उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें ऐतराज था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उनके पुराने साथियों ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमें से बहुतेरों को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वह भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीक़े से आगे बढ़ने में हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीक़े क़ायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल में एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की ओर—और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ते वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि

पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक्त लगा था। बड़ी देर-देर तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह और दास बाबू दोनों बहुत-कुछ एकसाथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुफस्सिल मुक़दमे में वे दोनों एक-दूसरे के खिलाफ़ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले को बहुत-कुछ एक-सा नुक्ते-निगाह से देखते थे और उसके अन्त के बारे में भी उनका बहुत कम मतभेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद काफ़ी था उनसे विशेष कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर-कांग्रेस में मिले, और तबसे आगे चलकर दोनों एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नज़दीक आते चले गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले, मैं उनको बहुत कम समझ पाया था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता मैंने देखा कि वह बराबर इस समस्या का मुकाबिला करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका ज़ाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपनेको ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी ६० वीं वर्षगाँठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे, सबसे ताल्लुक़ तोड़ना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्व का न था, और यह ज़ाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ़ ही बढ़ाते गये यहाँतक कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पञ्जाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय और अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को, बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज़ उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे। उन्होंने आखिरी फैसला तभी किया और गांधीजी के आन्दोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग़ ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग़ ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के मानवी गुणों को देखकर वह उनकी तरफ़ खिंचे थे और इसमें कोई

शक नहीं कि इस बात ने भी उनपर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी ताक़त नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज होती थी। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, वैरागी, धर्मात्मा, जीवन में प्राप्त होनेवाले आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय, जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि आगे क्या होगा! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनों के बीच एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था, जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खींचा और बाँध रक्खा—यहाँतक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक दुनियादार, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, एक-दूसरे के विरोधी स्थानों से शुरू करके, जुदे-जुदे रास्तों से सफ़र करते हुए, पर फिर भी दोनों ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरों से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं—बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझें और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने काँग्रेस की राजनीति में गाँधी-युग को शुरू किया, जो तबसे अबतक क़ायम है—हां, बीच में एक छोटा-सा जमाना (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमें उन्होंने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तबसे काँग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी; काँग्रेस में नये क़िस्म के लोग —प्रतिनिधि—दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था अधिका-धिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही डेलीगेट अँग्रेजी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नई ज़िन्दगी, नया जोश, और एक सरगर्मी दिखाई देती थी।

अधिवेशन खतम होने के बाद गांधीजी 'अमृत बाजार पत्रिका' के महारथी सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोती बाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और साथ में कहा—"मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, और तो क्या कहूं, कहीं भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुंच के परे हो जाऊँगा!"

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके निहायत प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्ति-निकेतन गया। वहाँ हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि सी० एफ़० एण्डरूज़ ने कुछ किताबें मुझे वहाँ दी थी, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझपर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था आफ्रिका में साम्राज्यवाद के आर्थिक स्वरूप। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैक मेन्स बर्डन—ने मेरे दिल को बहुत हिला दिया था।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज़ साहब ने एक पुस्तका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था 'इंडिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का मज़मून था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह हमारे हार्दिक भावों का चित्र खींचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये हुई थी। मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणायें और अधखिली अभिलाषायें साफ़ तौर पर मूर्त बनती हुई दिखाई दी। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमें समाजवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की जिल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और हमारे इस बरसों के अधःपतन का ख़ात्मा कर देने की ज़बरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज़ ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है, कि अपने अन्दर से कोई ज़बरदस्त हलचल—उभाड़—पैदा हो। ऐसे उभाड़ के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह में ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, मांगने, मिलने, ऐलान

करने और रिआयतें देने से नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।·········इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसे ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धड़ाका कर चुकी है— जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूँका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा को उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की निहायत खुशी हुई। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेड़ियाँ ढीली होने लगी और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास में सारे देश भर मे असहयोग की लहर बढ़ती चली गई। नई कौन्सिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रक्खी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन, हाँ यह सच है कि अधिकांश वोटर–मतदाता—वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हे देश की पुकार का खयाल था, कौन्सिलों के लिए खडे नही हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और खुद चुनाव के मुकामो पर देखने गये थे। वह बायकाट की पूर्णता को देखकर दग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से १५ मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नही गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होने अपने इस अनुभव का ज़िक्र किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालो को क़ायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हे 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राज-दूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम-लीग का कांग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का संगठन बन गई, वह उन्हें क़तई नापसन्द था। उनके मतभेद का

कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था; परन्तु वह मुख्यत: राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनका स्वभाव मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भभ्भड़ में जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने का मतालबा करती थी, वह अपने को बिलकुल बे-मेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फ़र्क़ था जितना कि सेवाइल रो और बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिन्दुस्तानी गाँवों में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ़ मैट्रिक पास ही कांग्रेस में लिये जावें। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल संजीदगी के साथ ही यह बढ़िया बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि उनके साधारण दृष्टिकोण के वह मुआफिक ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दु:ख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदाय-वादी थे।

माडरेटों या यों कहे कि लिबरलों का तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक़ ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये, नई योजना के अन्दर मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफसर बने और असहयोग तथा कांग्रेस का मुक़ाबिला करने में सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे,क़रीब-क़रीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिलकुल अलग जा पड़े और तब से हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनकी आदत पड़ गई, जो अबतक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गई है—सिर्फ़ चन्द लोग रह गये है, सो भी कुछ बड़े शहरों में। श्री श्रीनिवास शास्त्री शाही राजदूत और ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में घूमे और जहाँ-जहाँ गये उन्होंने कांग्रेस को और खुद अपने ही देश-वासियों को उस सरकार से लड़ाई लड़ते रहने के लिए बुरा-भला कहा।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग सुखी थे। खुद अपने ही लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहाँ दुश्मनी नहीं दिखाई या सुनाई देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्दायी अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उमड़

उठती है तो वह अपनेसे अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालांकि गांधीजी की बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को मुखालिफों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही उनका दम बन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह कि वह उन लोगों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं; वे उन लोगों को जो जनता में से होते है या जो उनकी तरफ़ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते है, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और उनको पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहन-शीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा दबंग शख्स जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानों किसी क़ैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आज़ादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँतक कि दूर-दूर के बाज़ारों में भी राह चलते लोग कांग्रेस और स्वराज (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था) की, पंजाब की घटनाओं की, तथा खिलाफ़त की बातें करते थे। लेकिन 'खिलाफ़त' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ़' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ़'! हां, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टों पर भी बातचीत करते थे। बेशुमार सभायें और सम्मेलन होते और उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें से बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानों एक किस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए; हमें अपना रास्ता अपने

सामने बिलकुल साफ़ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरों को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबिला शीघ्र ही होनेवाला है, और इससे पहले कि सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातो से बढ़कर हमारे अन्दर आज़ादी का और आज़ादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम पीड़ित हैं और हमारा कोई काम पूरा नहीं पड़ सकता, बिलकुल चला गया था। अब न तो काना-फूँसी होती थी और न गोल-मोल क़ानूनी भाषा इस्तैमाल की जात थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही कहते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? क्या जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश-सिद्धि में मदद ही पहुँचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग जो हमें घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे, उनकी हालत दयाजनक हो गई थी। क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाज़ी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ सन्तोष न था कि हम एक कारगर राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आज़ादी बहुत नज़दीक ला रहा है, बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था, कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे मुख़ालिफ़ों के मुक़ाबिले में अच्छे और ऊँचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीक़े पर फ़ख्र था। और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्व, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नई आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रौब—सरेदस्त

गिरता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फ़ौज पर भरोसा रक्खा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से ज़िला-अफ़सरों के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गई थी। उसमें दुःख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन में प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में है, और इसे कमबख्ती ही समझना चाहिए। और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को क़ायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीक़ा लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफ़सरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमाग़ी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुक़ाबिला करने की स्पिरिट हाकिमों के सिर पर घने मानसूनी बादलों की तरह मँडरा रहे थे; परन्तु फिर भी चूंकि उसके साधन शान्तिमय थे, उन्हें उसका मुक़ाबिला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ धर दबाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात को नहीं मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी छिपी साजिश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेजों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूर्व एक रहस्यमय देश है, और वहाँ के बाजारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साजिशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूर्वी पुरुष को जो स्पष्ट और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो कुछ खयाल बनाते हैं वे भेदियों और खुफिया पुलिस के द्वारा पेटभर के मिली खबरों के आधार पर, और फिर उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आम तौर पर अंग्रेज लोगों में एकाएक दहशत फैल गई। उन्हें हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट

होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत से आँखें मुंदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भंयकर काण्ड करा डाले जिनके अमृतसर का जालियांवाला बाग और रेंगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद में १० मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभ-दिन देखकर यह तारीख मुक़र्रर की गई थी, गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियों को, जिनमें अली-बन्धु भी थे, निमंत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की बैठक भी इलाहाबाद में रख ली गई थी। स्थानीय कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-गिरामी नेताओं की मौजूदगी से फ़ायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक ज़िला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात से किसान लोग बहुत बड़ी तादाद में आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे लोगों के दिलों में अजीब घबड़ाहट छा गई। एक रोज़ एक बैरिस्टर-दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेज़ों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जाने-वाला है। हिन्दुस्तानी नौकरों पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब में पिस्तौल रखने लगे। खानगी में यहाँ तक कहा गया कि इलाहाबाद का क़िला इस बात के लिए तैयार रक्खा गया था कि ज़रूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेज़ों को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्ति-मय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। ओफ़! यहाँ तक कहा गया कि १० मई, और यही तारीख इत्तिफ़ाक़ से मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी, १८५७ को मेरठ में ग़दर शुरू हुआ था और उसका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही हैं।

१९२१ में खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मज़हबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ

बँटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रंगे हुए मुसलमान भी, जिनकी कोई खास रग़बत मजहब की तरफ़ नहीं थी, डाढ़ी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानों की पाबन्दी करने लगे थे। बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये खयालात के सबब से मौलवियों का जो असर और रौब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, इस सिलसिले को और ताक़त दी, और इसी तरह गांधीजी ने भी, जो मौलवियों और मौलानाओं को बहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमें कोई शक नही कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म शास्त्राज्ञा से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था और, जहाँ तक जनता से ताल्लुक़ है, उसने एक धर्मोद्धार का रूप धारण कर लिया था। कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावतः अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और जो राजनैतिक मसलों का राजनैतिक जमीन पर बैठकर ही विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और बयानों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्या उन्होने वह सब बहुत-कुछ नहीं छोड़ दिया था, जिसको दुनिया क़ीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन नहीं अख्त्यार कर ली थी? यह बात खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझ ली गई, और इसने भी धर्मोद्धार के वायुमण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ़ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते थे उसका बहुतांश मुझे बहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र मुझे ग़लत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी मरोड़ दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे—जैसे 'राम-

राज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दखल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध शक्ति थी।

लेकिन मैं इन बातों की झञ्झट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की जरूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर किस्म के लोग रहते हैं, और जब तक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और खुद गांधीजी को लें तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था, कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्राय: नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना जरूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और शानदार नेता हैं और जब कि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रक्खी थी; तो मानों हमने कोरे कागज पर ही दस्तखत करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस में उनके इन खब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते कि जब स्वराज आ जायगा तब इन खब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म के क्षेत्र मे भी बिलकुल आजाद बने रहना असंभव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी वहाँ जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक उस प्रवृत्ति की ताक़त कम हो जाती थी। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल मे जगह न कर पाये, और सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख्त्यार करली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धार्मिकता की तरफ़ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नजदीक नही पहुँचा था।

जिस बात का मै आदर करता था वह थी उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहों आने नहीं माना था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था; लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ़ अधिकाधिक खींचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और

जैसे संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तंग और मजहबी मानी में नहीं—साँचे में ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहियें—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही बिफल बना देते हैं और नई समस्यायें और नई दिक्कतें पैदा कर देते हैं; और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक क़ौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने सिर झुकाना—दलदल में से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपनेको गंदा बनाये बिना कोई कैसे बच सकता था? यदि हम सिर झुकाते है, या पेट के बल रेंगते हैं, तो कैसे हम अपने गौरव को क़ायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ़ सकते है?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी जो मैं चाहता था—क़ौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के मुआफिक़ थे और जिन्होने मुझे ज़ाती आजादी का भान कराया। यह ज़ाती तसल्ली मुझे इतनी ज्यादा मिली कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मै ज्यादा गिनती न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोडे समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मै न तो समझता था और न उसकी तरफ़ मेरा खिंचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए; शान्त, स्थिर, गंभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नही हूँ, इसलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

११

मेरी पहली जेल-यात्रा

उन्नीस सौ इक्कीस का साल हमारे लिए एक असाधारण साल था। राष्ट्रीयता और राजनीति और रहस्यवादिता और धर्मान्धता का एक ही अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मजदूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और एक अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबरदस्त आदर्श-वाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता—जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था—और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो जमाने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोहों के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक ही दिशा में चलनेवाला पचरंगी दल बना दिया था। वास्तव में वह 'लोगों की अस्पष्ट अभिलाषाओं का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषायें और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके खिलाफ़ वे इस्तेमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोध-रूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के—खासकर किसी शासित देश के,विदेशी शासकों के खिलाफ़ घृणा और क्रोध के भावों पर। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगों के खिलाफ़ घृणा और क्रोध जरूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुकाबिले में यह निहायत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात हुई है गांधीजी के अहिंसा के तात्पर्यों और फलितार्थों पर जोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और नजदीक भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो गुस्सा होने और नफ़रत करने से फ़ायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे खिलाफ हो गये थे और राष्ट्रीय-आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों में इतने उदार नहीं थे, हालांकि जो-जो काम हम करते थे वे उचित ही थे और खूब आगा-पीछा सोचकर करते थे। उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई बक़त नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, मौक़ा-परस्ती तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण हिकारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से किन्तु उत्कटता के साथ, और हम इस आनन्द में मस्त थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे में तो स्पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओ को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मजदूरों और किसानों के वे बोझे जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं हलके हो जायँगे। मगर यह ज़ाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओं के दिमाग़ में स्वराज का मतलब आज़ादी से बहुत छोटी चीज़ थी। गांधीजी इस विषय पर बड़े मज़े से अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ विचार कर लेनेवालों को वह बढ़ावा नही देते थे। मगर हाँ हमेशा, अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पद-दलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयों को बड़ी तसल्ली होती थी, हालाकि उसीके साथ वह ऊँची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गाधीजी का ज़ोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नही होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हे हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मज़बूती ही हममें विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे पिछड़े और दबे हुए लोगों ने अचानक अपनी कमर सीधी की और

अपना सिर ऊँचा किया, और एक देशव्यापी सुनियंत्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े ! हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक जाग्रत विचार-विज्ञान और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुधुआकर रह जायगा। किसी हद तक हमारे आन्दोलन में धर्मोद्धार या पुनरुद्धार-वाद के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही संदेश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्या विश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊँची है, उसीमें हम फँस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह सिर्फ नैतिक उपाय ही नहीं है, बल्कि कारगर भी है। मेरे खयाल से, हममें से शायद ही कोई मशीनरी और वर्तमान सभ्यता विषयक गांधीजी के पुराने विचारो से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियों मे ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममे से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालांकि हमें चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज़ सफ़र को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ़ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा ही किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। हाँ, उस समय तक प्रचलित किताबों को कुछ-कुछ पढ़ना क़ायम रक्खा था और संसार में क्या-क्या घटनायें घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब

तो इसके लिए वक्त ही नही था। हालांकि पारिवारिक मोह जबरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी लड़की, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों में उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था। और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धैर्य और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ ही मानो मेरा घर बन गया। "गाँवों में जाओ" यही सबकी आवाज थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गाँवों में पहुँचते थे, और किसानों की सभाओं मे भाषण देते थे। मै रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मै थोड़ा-थोड़ा भीड़ का मानस, शहर की जनता और किसानों के फ़र्क़ को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफ़ो और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मजा आने लगा, हालांकि उनमें अनुशास के न होने से मै अक्सर चिढ़ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमों के सामने भी जाना पड़ता है जिनकी तेजी इतनी बढ़ती हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा सीधा मजमे के सामने जाता और उसका भरोसा करता था, और अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममें मत-भेद ही रहा हो। मगर मजमों का स्वभाव चचल होता है और सम्भव है भविष्य में मुझे कुछ और ही अनुभव मिले।

मै मजमों को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमें मै अपने-आपको भुला नही देता था। मै अपनेको उनसे हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हे समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं, जो कि अपने आसपास जमा होनेवाले इन हजारों आदमियों से हर बात में भिन्न था, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न था, इन लोगो की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह था कि इन लोगों ने मुझे मेरी असलियत से कुछ जुदा समझा? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेंगे? क्या मै लम्बी-चौड़ी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख्ती से बातचीत की, और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुकताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार

न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी ? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय ? जब उनकी वह कल्पना झूठ निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा ?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमों के इन भोले-भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता है ? उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई अशिष्टता ही थी, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उनसे अच्छा समझते हैं, होती है। हाँ, वे कुन्द-ज़हन बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी लें; मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा का भाव पैदा होता और उनके आनेवाले दु:खान्त जीवन का दृश्य आंखों के सामने खड़ा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सों का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता (जिनमें मैं भी शामिल था) व्याख्यान-मंच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था। वहाँ काफ़ी दिखावा होता था, और हमारे धुआँधार भाषणों में अशिष्टता की कोई कमी न थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में कुसूरवार रहे होंगे, मगर खिलाफ़त के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज्यादा बढ़े हुए थे जहाँ बहुत लोग जमा हों उनके सामने व्याख्यान-मंच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है; और इस तरह लोगों के सामने आने का पहले किसीको तजुर्बा भी नहीं था। इसलिए हमारे खयाल के मुताबिक नेताओं को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गम्भीर, चंचलता और छिछोरपन से बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते थे, तो हमें यह ख़याल रहता था कि हज़ारों आँखें हमें घूर रही हैं और उसीको ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े वक्तृत्वपूर्ण होते थे, मगर अक्सर ही वे ज्यादातर बे-मुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग जैसा अपनेको समझें वैसा अपने-आपको समझना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं अपने-आपकी नुक़ता-चीनी न कर सका तो मैंने दूसरों के तर्ज़-अमल पर ग़ौर करना शुरू किया, और इसी काम मे मुझे खूब मजा आया और फिर मुझे यह भयंकर ख़याल भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सजायबी होती रही, मगर सामूहिक गिरफ्तारियाँ न हुईं। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजायें दी गई थीं। जिन शब्दों के लिए

उन्हें सज़ा मिली थी, उनको सैकड़ों व्याख्यान-मंचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुक़दमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गई थी। मगर उस वक़्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। साल के अख़ीर में मामला अज़हद बढ़ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक़ की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अख़ीर तक बंगाल में काग्रेस के स्वयंसेवक ग़ैरक़ानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धु दास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला संदेश दिया—"मैं महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं। और मेरा सारा शरीर लोहे की वज़नी जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे, सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलख़ाना ही है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी पर्वाह नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नहीं कि मैं मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।" युक्त प्रान्त में भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार कर लिया। हमने न सिर्फ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन कायम रहेगा, बल्कि दैनिक अखबारों में अपने स्वयसेवकों की नामावलियाँ भी छपवा दी। पहली फेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही में, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड़ चुका है; कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला था। अभी तक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नई बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के काँग्रेस-दफ्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया, और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इस लिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाक़ी के कारकुनों से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ़ ध्यान न दो। कुछ देर बाद एक मित्र और एक साथी कार्य-कर्त्ता, जो

दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे बिदा लेने आये। मुझे इन नई घटनाओं को मामूली घटनायें समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जब-तक अपनी चिट्ठी, जिसे मैं लिख रहा था, पूरी न करलूँ, तबतक जरा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ्तार होने की खबर आई। आखिरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। मैंने देखा कि पुलिस, जो एक-न-एक दिन आने ही वाली थी, हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि वह, पिताजी और मुझे, दोनों को गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ ले जाये गये, वहाँ-वहाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़कें ही मिलीं। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई क़सूर न था, और न उनके खिलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ते उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो, खासकर युक्तप्रान्त और बंगाल में, गिरफ्तारियों और सजाओं की धूम मच गई। इन प्रान्तों में सभी खास-खास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हजारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू मे तो ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयंसेवकों की तादाद मानों खत्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हल-चल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-की-शाम, अपने परिचित नारे और आवाजें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ आ रही हैं। जेलें

भर गई थीं, और जेल-अफ़सर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ़ लाये जाने वालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नहीं लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए और जेल-मैनुअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ़ खास-खास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गई, और सभी भरोसे के कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और लाचारी की भावना फैल गई। यह परिवर्तन भी यों ऊपरी ही था। वातावरण में तो फिर भी तेजी और चारों ओर तनातनी के भाव मौजूद थे और ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अन्दाज किया जाता है कि, कोई ३० हजार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सजायें मिलीं। मगर हालांकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोजाना लोगों को अपने संदेश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराब होगा और कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौज और पुलिस बिगड़ तो नहीं जायगी।

अचानक १९२२ की फ़रवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने हमारी लड़ाई के आक्रमणात्मक कार्य बन्द करवा दिये हैं और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गांव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें क़रीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक़्त में जब कि हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर जेल में हमारी मायूसी और नाराजगी से किसीको कुछ भी फ़ायदा नहीं हो सकता था। सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक़्क़त और परेशानी के बाद सरकार को

आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला। कुछ हफ्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें एक लम्बी क़ैद की सजा दे दी।

१२

अहिंसा और तलवार का उसूल

चौरीचौरा-काण्ड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा खयाल है, गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के बाक़ी तमाम नेताओं में बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक़्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। क़ुदरतन् नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गईं। इसलिए उसके खिलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ़ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल खिलाफ़, लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक खून-खराबी का यही अटल नतीजा होना है तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई की विद्या और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना ग़ैर-मुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें और, यही क्यों, हममें से ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायँ तो जो बहुत-से भड़कानेवाले एजेन्ट और चुगलखोर वग़ैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा? मगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई ज़रा भी खून-खराबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीक़े को इसीलिए मंज़ूर किया था; और कांग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपना साधन बना लिया था, कि हमें यह विश्वास था कि वह

तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए नहीं रक्खा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीक़ा, और ऐसा तरीका जो ज़ालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ़ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीक़ा नहीं था जिसमें लड़ाई से मुंह छिपाया जाय; बल्कि बुराई और क़ौमी गुलामी की मुख़ालिफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि वे ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या ख़त्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मज़बूत-से-मज़बूत तरीक़े से भी आखिर क्या फ़ायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताक़त गांधीजी में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शांतिमय असहयोग का रास्ता अख्त्यार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और उनकी मुख-मुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ की उस बाहरी ओढ़नी के पीछे एक ठोस जोश, उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़ कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होने वहां एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के मकसद पर हमें ज़रूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का उसूल' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था :—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूंगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज्जत बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।···लेकिन मैं यह नहीं

समझता कि हिन्दुस्तान असहाय है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ...।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे। ताक़त शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और ख़याली आदमी हूँ। मैं तो अमली आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज़ ऋषि और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून है। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और कानून को जानती ही नहीं। इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताक़त, आत्मा की ताक़त, के सामने सिर झुकावे।"

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्मत्याग का, अपनी क़ुर्बानी का, पुराना नियम पेश करने की जुर्रत की है। क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, असहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं हैं। जिन ऋषियों ने, हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूँढ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और थकी हुई दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के ज़रिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी हैं जान-बूझकर तकलीफ़ें उठाना। उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करनेवाले की ख्वाहिश के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम ज़ालिम की ख्वाहिश के खिलाफ़ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज़ एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्ज़त, अपने मजहब और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताकत को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और इसीलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख्तियार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे......मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमज़ोरियों पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबिला कर सकती है......

"इस असहयोग को मैं 'सिनफ़िन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह से वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से नाकामयाब न होगा। हाँ, अगर ज्यादा तादाद में लोग उसे अख्तियार न करें तो वह नाकामयाब हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा; क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक समय तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख्तियार करेंगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे अपना या गुलामी से मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायँगे। अगर हिंदुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण करले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बंधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो मजहब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीक़ा था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम कुछ नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्ही नतीजों से अखीर मे हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना लें या निर्विवाद धर्म मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप मे, अहिंसा के इन पहलुओं की जाँच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगों ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे मुखालिफों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़िमी तौर पर हमे अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े! आया यह कसूर खुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक

पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसात्मक काण्ड हो जायँ तो उसकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोड़ने की जरूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकती, अहिंसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता तो जाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नही है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीक़ा सही तरीक़ा है तो वह सब मौकों के लिए मौजूँ होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही लेकिन विरोधी आबोहवा में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के मन के विकास की गवाही देती है, या क्या, यह मै नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हलाँकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आखिरी निमित्त हो गया था। गांधीजी अक्सर अपनी अन्तः-प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे कि महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते हैं, गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नजदीक रहकर एक नई इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते है और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियों के लिए अपने फ़ैसलों को कारणों का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफ़ी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस-कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दरअसल बहुत-से ऐतराज के क़ाबिल लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़-कानेवाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी कांग्रेस और खिलाफत-कमिटियों पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हद तक इस तरह की बात इस किस्म की लड़ाई

में बहुत कुछ लाजिमी है। नेताओं के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखावें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर अन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकांड हो जाते। इन हत्याकांडों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज क़ायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और सबबों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था इस बात को, मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फैसला सही ही था। उनकी ये सब ख़राबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला ग़लत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीक़े से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और उस ख़ास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमन्त्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन ख़त्म नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़े वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भली-भांति समझने में और लोगों को पक्का तथा मजबूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे उसूल और हमारा मक़सद क्या था? एक धुँधला स्वराज, जिसके पीछे उसका कोई साफ़ विचार-विज्ञान तो न था, लेकिन था सिर्फ़ अहिंसात्मक लड़ाई का एक ख़ास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने आप पिछला यानी अहिंसा का तरीका ख़त्म हो जाता, और जहाँ तक पहली बात, यानी स्वराज, से ताल्लुक है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आम तौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि

वे ज्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते, और विदेशी शासन के खिलाफ़ करीब-करीब सर्वव्यापी असंतोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी कुव्वत या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हजारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फ़ैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने का तरीका और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगों में एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में फुटकर और बेकार हिंसाकाण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबाई गई हिंसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही; और शायद बाद के सालों में इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय-भंग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगों की जो भारी मदद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति मे प्रतिक्रियावादी थे, लोगो की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे। लेकिन उस हलचल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत-से दूसरे लोगों ने भी—जैसे खुफिया के एजेण्टों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू-मुसलमानों में फिसाद कराके हाकिमों को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम बैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बों में मोपला कैदियों का भुनना तो बहुत ही बीभत्स था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो फिरकेवाराना कड़वापन इतना न बढ़ता और बाद को जो फिरकेवाराना दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गई और डर गई। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई थीं।

उसके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी क़िस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्देनज़र रखकर की गई थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धुदास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज़ की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज-कानफ़ेन्स की जाय। लेकिन यह तजवीज़ इसलिए गिर गई, गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली को भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कानफ़ेन्स में मौजूद रहना चाहिए और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख दास बाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने खुलेआम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इस-लिए हममें से ज्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में उस कानफ़ेन्स से कोई फ़ायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज की आमद का वक्त बिला खरखशा निकल जाय। इससे तो जो बुनियादी मामले हमारे सामने थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद, जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज्यादा ताक़तवर थी तब, गोलमेज़-कान्फ्रेन्स हुई और उससे कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि खिलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफ़त एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी। जिस नीति या चाल में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही हो ही नहीं सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कानफ़ेन्स से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजायें दी थीं। मुक़दमे महज़ एक स्वांग थे और अपने रिवाज के मुताबिक़ हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सजा देने के लिए काफ़ी मसाला ढूढ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दरअसल पसंद किया

गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक ग़ैर-क़ानूनी जमात का मेंबर होने—कांग्रेस-स्वयंसेवक होने—के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाये गये थे। बिला शक दस्तख़त उन्हींके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने कभी हिन्दी में दस्तख़त नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि दस्तख़त मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फार्म को औंधा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुक़दमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बांटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज) की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गई! तीन महीने बाद जब मैं, पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ, जेल में था तब मुझे इत्तिला मिली कि कोई मुक़दमों की जाँच करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गई वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जांच करनेवाले जजों में मुक़दमों को जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल मे छोड़कर बाहर जाने मे बहुत दु:ख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूंगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और भावना दिखाई। अदालत में गाँधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँ से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरे ले रहे थे और उनके ज़िन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की छाप हमारे मन पर लगी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत-ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सींखचों के अन्दर बन्द थे। बाहर जाकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। खास तौर पर मैंने विलायती कपड़े के बायकाट में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसीसे खरीदेंगे न विलायत से ही मंगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के कायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सज़ा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगो के साथ बहुत बड़ी नाइसाफ़ी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारो का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर, राजद्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गई, जिनमें जबरदस्ती रुपया ऐंठना और लोगों को दबाने के जुर्म शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया। क्योंकि शायद यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजायें दी गई, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा खयाल है कि कुल मिलकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छः हफ्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

१३

लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैनिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात न थी। खासकर बंग-भंग-आन्दोलन के वक्त से तो बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और जिनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सजायें भी होती थी। बग़ैर मुक़दमे चलाये नजरबन्दियां भी होती थी। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल क़ैद की सजा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नजरबन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया, और षड्यन्त्रों के मामले बहुत होने लगे, जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन क़ैद की सजायें दी जाती थीं। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आज़ाद भी लड़ाई के ज़माने में नज़रबन्द हुए थे। लड़ाई के बाद ही फ़ौरन पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी हुआ, जिनमे लोग बड़ी तादाद में जेल गये और बहुत लोगो को षड्यन्त्र के या सरसरी मुकदमों में सजायें दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान में राजनैतिक सजा होना एक काफ़ी आम बात हो गई थी, मगर अभीतक खुद जान बूझ-कर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले मे उन्हें राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी। लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ़्रीका में अलबत्ते सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हज़ारों अनुयायियों ने इससे उलटी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलखाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि सजायाफ्ता आदमी को अपने अन्दर हड़प जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है। अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बायें हाथ का खेल था। हमारे खयाल से जेल एकान्त, बेइज्जती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ़ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार जिक्र सुनते रहने के कारण, और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस खयाल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अनिच्छा की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी

उसकी तेज़ी कम हो गई। परन्तु दिमाग़ी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाख़िल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नहीं बचा सकती थी। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान के कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाख़िल हो चुके हैं, हालांकि बहुत करके इलज़ाम फ़ौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफ़ा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रक्खें; और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और भयंकर एकसापन की ज़िन्दगी के लायक़ अपने-आपको बना सकता है, वहाँ तक उन्होंने वहाँ की अजीब ज़िन्दगी के मुआफिक अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इन्सान क़रीब-क़रीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाख़िल होते हैं तो फिर वही कुछ पुरानी क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज़ उछलने लगती है और आँखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचानवालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौक़ा नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक-सी ख़त्म हो गई, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफ़सर इन नई तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालों की महज़ तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, एक ग़ैर-मामूली थी। उन्हें एक ऐसी बाढ़-सी मालूम होती थी कि कहीं अपनी पुरानी क़ायम हदों को बहा न ले जाय। इससे भी ज़्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज़्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात-सामान्य थी। वे मामूली सज़ायाफ्ता लोगों से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीक़े से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा क़ायदों की जगह दूसरे क़ायदे न थे; और न पहले की कोई मिसालें थीं, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी क़ैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज़्यादा होने से उसमें यह ख़याल भी आ गया था कि हममें कुछ ताक़त है। बाहर के आन्दोलन से, और जेलख़ानों के अन्दर के मामलों में पब्लिक की नई

दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, यह और भी मजबूत हो गया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफ़सरों की तकलीफ़ें बहुत ज्यादा हो गई होतीं। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरकों में, जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयंसेवक तो प्राय: बिना बुलाये खुद जबरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस जाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम मे न पड़ने का इक़रार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सके, तो मै आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूंगा।

हमारे साथ के ज्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों मे रक्खे जाते थे। हममें से अठारह, को जिन्हे मेरे अनुमान से अच्छे बरताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मै, इन लोगों के लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २०×१६ फीट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में जाने-आने की काफ़ी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से मुलाक़ात बहुत बार करने की इजाजत थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताजी घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मै सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुजारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें से जो पढ़ना नहीं जानते थे उनके लिए हिंदी उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाजत मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[1]

[1] अखबारों में एक वाहियात खबर निकली है, और हालांकि उसका खण्डन

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं मार्च के शुरू में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में, फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालतें बहुत बदल गई थी। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फ़ौरन ही नये क़ायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े वीविंग शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे क़ैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक करीब-क़रीब जेल के अन्दर की जेल ही थी, और एक बैरक वालों को दूसरी बैरक वालों से मिलने-जुलने या बात-चीत करने की इजाजत न थी। मुलाक़ात और खत अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमे बाहर से खाने की चीजे मंगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक में मै रक्खा गया उसमें क़रीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एक-साथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फ़ीट के फ़ासले पर थे। खुश-किस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा उसी झुण्ड को देखना-दिखाना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना। हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपडे धोते, कसरत के लिए बैरको के चारो तरफ़ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बात-चीत इस हद तक करते कि जिससे दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताक़त न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत थोड़ा था; और यह सब ऐसे लोगों के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन

किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा। और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज़ भेजी। वास्तव में, कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से उन्होंने शराब वगैरा पीना छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया, जबकि महीनों तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत दिखाई न देती थी। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ-जिला-जेल में इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं यह खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों मे से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुश-मिजाज थे। और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा जो एकान्त मैं पा सकता था वह यही था कि मैं बैरक छोड़ कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। इन दिनो बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी का, और कभी कभी बूंदा-बूंदी का भी मुकाबिला कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से मे लेटकर मैं आकाश और बादलों को निहारा करता था, और जितना पहले कभी नही किया इतना महसूस करने लगा कि ये बादल कितने गजब के सुन्दर-सुन्दर रंग बदलते है—

"अहो ! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे—
लेटे इन्हें निरखना !"[१]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द-मय न था, वह तो हमारे लिए भार-रूप था। मगर जो वक्त मे इन बरसाती बादलों को, जो हमेशा बदलते रहते थे, देखने में गुजारता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानों मैंने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानों मै क़ैद से छुटकारा पा गया हूँ ! मै नहीं जानता कि खास उसी बारिश ने मुझ पर इतना बड़ा असर क्यों डाला; इससे पहले या बाद की किसी साल की भी बारिश

१. अंग्रेज़ी में मूल पद्य इस प्रकार है—

"To watch the changing clouds, like clime in clime;
Oh ! sweet to lie and bless the luxury of time."

ने इस तरह मुझे प्रभावित नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की तारीफ़ की थी और उस समय का आनन्द लूटा था एवं उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मैं उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोजाना की बातें हैं, और दूसरी बातों की तरफ़ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई ही नहीं देते थे। क्षितिज हम से छिपा हुआ था और सूरज देर से गरम किरणें लेकर हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर से निकलता था। उसमें कहीं रंग का नामोनिशान नहीं होता था, और हमारी आंखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का नजारा देखते-देखते पथरा गई थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी थी ही, और जब बारिश के बादल अठखेलियाँ करते हुए गुजरने लगे, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के चमत्कार दिखाने लगे, तो मैं ताज्जुब और खुशी से उन्हें निहारने लगा और देखते-देखते मानों आनन्द में पागल हो जाता। कभी-कभी बादलों के बीच में से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता था। उस खाली जगह में से गहरा नीला आस्मान नजर आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं, और ज्यादा-ज्यादा सख्त क़ायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुक़ाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर किस क़दर नाराज है। नये क़ायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीक़ों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक क़ैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक क़रीब-क़रीब हम सबने—हम लोग उसी जेल में कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाक़ातें करना छोड़ दिया था। जाहिरा यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ लोग झगड़ा खड़ा करानेवाले हैं, इसलिए हममें से सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया जो कि खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें, मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ़, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकलीफ़ें भी थीं। मगर कुल मिलकर मुझे तो इस तबदीली से खुशी ही हुई। यहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-क़ैदियों से

अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैतिक क़ैदियों के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में हमेशा टपका करती है। हमारी महावारी मुलाक़ातों और खतों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर हो रहा है। वह चमत्कार युग गुज़र गया था और कामयाबी धुंधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिनके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर क़ब्ज़ा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढ़ाया था वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुज़र जाने के बाद रोज़ाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने ठीक काम ही किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ़ दिखाई नहीं देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कईयों की किस्मतों में तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुज़ारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ़ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुंचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ़ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँ तक कि हमारे कार्यों के एक ज़बरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता कि लखनऊ-जिला-जे के सिविल वार्ड में शरद-ऋतु की एक शाम की हुई उस बात-चीत की याद उनको कभी आती है या नहीं?

हम रोज़ाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़े। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह

से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग में पानी दे देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा-थोड़ा सूत कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिन्टेन्डेन्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही खत्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नहीं, और शायद इसीसे बाद में उसे युक्त-प्रान्त की जेलों के इन्स्पेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आस्मान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ़ खींचा. और कुछ नक़्शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और अपने पुराने परिचितों के दर्शन के संतोष से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहिनों पर पड़ा। वे इन्तजार करते-करते थक गईं, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचों में बन्द थे उन्हें अपनेको आजाद रखना एक लानत मालूम होती थी।

दिसम्बर १९२१ में, हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही, इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट पर बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशंका है कि ये शुरू की बातें आमतौर पर पुलिस-दल के बारे में भावी विचारों पर असर डाल सकती हैं।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली गैर-राजनैतिक क़ैदियों से अलग रखा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मखसूस कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया

कि उन दिनों वास्तव में जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और ज़ोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना बिलकुल अजीब तौर पर खराब था; मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर उसे बिलकुल न खाये जाने लायक़ पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए कैदियों या कैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के फ़र्ज़ और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल में लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी क़िस्म की थी कि किसी भी आदमी के लिए उन्हें ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवतः दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक़ न था। जेल की मशक्क़त का मक़सद सजायाफ्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह ताबे मे कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और खौफ़ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार ज़रूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और

१. युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ६८७ में, जो अब नये संस्करण से हटा दी गई है, लिखा था:--

"जेल में मशक़्क़त करना, सिर्फ़ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सज़ा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा ख़याल न किया जाय कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सब से ज्यादा ज़रूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुकाबिले में रूस के एम० एफ़० एस० आर० की ताज़ीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ६—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह मक़सद नहीं है कि शारीरिक यातनायें दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मक़सद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सज़ायें देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरज़रूरी या फालतू तकलीफ़ न पहुँचनी चाहिए।"

कपड़े वग़ैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख्वाहों में भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के क़ैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जाने वाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सका। इस सबब से आपही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें किसी को भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सज़ा दी जाती थी। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपने को 'आज़ाद' कहता था, बेंत लगाये जाने की सज़ा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी फाड़कर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था, हर बेंत के साथ वह लड़का यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

१४

फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर शायद स्त्रियों के बोलने और बच्चों के हँसने की आवाज़ का अभाव तो सबसे ज्यादा महसूस होता है। जो आवाज़ें वहाँ आम तौर पर सुनाई देती हैं वे कोई बड़ी खुशगवार नहीं होती हैं। वे ज्यादातर कठोर और डराने की होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नया अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-ज़िला जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भौंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के आखिरी दिन, लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के क़ैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सज़ा मिली थी, वे सब तो अपनी सज़ा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ़ वे जिनकी लम्बी सज़ायें थी, या जो दुबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ; क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्य-कारिणी ऐसी माँगों की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह में यह वक़्त मौज़ूँ था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फँसे हुए थे। जेल में भी नामी-गिरामी कांग्रेसवाले ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा राहत का भाव और आनन्दपूर्ण उत्साह रहता है। ताज़ी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग़ में भर आते हैं और कुछ-कुछ दीवाना बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल जो असर होता है उसमें प्रायः पागलों कासा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोड़ी देर के लिए ही, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफ़ी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यंत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीक़ों से कांग्रेस-तन्त्र पर कब्ज़ा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ भी मृदुल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ़ था, क्योंकि इसका ज़रूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे पिताजी ने, जो कि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौंसिल में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश से वहाँ जाने के पक्ष मे हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गाधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय। कई नौजवानो के दिमाग़ में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर कब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा मे दाखिल नही हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीक़े को अख्त्यार करने के लिए ज़ोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकने-वाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों ख़िलाफ़त-सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ योरप में थे। लौटने पर उन्होंने भी बहिष्कार के इस तरीक़े पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। उन्हें सिनफ़ीन-मार्ग ज्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक़त न थी; क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही क़ायम रहने को था, वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह ख़याल किया गया कि तफ़सील के मामले में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफ़ीन तरीक़े के बारे में उनके ख़ास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफ़ीन तरीक़े को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के

दिमाग़ में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ़ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रहना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के ज़रिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फ़ायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफ़ी थी, और सचमुच १९२४-२६ में जब स्वराज-पार्टी कौंसिलों में गई तब बहुत-कुछ ऐसा हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौसिलों पर कब्ज़ा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो सकता कि चूंकि उस समय खिलाफ़त-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३३ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी है, अत: अगले चुनाव मे कांग्रेस को कितनी ही कामयाबी क्यों न मिले वह उतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि विरोधी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मै परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी झगड़ों से ऊब उठा। तब मै तो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्के के बाद करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसमे मेरा कोई खास उद्देश न था। असल में मेरे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तों के अन्दर ही मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा ख़याल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई-कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के सभी मुख्तलिफ़ कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मै उसमें ज्यादा-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल-तंत्र को साफ़-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इसी बात के लिए काफ़ी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ़ कामों के सबब अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पडता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपनेको बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होने वाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब-सा हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ़ एक ही मुक़दमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट में मेरा वह आखिरी ही मुक़दमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना-ही, मेरी तरफ़ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनको यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मै खूब तरक्क़ी करूंगा। और इसलिए मुझे अंग्रेज़ों के दृष्टि-कोण को समझाने मे वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते हैं, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिज्ञ ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक दायरे मे अंग्रेज़ों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे नाराज़गी, कड़वापन, और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई ज़िम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात क़तई बेबुनियाद है और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है[1]। मगर कई

१. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए।

अंग्रेजों की ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या ग़लत राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती हैं। दरहक़ीक़त, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूँ कि आज भी मेरी अंग्रेजों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझे बड़ा बनकर अपनाना न चाहता हो, और इतने पर भी हमारे सम्बन्धों में खुश-मिजाजी की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेजो से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, स्पष्टवादिता और शिष्टता-पूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाक़ात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज करने के बहाने वह मुझसे मिलने आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलो पर खूब हमला किया। वह उन्हे डरपोक ढीले, मौका-परस्त—जिनमें न चरित्र-बल है, न दमखम—कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज्जत है?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे है; शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातो से मै खुश होऊँगा। इसके बाद बात-चीत फेरकर वह नई कौंसिलों, उनके मंत्रियों और मन्त्रियों को देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौका हासिल है इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे जरूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मंत्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखों आदमियों की किस्मत सुधारने का मौका नही है, क्या यह जिन्दगी का सबसे बड़ा मौक़ा नहीं है? उन्होंने कहा फर्ज कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी, जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को अमल में लाने की ताक़त हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नही दिखा सकते? और उन्होंने कहा कि मैं हाल मे ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति पर चलने की पूरी आजादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि वह सरकारी तौर पर किसी की तरफ़ से कोई वादा तो नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज उन्होंने रक्खी है वह उनकी अपनी ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफ़ाई और टेढ़े-मेढ़े तरीक़े से जो प्रस्ताव रक्खा उसकी तरफ़ मेरा ध्यान तो गया। मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर भी नहीं सकता था। वास्तव में इस ख़याल से ही मैं नफ़रत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौक़ा पाने की मैंने अक्सर तमन्ना की है। विध्वंस, आन्दोलन और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकती। फिर भी हमारी क़िस्मत में यही लिखा है कि हम संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुजरने के बाद ही उस देश में पहुँच सकते हैं जहाँ हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियों और जीवन को उन परिवर्तनशील रेगिस्तानों में से गुजरने की सख्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चों या बच्चों के बच्चों के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त मे तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के जमाने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा निज़ाम को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनो उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक्त मे उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्जत उन्हें बतौर हक़ के दिये गये हैं, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो कांग्रेस से सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब वह आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह मे नरम-दली मन्त्रियों की क़ीमत बहुत गिर गई, और साथ ही वह मान और इज्जत भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला, और जल्दी ही उन्हे इस्तीफा दे देना पड़ा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिल में जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे वे अपने साथियों की, जो बग़ैर किसी लिहाज़ के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों मे से जो ज्यादातर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सकें। कांग्रेस द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब किस्म का गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मै बहुत होशियार आदमी होने का फ़ख्र तो नहीं करता, मगर मैं अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे

के लोगों से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है; क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मंजूर करलूं और दुनिया में अपने-आपको सख्त बेवकूफ़ जाहिर करूं ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री संकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों में उनकी निगाह दूर तक नहीं जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलों का क़ुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाक़त अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मंत्री बने उनमें से कुछ जमींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, जाब्ते के मानी में भी बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूँ कि उन्हें ठीक तौर पर सिर्फ़ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियों को हिन्दुस्तानियों को बिलकुल नाक़ाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर मुक़र्रर कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि :—

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असंभव है।[1]

तालीम-याफ्ता हों या नहीं, मगर इन मन्त्रियों की तरफ़ जमींदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफसरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियां भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा इस्तैमाल और क्या हो सकता था !

१. रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का अनुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है—

"Fortune advanced thee that all might aver
That nothing is impossible to her."

१५

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मसलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवाल बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई संतोषजनक जवाब मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ़ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वंद्व से बचना चाहता था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ़ हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्त्तन देखे जिनकी तरफ़ अभीतक मेरा खयाल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये संघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छान बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे अपनी तरफ़ नहीं खींच रही थी। कौंसिल-पार्टी जाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ़ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अन्धी गली में ले जाकर पटक देगा। अपरिवर्त्तनवादी गांधीजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न मानकर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालक-शक्ति नहीं थी, और अमल में उनमें से ज्यादातर लोग लड़ाकू नहीं थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम किसानों से उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने पार्लमेण्टों की पैंतरेबाजियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी वकालत खर्च करदी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी, जिससे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी

लगता था, कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनों बहुत उत्सुक थे। साफ़ जाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी खुशी होती, लेकिन मेरे लिए उनके दिल में इतना ज्यादा खयाल था कि जहाँतक इस मामले से ताल्लुक था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड़ दिया; मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्हीं दिनों में मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गई। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कहीं ज्यादा गहरी थी। इस दोस्ती में मैंने जो मुहब्बत की गहराई और अपना-पन देखा उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बड़ी उम्र में तो गहरी दोस्तियां शायद ही कभी पैदा होती हों। पिताजी के मेल-मुलाक़ातियों की तादाद बहुत बड़ी थी। उनके साथ हँस-खेलकर जिन्दगी काटने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती बहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालों में तो वह जीवन के मांगल्य में विश्वास खो बैठे थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को तहे-दिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बड़े थे। फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताक़तवर और तन्दुरुस्त थे। हालांकि दोनों की क़ानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातों में बड़ा फ़र्क़ था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकता-मय—कवियों का सा—था। मेरा खयाल है कि उन्होंने बंगाली मे बहुत अच्छी कवितायें भी लिखी हैं। वह बड़े अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक अमली और रूखे-से थे, उनमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति थी, और मज़हब का उनमे नामो-निशान भी न था। वह हमेशा लड़ाके रहे थे, हर वक्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगों को वह बेवकूफ समझते थे उनको क़तई बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कम-से-कम खुशी से तो नहीं करते थे। और वह अपने विरोध को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पड़ती जिसका बुरी तरह मुक़ाबला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। दोनों को आपस में एक-दूसरे पर पूरा भरोसा था। यहाँतक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अख़्त्यार दे दिया

था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक्त दूसरे के नाम का इस्तैमाल कर सकते हैं। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मजबूती के साथ क़ायम करने में और देश में उसकी ताक़त और धाक जमाने में इस ज़ाती दोस्ती का बहुत कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में छिन्न-भिन्न होनेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के जरिये अपनी ज़ाती तरक्क़ी की गुंजाइश होने की वजह से बहुत-से मौक़ा-परस्त और ओहदों के भूखे लोग उसमें आ घुसे थे। उसमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियां सामने आने लगीं, त्योंही पार्टी के नेताओं ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूँगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम किया भी।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व संतोष मिलने लगा, हालाँकि मै पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक संबंधों मे मै बड़ा भाग्यशाली रहा हूँ। जबरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और तसल्ली की सबसे ज्यादा जरूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फ़र्क़ पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नही हुई थी। किसी हद तक तो ग़ैर-जरूरी चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीजें, घोड़े-गाड़ियां और घर-गृहस्थी की वे सब चीज़े जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए मौज़ूँ नही थी, बेच दी गई थी। हमारे फ़र्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफ़ाई और ख़ूबसूरती जाती रही, और बाग़ जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग़ की तरफ़ नही के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की

किफ़ायतशारी को पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को क़ानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करें।

जो वक्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी काफ़ी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नही रही—सिर्फ़ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर, जो शेअरों के मुनाफ़े—डिवीडेण्ड—के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफ़ी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ी तसल्ली हुई। खादी के कपड़ो और रेल के तीसरे दर्जे के सफ़र में ज्यादा खर्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह महसूस नही कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बे-शुमार खर्च है जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नही सताया। मेरा खयाल है कि जरूरत पड़ने पर मै काफ़ी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम अपेक्षाकृत कम खर्च में चला सकते है।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नही था। इतना ही नही, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उन-पर एक बोझ समझते है तो उन्हे बड़ा दु.ख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था उसको पसन्द नही करता था, और अगले तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूँढ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मै कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मै कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूँ या कम कर दूँ। इस वक्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कॉंग्रेस और म्युनि-सिपैलिटी के काम मे लगाया। मुझे यह बात पसन्द नही आई कि मै रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूँ। इसलिए बड़े-बड़े औद्योगिक फ़र्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामंजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज़ मेरी लियाक़त के खयाल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे वालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नही लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल ग़ैर-मुमकिन थी कि मै फिर से वकालत का पेशा अख़्त्यार

करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की कांग्रेस में एक बात यह उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को तनख्वाह दी जानी चाहिए। मैं उस वक्त भी कांग्रेस का एक प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास खर्चे का निजी इन्तज़ाम हो। लेकिन इस तरह की फ़ुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नही होते, और न आप उनको उनके काम के लिए ज़िम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। मगर कांग्रेस ज्यादा नही दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फण्डों से तनख्वाह लेने के ख़िलाफ़ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालांकि सरकारी नौकरी के बाबत यह बात नहीं है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतराज किया कि मै कांग्रेस से तनख्वाह लूं। मेरे सहकारी मंत्री महाशय को रुपयों की सख्त जरूरत थी, लेकिन वह भी काग्रेस से तनख्वाह लेना शान के ख़िलाफ़ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाकि मै उसमें कोई बेज्इज़ती की बात नहीं समझता था और सोलहों आने तनख्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले मे पिताजी से बातें कीं, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहांतक हो सकता था वहांतक बड़े संकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होंने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवकूफी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूं जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफ़ी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच मे राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के ख़िलाफ़ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपनेको शामिल करना पड़ा, और कांग्रेस में भी मुझे ज़िम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक

अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी के पदेन अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी में कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ़ थी, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोड़ा-सा था और दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक में मामला यहाँ तक बढ़ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० कांग्रेस कमिटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फौरन ही हमें दोनों तरफ़ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मजबूत क़िला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतों को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के अखीर में उसी साल नागपुर में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक की गई। नागपुर में इन दिनों झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद खातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पड़ा कि असल में खास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नहीं थी; और वह उन्हीं लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कांग्रेस-संगठन की असली ताक़त थी। कार्य-समिति के इस्तीफ़ा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात कमिटी पर लानत का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफ़ा देते हुए मुझे कितनी खुशी हुई और मैंने कितने संतोष की साँस ली। पार्टी की पेंतरेबाज़ियों के इस थोड़े से ही अनुभव से मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ मशहूर कांग्रेसी भी इस तरह साजिश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबन्धु दास ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया कि तुम कठोर-हृदय हो। मैं समझता हूँ कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से दोस्तों और साथियों के मुकाबले में मैं कठोर-हृदय हूँ। फिर भी मुझे अपने बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या क्रोध की लहर में डूब या बह न जाऊँ। बरसों मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं कठोर-हृदय हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो कामयाबी मिली वह सिर्फ़ ऊपरी रही है।

१६

नाभा का नाटक

स्वराजिस्टों और अपरिवर्तनवादियों की कशमकश चलती रही और स्वराजिस्टों की ताक़त धीरे-धीरे बढ़ती गई। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का जो ख़ास अधिवेशन हुआ, उसमे स्वराजिस्टों का ज़ोर और बढ़ गया। इस कांग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिख, और उनमें से ख़ासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष में आ रहे थे। उनमें एक धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, और उसने यह काम हाथ में लिया कि बदचलन महन्तों को निकाल कर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करके गुरुद्वारों को इस ख़राबी से छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दख़ल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियों के तरीक़े अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गये थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग़ की थी, जहाँ बीसियों सिखों ने, जिनमें कई पहले फ़ौज में काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की पाशविक मार का सामना किया। इस साबित-क़दमी और हिम्मत के अजीब दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया, और यह लड़ाई कुछ बरसों तक जारी रही, और अन्त में सिख कामयाब हुए। स्वभावतः कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक़्त तक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के ख़ास कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मैं ज़िक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख-आन्दोलन से कोई ताल्लुक़ नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिख रियासतों, पटियाला और नाभा, के नरेशों में बड़ा गहरा ज़ाती झगड़ा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिखों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस

आन्दोलन के बीच में, जैतो नामक स्थान पर, एक धार्मिक उत्सव को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए उत्सव को जारी रखने के घोषित उद्देश से, सिखों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जंगल की एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार का हाल पढ़ा करता था जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का आमंत्रण मिला, तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ़ एक ही दिन खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के मेरे दो साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फ़ासला जत्थे ने क़ायदे से कतार मे चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मैं नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद में, जिस वक़्त वहाँ जत्था पहुँचनेवाला हो, सड़क के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाड़ी से आये और ठीक वक़्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक़्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तख़त थे कि मैं नाभा के इलाके मे दाखिल न होऊँ, और अगर मैं दाखिल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमें उनके नाम नही लिखे हुए थे, क्योंकि नाभा के अधिकारियों को उनके नाम ही नहीं मालूम थे। मेरे साथियों ने और मैंने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे में शामिल नही है, सिर्फ़ तमाशबीन की तरह है, और नाभा के किसी भी कानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके में ही थे तो उसमें दाखिल न होने का सवाल ही नही हो सकता था, और स्पष्टत: हम उसे एकदम छोड़कर सूक्ष्म हवा में उड़कर तो नहीं चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाड़ी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते है। बस, हम फौरन गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात में ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थों का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रक्खे गये और शाम को हमें विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गई—उनकी बाईं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फाँद दी गई थी, और हथकड़ी की जंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह

हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाज़ारों में हमारे इस तरह चलने से मुझे बारबार कुत्तों के ज़ंजीर पकड़कर ले जाये जाने की याद आती थी। चलते वक़्त ही पहले तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमें इस घटना की मज़ेदारी का ख़याल आया, और इसका भी हम मज़ा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नहीं गुज़ारी। रात को हमारा कुछ वक़्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते में शायद आधी रात को गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जबकि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गये, वह मुश्तर्का हथकड़ी और भारी ज़ंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकता था। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफ़ी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मज़ा लेना मैं पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी में रक्खे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ क़रीब-करीब पहुँच जाता था। हम जमीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक हड़बड़ाकर जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया गुज़री थी।

दो-तीन दिन बाद अपने मुकदमे के लिए हमें अदालत में ले जाया गया, और बहुत ही ऊटपटाँग ज़ाब्ते से वहाँ रोज़-रोज़ कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसन्देह अंग्रेज़ी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की ज़बान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-छोटी अर्ज़ियाँ पेश की। वह उस वक़्त उनपर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाक़ायदा अपनी सफ़ाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहाँ पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमें सफ़ाई देने का ख़याल तक प्रायः बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे वाक़यात लिखे, और ख़ासकर एक अंग्रेज़ की अमल-दारी होते हुए भी नाभा-रियासत के तरीके कैसे हैं इसपर अपनी राय भी ज़ाहिर की।

हमारा मुक़दमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालांकि वह एक काफ़ी सीधा

मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज़ की अदालत उठ जाने के बाद भी हमें उसी मकान में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, क़रीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये जहाँ एक शख़्स मेज के सामने बैठा था। और वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो वही पुलिस-अफ़सर था जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है ? मुझे इत्तला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुक़दमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। ज़ाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा तो सिर्फ़ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफ़ी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन इलज़ाम लगाना ज़रूरी है। साफ़ है कि सिर्फ़ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफ़ी नहीं थे, इसलिए एक चौथे आदमी को जिसका हमसे क़तई कोई ताल्लुक न था गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुक़दमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिख था, हम नही जानते थे, हाँ हमने उसे जैतो जाते वक़्त खेत में सिर्फ देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा। किस अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुक़दमा चलाया जा रहा है ! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता का तक़ाजा था कि कुछ तो ज़ाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तला नही दी गई और हम अपनी सफ़ाई का इन्तज़ाम भी करना चाहेगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीक़ा था। अगर हमे सफ़ाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के क़ायदों में इसकी इजाज़त नहीं है। इससे नाभा के ज़ाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान मिला। हमे एक तरह की नफरत हो गई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह जमा न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख़्तसर तौर पर मगर बा-मौक़ा अपनी राय ज़ाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाक़यात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुक़दमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुक़दमे चलते रहे, और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज़ाना इन्तज़ार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गंदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफ़सोस जाहिर करदें और नाभा से चले जाने का इक़रार लिख दें, तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस ज़ाहिर करें? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है। बल्कि रियासत को हमसे माफी माँगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नहीं थे।

गिरफ्तारी के करीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुकदमे खत्म हुए। यह सारा वक्त इस्तग़ासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज्यादा वक़्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने में गया, क्योंकि जहाँ कही ज़रा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफ़सर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की ज़रूरत होती थी। आखरी दिन, जबकि इस्तगासे की तरफ़ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयानात दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई ख़त्म करदी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर मे फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू मे लिखा हुआ एक बड़ा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फ़ैसला इतने थोड़े से अरसे मे ही नही लिखा जा सकता था। यह फ़ैसला हमारे बयानात देने के पहले ही तैयार हो गया था। फ़ैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ़ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाक़े मे से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा थी, दी गई है।

उसी रोज षड़यन्त्र के मुकदमे मे भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सज़ा मिली। यह सज़ा छः माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सज़ा दे दी गई।

हमारे मुकदमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक हुईं, जिनसे हमें देशी-रियासतों की तर्जे-हुकूमत या देशी रियासतो में अंग्रेजों की तर्जे-हुकूमत का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वाँग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नही दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नहीं करती थी, और उसकी हिदायतों की सचमुच खिलाफ़-वर्ज़ी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौकों पर मुझे खड़ा होना पड़ा

और ज़ोर देना पड़ा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागज़ों को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था क़ायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था! बेचारा मजिस्ट्रेट बड़े पशोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था; क्योंकि अखबारों में हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हमारे जैसे थोड़े-बहुत नामी राजनैतिक लोगों के साथ यह हाल हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनके साथ तो क्या बर्ताव होता होगा ?

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ गिरफ्तारी का वाक़या मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और कोई खबर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा मे मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गई। मगर आखिर उन्हे जेल में मुझसे मुलाक़ात करने की इजाज़त मिल गई। परन्तु वह मेरी कोई मदद नही कर सकते थे, क्योंकि मै अपनी सफ़ाई भी पेश नही कर रहा था और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायँ और कोई चिन्ता न करे। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी वकील हैं, नाभा में मुकदमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी मे काफ़ी इज़ाफ़ा हुआ होगा। पुलिस ने खुली अदालत मे उनके कुछ काग़ज़ात जबर-दस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासतें पिछड़ी हुई है और उनकी हालत जागीरों की भी हो रही है, यह सब जानते हैं। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो क़ाबलियत होती है और न लोक-हित का भाव। वहाँ बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में भी नहीं आतीं। मगर उनकी नाक़ाबलियत से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदक़िस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योकि इस कारण से वहाँ के कार्यकारी मण्डल में भी कमज़ोरी रहती है, जिससे ज़ुल्म और बेइन्साफ़ी करने में भी नाक़ाबलियत से काम लिया जाता है। इससे ज़ुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक़ नही हो जाता, बल्कि हाँ इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद

हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीर की सी दशा कायम रक्खी जाती है, एकतन्त्री-पन भी ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब कानून और ज़ाब्ता ही रायज माना जाता है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) इनपर सारे बन्धन क़ायम रहते हैं, मगर एक तबदीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और क़ायदे और उनकी पाबन्दी बढ़ जाती है। इससे जागीरों में और एकतन्त्री शासन में रहनेवाले सब बन्धन सख्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी हुकूमत पुराने रिवाजों और तरीकों में बेशक कुछ परिवर्त्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती हैं। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीकों से पूरा फ़ायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीर-तंत्रता और एकतन्त्रता ही नहीं, बल्कि एक मजबूत कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पड़ती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तज़ाम एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्री शासक के पूरे अख्त्यारात थे। वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था, और फिर भी हर मर्त्तबा हमें, अपने अत्यन्त सामान्य हक़ों के छीनने की पुष्टि में, नाभा के कायदे-कानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरतंत्र और आधुनिक नौकरशाही-तंत्र के मिश्रण का मुक़ाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयाँ दोनों की शामिल थीं, लेकिन अच्छाइयाँ एक की भी न थीं।

इस तरह हमारा मुक़दमा खत्म हुआ और हमें सज़ा हो गई। फ़ैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नही, मगर इस सारभूत बात से कि हमें लंबी सज़ा मिली है हमारी झल्लाहट कुछ कम हुई। हमने फैसलों की नकलें मांगी, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाक़ायदा अर्ज़ी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिन्टेन्डेन्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें ज़ाब्ता-फ़ौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमें हमारी सजायें मुल्तवी कर दी गई थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी, और इसका कानूनी नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक था हमारी सजायें खत्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्ज़ीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह हिदायत थी कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ, और खास इजाज़त लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने

दोनों हुक्मों की नक़लें मांगीं, मगर वे हमें नहीं दी गई। तब हमें रेलवे-स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहाँ छोड़ दिये गये। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाज़े भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जाने वाली है और हम उसीमें बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नक़लें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फैसलों की नक़लें भी। उसने किसी चीज़ की भी नकल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े, मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फैसलों को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सज़ा मिली, पढ़ने का मौक़ा नही मिला। क्योंकि मुझे जानना चाहिए कि ये सजायें अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें उसी वक्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौकूफ़ी' की हालत मे छोड़ दिये गये, मगर मै इस बात का पता नही लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिख का क्या हुआ, जो दूसरे मुक़दमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उसकी मदद में किसी ज़ोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज़ न थी, और कई दूसरे आदमियो की तरह रियासती जेल में जाकर वह अंधकार में पड़ गया होगा। मगर हम उसे नही भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नही। मेरा ख़याल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले मे दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल में रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिस वाले ऐसे आदमियों को बाहर रहने देने का उसूल नहीं मानते, और इसलिए उन्होंने बनावटी इलज़ाम में हमारे साथ उसे भी फाँस लिया।

हम तीनों—गिडवानी, सन्तानम् और में—नाभा-जेल की कोठरी से एक दु:खदायी साथी संग में ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनो पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी ज़ोर की थी और शायद खतरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी, और मै सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाक़ी दोनों तो लम्बे अरसे तक बहुत गंभीर हालत में बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छः या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए कांग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पांच सौ आदमियों का एक ख़ास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की सरहद तक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे ख़याल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये और पुलिस ने झपटकर उनको पकड़ लिया और ले गई। उनके खिलाफ़ अदालत में कोई कार्रवाई न की गई। उन्हें करीब-क़रीब एक साल तक जेल में योंही पटक रक्खा, और बाद में बहुत ख़राब तन्दुरुस्ती की हालत मे वह छोड़ दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्य-कारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अंग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा, और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया? उसने जवाब मे लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाके में बिला इजाज़त न आने के आर्डर की खिलाफ़वर्ज़ी की थी। मैंने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक़ भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलो को मदद देते हुए आदमी गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैंने उस आर्डर की नक़ल मुझे देने या आमतौर पर शाया कर देने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही बर्ताव करने दूं जैसा गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाज़ा था। मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसी राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमे अपनी कमज़ोरी को छिपा लिया। क्योकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमज़ोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहाँ जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह छोड़ देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अकसर करते हैं, अक्लमदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

१७

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कॉंग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना की वृद्धि होती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ मे आगाखां के नेतृत्व में जो डेपूटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिशो से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक मे घोषणा की थी वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ, अपनी सदारत के साल मे अखिल-भारतीय कॉंग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राजी किया। भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ-साफ पता न था, ऐसी हालत मे मै नही चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूँ।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नही कर सकता था; क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। उनकी रुचि और अरुचि दोनो तेज़ थी और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' मे आते थे। हम दोनो प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नही था। मगर मै उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल दिल्लगीबाज़ थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयकर व्यंग दिल को चोट पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन मे आई तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनो की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालाँकि कई छोटी-छोटी बातो मे हमारा इख्तलाफ़ रहता था। हमारे अखिल-भारतीय कॉंग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैने एक नया रिवाज डाला था। किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद,

मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो बहुत-से ऐसे शब्द है और इनका प्रयोग इतना बहुतायत से और अक्सर ग़ैरज़रूरी होता है कि मै इसकी एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नही पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें सदर की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मैं पुराने तरीके से ही काम लूं, और खास तौर पर गाधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमे अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का ज़िक्र कॉंग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी किस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता। वह जोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मज़हबी आदमी के ज़रूरी गुण तुममें हैं, हालांकि तुम्हारा ज़ाहिरा बर्ताव और दावा इसके खिलाफ़ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर हसर रखता है कि कोई मजहब या मज़हवी के क्या मानी करता है।

मै उनके साथ हमेशा मज़हब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मै जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनो एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुःख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस क़िस्म की बहस करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुतसे मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहाँ विचारों की आज़ादी मज़हबी तौर पर नही दी गई है। विचारों की नज़र से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी ज़रा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी अक्सर नही। व्यवहार मे चाहे वे कट्टर हो, उनके यहाँ बहुत पुराने बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते है, फिर भी वे हमेशा धर्म के विषय में निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा ख़याल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आम तौर पर इतनी विशाल नही होती। मुसलमानों की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में चढ़े-बढ़े हिन्दुओं के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालाकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूँ कि इसका आंशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-

विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते हैं । इस सम्बन्ध में यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ में मज़हब नहीं कह सकते । और फिर भी कितने गज़ब की दृढ़ता उसमें है ! अपने-आपको जिन्दा रखने की कितनी जबरदस्त ताक़त ! भलेही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसाकि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वह हिन्दू नहीं रहा । हिन्दू-धर्म अपने बच्चों को उनके न चाहते हुए भी पकड़ रखता हैं । मैं एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मैं धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूँ । हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मैं पण्डित ही हूँ, चाहे मैं इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ । मुझे याद है कि एक बार मैं एक तुर्की विद्वान से स्वीज़रलैण्ड में मिला था । उन्हे मैंने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू ।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ मायूस भी । क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैं समझा था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध पण्डित होंगे ।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मैं मज़हब पर बहस नहीं करते थे । लेकिन उनमें खामोश रहने का गुण न था । और कुछ साल बाद (मैं समझता हूँ, १९२५ में या १९२६ के शुरू मे) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके । एक रोज़ जब मैं उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मैं तुमसे मज़हब पर जरूर बहस करना चाहता हूँ । मैंने उन्हे समझाने की कोशिश की । कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से बहुत जुदा हैं और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेंगे । लेकिन वह कब सुनते ? उन्होंने कहा—"नहीं, हम बातें कर ही ले । मैं समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो । मगर मैं तुम्हे बताना चाहता हूँ कि मैं ऐसा नहीं हूँ ।" उन्होने कहा कि मैंने मज़हब पर बहुतसी किताबें पढ़ी हैं और गहराई से सोचा है । उन्होंने आल्मारियाँ बताईं, जो अलग-अलग मजहबों पर लिखी किताबो से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबो से भरी हुई थी और जिनमे कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच. जी. वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबल किंग'—भी थी । महायुद्ध के दिनों में जब वह लम्बे अर्से तक नज़रबन्द रहे थे, उन्होंने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यों को पढ़ा । उन्होंने कहा कि इस सारे अध्ययन के फल-स्वरूप मैंने देखा कि कुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फ़ीसदी युक्ति-संगत है, और कुरान को छोड़कर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है । ३ फीसदी यो सरेदस्त तो युक्ति-संगत नहीं दिखाई देता है मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फ़ीसदी बातों पर साफ तौर पर सही है वह बाक़ी ३ फीसदी मे भी सही होगा ।

बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान ग़लत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने कुरान को १०० फ़ीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना न चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग का दर्वाज़ा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढ़ेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सच्चाई का क़ायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू (गांधीजी) ने उसे बड़े ग़ौर से पढ़ा है और वह ज़रूर इस्लाम की सचाई के क़ायल हो गये होंगे। लेकिन उनके दिल की मग़रूरी उन्हें इसको ज़ाहिर करने से मना करती है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कांग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कांग्रेस में और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में आते रहे और उनमें ज़ोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौड़ी होती ही गई और अनबन बढ़ती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियों पर इसका दोष नही लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गई थी उसमे ऐसा हुए बिना रह नही सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतों के जी को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि जातिगत मामले में कैसा ही इख़्तलाफ़ रहा हो, सयासी मामले मे हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूंकि उनकी-हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत या यों कहें कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी जो दोनो के लिए सन्तोषजनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से जो अपनेको जातिगत स्वार्थों के रक्षक कहलाते हैं, उनकी कोई बात मेल नही खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियों में वह यहाँ से योरप चले गये। उस वक़्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बड़े ज़ोर की कोशिश की गई थी और वह क़रीब-क़रीब कामयाबी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ होते तो कयास होता है कि मामला और ही शक्ल अख़्त्यार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था; और लाज़िमी तौर पर उन्होंने अपनेको हमारे दूसरी तरफ पाया।

दो साल बाद, १९३० में, जब सत्याग्रह-आन्दोलन जोर पर था और हमारे

भाई-बहन धड़ाधड़ जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् में जाना पसन्द किया। उनके जाने से मेरे जी को बड़ा दुःख हुआ। मैं मानता हूँ कि वह भी अपने दिल में दुःखी ही हुए होंगे। और लन्दन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफ़ी प्रमाण मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लन्दन के कान्फ्रेन्स-भवन में। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यकीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। सेहत उनकी बहुत ही बिगड़ गई थी और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन में जाकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ पाने की जो कोशिश की, और ख़ासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की ज़रूरत थी, उससे उनके आखिरी दिन और नज़दीक आ गये। नैनी-जेल में मुझे उनके मरने की ख़बर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ में लाहौर-कांग्रेस के वक्त आखिरी दफ़ा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज़ थे और उन्होने बड़े ज़ोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज़ होती जा रही है। वह खुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसन्द न था। उन्होने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर ! मैं तुम्हे चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये संगी-साथी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आन-बान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, खुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फांसी के तख़्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी !

कोकनाड़ा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक ख़ास दिलचस्पी की बात थी; क्योंकि वहीं हिन्दुस्तानी-सेवादल की बुनियाद रक्खी गई। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नही थे सो बात नही। वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यों न एक अच्छा अनुशासन-बद्ध स्वयंसेवक-दल बना लिया जाय, जो कांग्रेस की आम रहनुमाई में अपना काम करे ? उन्होने इसमें सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बड़ी खुशी से उसे मंज़ूर किया; क्योंकि यह ख़याल मुझे जँच गया था। इसकी शुरुआत कोकनाड़ा में हुई। बाद को हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े कांग्रेसियों की तरफ़ से भी सेवादल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगों ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना ख़तरनाक होगा। यह तो कांग्रेस में फ़ौजी शक्ति को घुसेड़ देना

है । और यह फ़ौजी शक्ति मुमकिन है कि कांग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबाये ! दूसरे कुछ लोगो का यह खयाल दिखाई दिया कि स्वयंसेवकों के लिए तो सिर्फ़ इतना ही अनुशासन काफ़ी है कि वे ऊपर से मिले आदेशों का पालन करते रहें । कुछ के खयाल में उन्हें कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी ज़रूरत नहीं । कुछ लोगों के दिल में भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयंसेवकों का रखना एक तरह से कांग्रेस के अहिंसा-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है । लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड़ ही गये और बरसों की मेहनत के बाद उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ्ता स्वयंसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते हैं ।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में, मुझे इलाहाबाद में एक नये ढंग का तजुर्बा हुआ । मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीख़ों के सम्बन्ध मे कुछ भूल और गड़बड़ हो जाय । मै समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था । लाखों यात्री संगम यानी त्रिवेणी नहाने आते हैं । गंगा-घाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनों तरफ़ बालू का बड़ा मैदान छोड देती है जोकि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है । अपने इस बहाव-क्षेत्र मे गंगा अक्सर अपना रास्ता बदलती रहती है । १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य ही ख़तरनाक था । कुछ पाबन्दियाँ और अहतियात लगाकर और एक वक़्त में नहानेवालों की संख्या मुकर्रर करके यह खतरा कम किया जा सका था ।

मुझे इस मामले मे किसी क़िस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर मैं पुण्य कमाना तो चाहता ही न था । लेकिन मैने अख़बारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक बहस छिड़ गई है, क्योंकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पावे । मालवीयजी ने इसपर ऐतराज़ किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो सगम पर नहाने का ही महत्व था । इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे । लेकिन हस्ब-मामूल उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढ़ा देनेवाले ढंग से इस सम्बन्ध में कार्रवाई की थी ।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं संगम पर मेला देखने गया । मेरा कोई इरादा नहाने का न था । गंगा-किनारे पहुँचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने ज़िला-मजिस्ट्रेट को

एक सौजन्य-पूर्ण आखिरी चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाजत माँगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ़ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक़्त जोश में आकर सत्याग्रही दल में शामिल हो गया। मैदान के उसपार लकड़ियों का एक जबरदस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग संगम तक पहुँचने से बचें। जब हम इस ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक निसैनी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गये। सुबहभर और दोपहर के भी कुछ घण्टे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा बीतने लगा। धूप तेज़-तेज़ होने लगी। बालू गरमाने लगी, और इधर हम सबकी भूख भी बढ़ने लगी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनों तरफ़ खड़ी थी। मैं समझता हूँ कि बाका-यदा घुड़-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरों का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ करना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होंने कदम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। घुड़-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नही कह सकता वह सही था) कि वे हमपर घोड़े फेंकेंगे, और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुड़सवारों से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहाँ बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यों न फाँद जायँ! और मैं उसपर चढ़ गया। तुरन्त ही बीसो आदमी उसपर चढ़ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डाली, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया। जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोंस दिया जहाँ कि मैं बैठा हुआ था मैं अपने पूरे रंग में था और खूब मगन हो रहा था और लोगों को उसपर चढ़ते और उसके बीच में घुसते हुए और घुड़सवारों को उन्हें हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह ज़रूर कहना चाहिए कि घुड़सवारों ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नहीं पहुँची। वे अपने लकड़ी के डण्डों को हिलाते थे और लोगों को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट न पहुँचाई। उस समय मुझे क्रान्तिकारियों के घेरे जाने के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मैं दूसरी तरफ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गई थी, सो मैंने गंगा में गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज

हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहाँ-के-तहीं बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कंधे-से-कंधा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (जरा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे, और मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को बहुत मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निकलकर उन्होंने गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख़्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देने वाला था। ख़ैर; हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को ठहर गई। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ़ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ़ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैया भी अपने-आप बच गये।

१८

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक खबर आई कि गांधीजी जेल में बहुत ज्यादा बीमार हो गये हैं जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये हैं और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम-सा साधे खबरों का इन्तजार करते थे। अखीर में संकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियाँ उन्हें देखने के लिए पूना पहुँचने लगी। इस वक्त तक वह अस्पताल में ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन दोस्तों को महदूद तादाद में उनसे मिलने की इजाजत थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नही लेजाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाक़ी सजा रद करके उन्हें छोड़ दिया। उस वक्त वह जो छः साल की सज़ा उन्हे मिली थी उसमे से क़रीब-क़रीब दो साल की काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नज़दीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वही समुद्र के किनारे एक छोटे-से बंगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ्ते वहीं गुज़ारे और मुझे बहुत अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिल गई, क्योंकि मैं वहां मजे से तैर सकता था, दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नही था, बल्कि गाँधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गाँधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हे और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय हमदर्दी नहीं तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा।

जहाँतक स्वराजियों से ताल्लुक है वहाँतक उनको जुहू की बात-चीत से गांधीजी को अपनी तरफ कर लेने में या किसी हद तक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नही मिली। यद्यपि बात-चीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस में कोई समझौता नही हो

सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारों में छपा दिये गये।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक मायूस होकर लौटा; क्योंकि गाँधीजी ने मेरे एक भी शक को दूर नहीं किया। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधार करने वाले कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कहीं चौरीचौरा जैसा काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे! इस वक्त गाँधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न वह हमारे मक़सद—ध्येय—के बारे में ही पूरी तरह निश्चित थे। हममें से बहुत से अपने मन में यह बात साथ-साथ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे हैं? फिर चाहे कांग्रेस इस मामले पर कोई बाज़ाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आज़ादी के लिए, और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अड़ेंगे या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राज़ीनामा कर लेंगे! कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की सूबा कान्फ्रेन्स म अपने उस भाषण में, जो मैंने सदर की हैसियत से दिया था, मैंने आजादी पर जोर दिया था। यह कान्फ्रेन्स १९२३ के बसन्त में मेरे नाभा से लौटने से कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेन्स में शामिल नही हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुखार में पड़े हुए लिखा था वहीं पहुँचा दिया गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस में आजादी के मसले को साफ करा लेना चाहते थे तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमी लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताक़त और उसकी शानोशौकत पर नाज़ करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयों के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने मुल्क में घुसने ही न दें। श्री० शास्त्री शाही राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लंदन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े फख्र के साथ कहा था, कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही मुल्क है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे और हमारे ख्वाबों में, अगर लिबरल कभी ख्वाब देखते हों तो, कोई चीज़ ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह ज़रूरी न था कि हम अपने मक़सद की बाबत साफ और सही फ़ैसला करलें?

लेकिन उस वक्त ऐसे खयालात थोड़े ही लोगों तक महदूद थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नही करते थे—खास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में, जोकि अपनी प्रकृति से ही कुछ हद तक अस्पष्ट और रहस्यमय होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियों की तरफ था जो सूबे की कौंसिलों और असेम्बली मे गये थे। भीतर से विरोध करने और कौंसिलो को तोड़ने की लम्बी-चौड़ी बातें मारने के बाद यह दल क्या करेगा? हाँ, कुछ मज़ेदार बातें तो हुईं। असेम्बली ने उस साल का बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आज़ादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज़ में बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व में बंगाल-कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चों की मांगो को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौंसिलों में, दोनों में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही करदी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलो में कुछ उत्तेजना पैदा हुई, स्वराजियो में थोड़ी देर के लिए अपनी फतह पर खुशी छा गई, अखबारों में अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नही हुआ। इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खत्म हो गया था और लोग बजटों और कानूनों को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थ। इसके बाद का कदम अवश्य ही कौंसिलों में जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने में अहमदाबाद में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। इस बैठक में, आशा से बाहर, स्वराजियों में और गांधीजी मे बहुत गहरी खटपट हो गई और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये। शुरुआत गांधीजी की तरफ से हुई। उन्होंने कांग्रेस के विधान मे एक खास परिवर्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक़ को और मेम्बरी से ताल्लुक रखने वाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक्त तक जो कोई कांग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि कांग्रेस का उद्देश शान्तिमय उपायों से स्वराज लेना है, मंजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गांधीजी

चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सकें जो चार आने के बजाय निश्चित मिकदार में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक़ बहुत कम हो जाता था और इसमें कोई शक नहीं कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि वह इस हक़ को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मर्ज़ी के ख़िलाफ पड़ते हैं तब वह उन हरफ़ों की शायद ही कभी परवा करते हों। मैं इसे विधान के साथ इतनी ज़बरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मंत्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच में कुछ नई बातें और हो गई जिनकी वजह से मैंने इसपर ज़ोर नहीं दिया। अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक मे देशबन्धु दास और पिताजी ने ज़ोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर में वे उसके खिलाफ अपनी पूरी नाराज़गी ज़ाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायियों की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव कसरत राय से पास हो गया, लेकिन बाद में वह वापस ले लिया गया, क्योंकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियों के उठकर चले जाने से गाधीजी पर बड़ा भारी असर पड़ा, उनकी भावुकता जग गई और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपनेको सम्हाल न सके। यह ज़ाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ हुई थी। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ कमिटी के सामने अपने खयालात ज़ाहिर किये, जिन्हें सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हिला देने वाला दृश्य था।[1]

१. यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त ग़लत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमें से एक ख़ास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने ग़लत धारणा पैदा कर दी। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से ताल्लुक रखनेवाला वह प्रस्ताव था जो मीटिंग में पेश हुआ और अख़ीर में गिर गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस तजवीज में उसके हिंसात्मक काम की तो निन्दा की गई थी लेकिन उसके उद्देश के साथ हमदर्दी जाहिर की गई थी। तजवीज से भी ज्यादा रंज गांधीजी को उन तकरीरों से हुआ जो उस तजवीज के सिलसिले में दी गई। उनसे गांधीजी को यह ख़याल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के मामले में संजीदा नहीं हैं और इसी ख़याल से वह दुखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग

मैं यह कभी नहीं समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक़ देनेवाली उस अनोखी बात के बारे में इतनी हठ क्यों करते थे ? क्योंकि वह यह तो जरूर ही जानते होंगे कि उसकी बुरी तरह मुखालिफत की जावेगी। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ ऐसे शख्स रहें जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक कार्यक्रम में ऐतबार रखते हों और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जायें। लेकिन अगर्चे कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होंने अपना संकल्प ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता करने लगे। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनों में इस मामले में उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पड़ता था कि खुद उनकी समझ में कुछ नहीं आता था कि वह कहाँ हैं और किधर जाना चाहते हैं ? उनके बारे में मैं ऐसा खयाल कभी नहीं करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसीलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद

को बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा—"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत ज़रूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस कसरत राय को भी कम राय मानना चाहिए। असल में दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। गोपीनाथ साहा वाले प्रस्ताव से मामला संजीदा हो गया। उसपर जो तकरीरें हुईं, उसका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं उन सबसे मेरी आंखें खुल गईं।...... गोपीनाथ साहा वाली तजवीज के बाद शराफत बिदा हो गई। ऐसे मौके पर मुझे अपना अखीरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों ज्यों कार्रवाई होती गई त्यों-त्यों मैं और भी संजीदा होता गया। मेरे जी में ऐसी आई कि इस दुःखमय दृश्य से मैं भाग जाऊँ। मुझे जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था उसे पेश करते हुए डर लगता था......मैं नहीं जानता कि मैंने यह बात साफ करदी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजानें गैर-जिम्मेदारी थी.........ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी कि जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह वाक़या बहुत ही पुरमानी है। उससे उस अत्यन्त महत्व का पता चलता है जो गांधीजी अहिंसा को देते हैं और इस बात का भी पता चलता है कि उसमें गड़बड़ करने को, अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप से की गई कोशिश का भी उनपर कैसा बुरा असर होता है। इसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी ग़ालिबन तह में इसी तरह के ख़यालात की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्य-नीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।

कोई ऐसा बहुत जरूरी नहीं था। वोट देने का अख्त्यार हासिल करने के लिए कुछ मशक्कत कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन वह जिस संकुचित रूप में लोगों के सामने आया उससे उसका कुछ मतलब खब्त हो गया।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गांधीजी को इन मुश्किलों का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अजनबी हालत में गुजर रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लड़ाई के खास मैदान में उनका मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। उस मैदान में उनको सहज-बुद्धि अचूक उन्हें सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरों से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। वह दिल खोल लड़ाई या सच्ची शान्ति को समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत को वह नही समझ सकते थे।

कौंसिलों के भीतर विरोध करने और लड़ाई लड़ने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलों में जाना चाहते है तो वे वहाँ सरकार की मुखालिफत करने न जायँ, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहें। स्वराजियों ने इनमें से एक भी सूरत अख्त्यार नहीं की। और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने में मुश्किल पड़ती थी।

लेकिन आखिर में गांधीजी ने स्वराजियो से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक़ हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौसिलों में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह तो राजनीति से अलहदा हो गये हैं और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनकी ताकत खत्म हो चुकी है। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को पीछे भगा दिया है; वे ही राजनैतिक मैदान पर काबू किये हुए मालूम होते थे। पिछले पंद्रह बरसों में, इस तरह की बातें समय के अनुसार मौजूँ हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई है और उन्होंने हर मर्त्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगों के खयालात के बारे में कितनी कम जानकारी रखते हैं। जबसे गांधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तबसे उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं आई, कम-से-कम जहाँ-तक आम लोगों का ताल्लुक है उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गई है। और यह सिलसिला अभीतक ज्यों का त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाओं को पूरा भले ही न कर सकें, क्योंकि आदमी की तबीयत अक्सर कमजोर होती है, लेकिन उनके

दिलों में गांधीजी के लिए मुहब्बत भरी ही हुई है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते है तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनों के रूप में उठ खड़े होते है, नही तो चुपचाप मुंह छिपाये पड़े रहते है। नेता का काम यह नही है कि वह न-कुछ में जादू की-सी लकड़ी फेरकर जनता की हलचलें पैदा करदे। हां, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उनका फायदा उठा सकता है, उन हालात से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है, लेकिन वह उन हालात को पैदा नहीं कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। जब आगे बढ़ने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं, और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते है। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गांधी जी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कोई दूसरा कारगर प्रोग्राम ही नही है। लिबरलों या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नहीं, और जो लोग आतंक-कारी हिंसा में विश्वास रखते है उनका आजकल की दुनिया में कोई स्थान नही रहा। उन्हें लोग बेकार तथा पुराने और पिछड़े हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और इससे कांग्रेस में ऊँची श्रेणियो के जो लोग है उनको डर मालूम होता है।

१९२४ के बीच मे थोड़े वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी उसके बाद मेरे पिताजी और गांधीजी मे पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ़ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे जितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनों के दिल में एक-दूसरे के लिए बहुत ज्यादा खयाल और इज्जत थी। दोनो में आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनो इज्जत करते थे ? 'विचार-प्रवाह' (Thought-currents) नाम की एक पुस्तिका मे गाधीजी के लेखो का संग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका मे हमें उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा है कि:—

"मैने महात्माओं और महान् पुरुषो की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नही मिला। और मैं यह मंजूर करता हूं कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे में भी कुछ शक है। मैं तो मनुष्यों में और मनुष्योचित गुणों तथा कार्यों में विश्वास करता हूँ। इस पुस्तिका में जो विचार-प्रवाह संकलित किये गये है वे एक ऐसे ही मनुष्य के दिमाग से निकले है और मनुष्योचित हैं। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और बल के·········

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न बल, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या

होगा ? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नही करता.........इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मजबूत पैतानों पर सीधा खड़ा हुआ, अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और तकलीफ सहने का अपना संदेश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस संदेश की प्रतिध्वनि आती है।........."

उन्होने स्विनबर्न की नीचे लिखी पंक्तिया देकर अपनी भूमिका खत्म की है:—

नही हमारे पास रहे क्या मानव ऊंचे नामी—
मानव, जोकि परिस्थितियों के हों शासक औ' स्वामी ! [१]

ज़ाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ़ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा है, बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य हैं। वह खुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीरवाले एक छोटे-से आदमी में इस्पात की-सी मज़बूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज़ है जो शारीरिक ताकतों के सामने नही झुकती, फिर चाहे ये ताकतें, कितनी ही बड़ी क्यों न हों, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती, ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ शाहीपन और ऐसी बादशाहियत ज़रूर है जो दूसरों को खुशी-खुशी से उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि वह जान-बूझकर नम्र और विनीत रहने की निश्चित कोशिश करते थे, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह ऐसे शाही हो जाते थे कि जो हुक्म निकालते वह पूरा ही करना पड़ता। उनकी शान्त लेकिन गहरी ऑखे आदमी को जकड़ लेती और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ़-सुथरी आवाज मीठी गूंज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ़ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हज़ार हो, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हे अपनी तरफ़ खींचे बिना नही रहता और हरेक सुननेवाला बोलनेवाले के साथ एक-सा हो जाने का अनुभव करता है। इस भाव का दिमाग़ से बहुत कम ताल्लुक होता था। गांधीजी दिमाग़ को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हों सो बात नही, फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग़ व

१. मूल पद्य इस प्रकार है :—

Have we not men with us Royal,
Men the masters of things ?....

तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल होती थी, और साथ ही विषय से ताल्लुक रखनेवाली भी। ग़ैर-ज़रूरी शब्दों का इस्तैमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी सोलहों आने पूरी सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड शक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ़ उनकी बाबत जो धारणायें बन गई हैं वे भी उचित आबोहवा पैदा करने में मदद देती हैं। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन धारणाओं का पता न हो और गांधीजी के आसपास की हालतो से जिसका मेल न खाता हो, वह उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सबसे ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वह अपने मुखालिफ़ों को या तो सोलहों आने अपनी तरफ़ कर लेते है या कम-से-कम उनको निःशस्त्र ज़रूर कर देते हैं।

यद्यपि गाधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ़ करते हैं, लेकिन मनुष्य की बनाई चीजों में वह कला या खूबसूरती नही देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबर-दस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूत्ति के सिवा और कुछ नही। उनमें सूंघने की शक्ति भी बहुत कम है। फिर भी उन्होने अपने तरीके से उन्हीमें जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी ज़िन्दगी को कला-मय बना दिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और खूबी लिए हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट कानामो-निशन नही। उनमे न कही नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमें उस गँवारूपन या साधारणपन का निशान तक नही जिसमें, दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे रहते है। भोतरी शान्ति हासिल करके वह दूसरों को भी शान्ति देते है और ज़िन्दगी के कँटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! लेकिन उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियाँ उनके लिए भी लागू होती हैं। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र और धुरीण वही बन जाते। जैसाकि एक अंग्रेज जज ने पीछे कहा था, वह जहाँ-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटा, वह उन लोगों की खबर लिये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ़ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। वह अपने खिलाफ़ या तो पूरी भक्ति पैदा करते थे या कड़ा विरोध। उनसे

कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसन्द या नापसन्द करना पड़ता। चौड़ा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन शहंशाहों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफ़ी मिलती थी। इटली में बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस मेल का जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी जिन्दगी के पिछले सालों में जबकि उनका सिर सफ़ेद बालों से भर गया था, उनमे एक खास किस्म की शानो-शौक़त और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत ही कम दिखाई देती है। वह मेरी तरह न थे, उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे।

मैं समझता हूं कि शायद मै उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस ओछे-पन और कमजोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ उनकी सी अजीब ताकत और उनकी-सी शानो-शौकत को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गाधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनों गाधीजी की और स्वराजियो की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो में पिता-जी के मूछें न थी और उस वक्त तक गांधीजीने उन्हे हमेशा सुन्दर मूछों-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गांधीजी चौक गये और बहुत देर तक उसे देखते रहे, क्योंकि मूछे न रहने से मुँह व ठोड़ी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हंसी हसते हुए उन्होने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबिला करना है। उनकी आँखों ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखायें बना दी थी उन्होंने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था फिर भी कभी-कभी आंखें चमक उठती थीं।

पिताजी असेम्बली के काम मे उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी में। वह उनकी कानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौजूं था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नही जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाक़िफ थे। उन्होने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में कांग्रेस में ही अ-परि-वर्तनवादियों से लड़ना पड़ा था, और इसलिए कांग्रेस के भीतर पार्टी की ताकत बढ़ाने के लिए बहुतसे ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन

पैसेवालों को खुश रखना पड़ता था। उनमें से कुछ को तो स्वराजी उम्मीदवार होने के लिए भी कहा गया था। एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाजुक कला है जिसके जरिये गरीबों से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते हैं कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेंगे !

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज ही जरूरत पड़ती थी कि दूसरों से और ज्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायँ। और कोई भी उसूल या प्रचार की प्रचंड आकांक्षा इन समझौतों से सुरक्षित नहीं रह सकती थी। धीरे-धीरे पार्टी का मिजाज और उसका अनुशासन बिगड़ने लगा और उसके कमजोर तथा मौके से फायदा उठानेवाले मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गई थी कि हम "भीतर जाकर मुखालिफ़त करेंगे"। लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमजोर भाइयों के रास्ते में तरह-तरह के तरीकों से खास रिआयतों और ऊँचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे। उन्हें सिर्फ इन चीज़ों में से जिसे वे चाहें उसे चुन लेना था। उनकी लियाकत, उनकी मीठी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफें होने लगीं। उनके चारों तरफ एक आनन्द-मय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजिस्टों का आम लहजा नीचे गिर गया। कोई शख्स किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ़ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होंने कहा, मैं मड़े हुए अंग को काट फेंकूगा। लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था। कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में कार्यकारिणी के मेंबर। उनमें से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम रक्खा प्रति-सहयोगी। इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी में इस्तैमाल किया था। इन दिनों में तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगों के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना-चक्र ने जो शक्ल अख्त्यार की उससे पिताजी व देशबंधु दास को कुछ हद तक नफ़रत हो गई। कौंसिलों और असेम्बली के अन्दर उन्हें अपना काम बेफायदा-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानों उनकी

इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा बढ़ रहा था, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे, अब सूबे की सरकारों में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदों पर पहुँच गये थे। १९२१ में हमें इस बात का फ़ख्र था कि हमें एक ऐसी सरकार ने गैर क़ानूनी क़रार दिया है और वही हमें जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने काँग्रेसी भी थे। भविष्य में हमे यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों में हमारे अपने पुराने साथी ही हमें गैर-क़ानूनी करार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलों से कहीं ज्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमज़ोरियों को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय। वे हमारे तरीकों से भली-भाँति वाक़िफ थे तथा जन-समूहों और उनके मनोभावों का भी उन्हें कुछ तजुर्बा जरूर था। दूसरी तरफ़ जाने से पहले उन्होंने नाजियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियो का दमन करने में वे इन तरीक़ों से अनभिज्ञ पुराने हाकिमो या लिबरल मिनिस्टरों से कही ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगाँव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोण्डी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नही आया। मुझे उसमें ज़रा भी स्फूर्ति नही मिली। जलसा खत्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मै फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी का कार्यकारी मंत्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओं के बावजूद धीरे-धीरे मै कांग्रेस का अर्द्ध-स्थायी मंत्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौज़ी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हींके पास जा पहुँचा। हम लोगों ने हिमालय के भीतर डलहौज़ी से चम्बा तक का सफर किया। जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुककर बैठे रहे, उनके मुंह से एक शब्द तक न निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुःखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह

एक शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था यकायक उन्हें छोड़ कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड़ गया ! वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था, वह तथा देशबंधु दोनो ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेन्स मे देशबंधु ने जो अखीरी भाषण दिया वह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलाते डलहौजी पहुँचे, वहाँ से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहाँ से कलकत्ता.।

१६

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ की वसन्त-ऋतु में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुखार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। मुझे शारीरिक कमजोरी से या बुखार से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ घमण्ड था और हिन्दुस्तान में आम तौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं खिलाफ़ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमज़ोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आस-पास की चीज़ों और अपने रोज़-मर्रा के कामों से अजीब विराग-सा महसूस करता था और उन्हें काफी दूरी से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल मे मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मेरा दिमाग़ जितना साफ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सब लोगो को हुआ होगा जिन्हें सख्त बीमारी में होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तैमाल उसके संकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजुर्बे का मुझपर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज्यादा स्पष्टता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माकूल जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं जिन्दगी और राजनीति दोनों मामलों को मज़हबी निग़ाह से देखने के दिन-पर-दिन ज्यादा ही खिलाफ़ होता गया। मैं अपने उस तजुर्बे की बाबत ज्यादा नही लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं आसानी से ज़ाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत ही हलकी छाप रह गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक उसी विरक्त भाव से किया।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताक़त के बाहर थीं और जिनमें मैं फिट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्त्तनों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल बात थी हिन्दू-मुसलमानों के ताल्लुक़ात में दिन-पर-दिन ज्यादा बढ़नेवाली खराबी, जो खास तौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रही थी। बड़े-बड़े शहरों में कई दंगे हुए, जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी थी। शक और गुस्से की आबोहवा ने ऐसे नये-नये झगड़े पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममें से ज्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इससे पहले झगड़ा पैदा करनेवाली वजह थी गो-कुशी और वह भी खासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारों के भिड़ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ें जिनमें रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछले रंज की याद दिलाता था जिससे रंज और आँसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमें बुराई के ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पा नहीं हो सकते थे, लेकिन खुश-किस्मती से ये त्यौहार तीस साल में सिर्फ़ एक दफ़ा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत बदी ९ को मनाई जाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताबिक कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज के वक़्त बाजा बजाने या ज़रा भी आवाज़ आने पर मुसलमान ऐतराज करने लगे—कहते, इससे नमाज़ मे खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी मसजिदें है और उनमें हर रोज पाँच मर्तबा नमाज़ पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वग़ैरा के जलूस भी शामिल है, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक़्त मौजूद रहता था। खास तौर पर जब मसजिदों में शाम को होनेवाली नमाज के वक़्त जलूस निकलते और बाजों का शोरगुल होता तब ऐतराज़ किया जाता था। इत्तिफ़ाक से यही वह वक़्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते है तथा मन्दिरों के घंटे बजते है। इसी आरती-नमाज़ के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचंभे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के जज़बात का आपस में थोड़ा-सा खयाल करके और उसके मुताबिक थोड़ा-सा इधर-उधर कर

देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतना कड़वापन पैदा हो और दंगे हों; लेकिन मजहबी जोश तर्क, विचार या आपसी खयाल से कोई ताल्लुक नहीं रखता, और जब दोनों को क़ाबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ़ भिड़ा सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत ही आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को ज़रूरत से ज्यादा महत्व दे दिया जाता है; क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरो और सूबों में और तमाम गाँवों में हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे; उनके ऊपर इन दंगों का कोई कहने लायक असर नहीं पड़ा। लेकिन अखबारों ने स्वभावतः ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरों के आम लोगों में भी फिरकेवाराना तनातनी और कटुता बढ़ती गई। चोटी के फिरकेवाराना लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायिक राजनैतिक माँगों की कड़ाई के रूप में जाहिर हुई। हिन्दू-मुसलिम झगड़े से मुसलमानो के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी दल के है और जो असहयोग के इतने बरसों में कोनों में पीछे पडे हुए थे, बाहर निकले और इस प्रक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ़ से रोज-ब-रोज नई-नई और पहले से ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगें पेश होती जो हिन्दुस्तान की आजादी और कौमी एकता की जड़ को काटनी थी। हिन्दुओ की तरफ़ भी जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हको की रखवाली करने के बहाने वे निमित्त-रूप से सरकार के हाथो की कठपुतली बन गये। उन्होंने जिन बातों पर ज़ोर दिया उन्हे हासिल करने मे उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीको से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी काम-याब नहीं हो सकते थे। हाँ, उन्होने मुल्क का फिरकेवाराना मिज़ाज बिगाड़ने में ज़रूर कामयाबी हासिल की।

कांग्रेस बड़े असमंजस मे पड़ गई। वह तो कौमी जज़बात की प्रतिनिधि-स्वरूप थी, उन्हींका उसे खयाल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाज़िमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होने किसी की भी तरफ़दारी करने से साफ़ इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं बल्कि और फिरकों के मामलों में भी, क्योंकि अब तो सिख वग़ैरा कम तादाद वाली जातियां भी जोर-ज़ोर से अपनी माँगें पेश कर रही थी। लाज़िमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ़ के सिरे के लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक माँग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ़ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीजों की क़ीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड़ लिया। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि वे हरेक चीज़ का बाज़ार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी जिंस की सही क़ीमत से वाकिफ़ न थे, बाज़ार के सौदा करने के तरीक़े से चिपके रहे। उन्हें वह खर्च तो साफ़-साफ़ दिखाई दिया जो असली जिंस को ख़रीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था, लेकिन जिस जिस को वे शायद ख़रीद लेते उसकी असली क़ीमत की वे कुछ भी क़द्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की नुक़्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढने के लिए तो दूसरों के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना प्रायः दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं—कसूर हमारे खयाल का या काम में किसी किस्म की गलती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगो ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सरकार को और फिरकेवाराना लीडरों को दोष दिया। फिरकेवाराना लीडरों ने हमारा क़सूर बताया। इसमें कोई शक नही कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उसके साथियों ने अड़चनें डालीं, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमे कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा से साम्राज्यों का तरीक़ा रहा है, और उनकी इस नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगों का वे उससे शोषण करते हैं उनके ऊपर, शासको की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उसपर कोई अचम्भा नहीं होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करनी या पहले से ही उसका इन्तज़ाम न कर लेना, खुद हमारे विचारों की ही एक ग़लती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तज़ाम करें? यह तो तय है कि दूकानदारों की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्हींकी चालों से काम लेने से कुछ फायदा नहीं हो सकता; क्योंकि हम कितना भी क्यों न दें, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल

सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगों में कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एकसाथ चढ़ाई नही कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे की भाषा में ही सोचें और तय करें कि उसी में सिर्फ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेंगे, उसका सुधार या 'भारतीय करण' कर लेंगे, तो फिर संयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा। क्योंकि उस हालत में हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर क़ाबू रखने वाली पार्टी या शक्ति का लाज़िमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको जो इनाम चाहती है देती है। हाँ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढाँचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिलकुल दूसरे सामाजिक ढाँचे की बात सोच-कर ही हम संयुक्त उपाय की मजबूत नींव डाल सकते है। हमारी आज़ादी की माँग की तह में जो ख़याल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगो को यह महसूस करा दें कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी संस्करण नही चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे, और 'डोमिनियन स्टेटस' के मानी यही है। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी किस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड़ रहे है। इसमें कोई शक नही कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक आज़ादी ही थे। उसमें आम लोगों के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल शामिल न थी, लेकिन उसके यह मानी ज़रूर थे कि रुपये-पैसे-सम्बन्धी आर्थिक जंजीरें, जो हमें लन्दन शहर से जकड़े हुए है, दूर हो जायँगी और उनके दूर हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूँ कि मेरे ख़याल में राजनैतिक आज़ादी भी हमें अकेली नही मिलेगी, जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आज़ादी को भी लेती आवेगी। लेकिन हमारे करीब-क़रीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिलाशक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तंग दायरों में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही ख़याल होता था। इसीसे वे लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा क़ाबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नहीं सकते थे। क्योंकि सीधी लड़ाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यतः सुधारवादी था, और वह समय

बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या फिरकेवाराना मसला सुधारवादी तरीक़ों में सन्तोष-जनक रूप से हज़म हो सकता था। हालात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, योजना निर्माण करके, क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं में ऐसा कोई न था जो इन माँगों को पूरा करता।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक ज़हर को फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का उनकी रोज़मर्रा की तकलीफ़ों से कोई ताल्लुक दिखाई नहीं दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना कमज़ोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ़ दूसरे कामों के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय में फिरकेवाराना लीडरों को इस काम में कोई मुश्किल नहीं पड़ती थी कि वे इसी जज़बे को मज़हब के नाम पर उभाड़कर उसका इस्तैमाल करे। ताहम यह बात बड़ी अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगों को मज़हब के नाम पर उन प्रोग्रामों और माँगों के लिए भी जनता की हमदर्दी काफ़ी हद तक मिल गई, जिनका जनता से ही नहीं, निचली मध्यम श्रेणी के लोगो से भी कोई ताल्लुक़ न था। हरेक फिरकेवाराना जमात जनता से ही जो भी फिरकेवाराना माँग पेश करती है उसकी जाँच किये जाने पर अख़ीर में यही मालूम होता है कि वह माँग नौकरियों की माँग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती है। बेशक, यह माँग भी की जाती है कि कौंसिलों में, जोकि राजनैतिक ताक़त का मुकाम है, स्पेशल और ज्यादा जगहें दी जायँ, मगर इस माँग का भी यही मतलब है कि इससे खासकर दूसरों से बड़े बनकर उन्हें अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी सियासी माँगों से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी के ऊपरी तह के थोड़े-से लोगों को कुछ फ़ायदा पहुँचता था। लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नई अड़चने पैदा होती थी। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन माँगों को अपने मज़हबी फिरके के आम लोगों की माँग के रूप में दिखाया जाता था। असल मे उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मज़हबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान में आये और उन्होंने जो बहुत-सी कार्रवाइयाँ कीं वे असल में जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नहीं की जितनी राजनैतिक तरक्क़ी को रोकने के लिए कीं। राजनैतिक मामलों में उनसे हमें हमेशा मुखालफ़त की ही

उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह खासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध में इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम फिरकेवाराना लीडरों ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बातें कहीं और की। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आज़ादी की, उन्हें ज़रा भी परवाह नही है। हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता यद्यपि ज़ाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक नही था। चूँकि वे कोई असली उपाय नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही "सत्यानासी" हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों के हक़ों में खलल डालने वाली हर तजवीज़ के मामले में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के फिरकेवाराना नेताओ ने ऐसी बहुत-सी बातें कही और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो रूप में उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ी-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बडी थी, जिनमें बहुत-से काबिल शख्स भी थे। इतना ही नही, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस मे शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नैशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने फिरकेवाराना मुसलमान नेताओ का मुकाबिला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगों में से थे और उनमे कोई ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न था। वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और आम लोगो से उनका सम्बन्ध हट गया! बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के आम लोगों के पास कभी गये ही नही। उनका तरीका अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिंगें करके आपसमें राज़ीनामा कर लेने और पैक्ट करने का तरीक़ा था और इस खेल में उसके रक़ीब यानी फिरकेवाराना नेता उनसे कही ज्यादा होशियार थे। इन फिरकेवाराना नेताओं ने नैशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन उसूलों के लिए वे शुरू में अड़े थे उनको वे इन से एक-एक करके छुड़वाते गये। नैशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे न ज्यादा

हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज नहीं रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाकी नहीं रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का लंगर रहा है और वह है शामलात चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये लेकिन अपना लंगर वही छोड गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होने अपनी जमात बनाई थी उन सबको वे खो बैठे। इन्ही उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फ़ख्र के साथ अपने जहाज के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमे से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नही रहा।

शख्सी हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कांग्रेस के अहम नेताओं में से है, लेकिन जमात की हैसियत से नैशनलिस्ट मुसलमानो के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी का अखीरी अध्याय पिछले साल, १९३४ मे, ही लिखा गया है। १९२३ में और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे फिरकेवाराना लोगो के मुकाबले में लड़ाकू ढंग भी अख्त्यार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौकों पर गांधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ माँगो को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन माँगो की मुखालफत बडी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालो मे आपस मे बात-चीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशे की गई। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनो के नाम से मशहूर हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन की छाया मे दिल्ली मे हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे; क्योंकि समझौता बहुमत से नही हो सकता था। वह तो

वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी फिरकेवाराना नेता वाक़ई निपटारा चाहते भी है या नहीं ? उनमें से बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रतिगामी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज्यादा गहरीं थी और वे महज शख्सों की खराबी की वजह से ही नही थी! अब तो सिक्ख भी अपने फिरके की माँगें जोर-जोर से माँगने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब में भी एक ग़ैरमामूली और विकट तिकोना खिंचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और वहाँ हरेक फिरके में दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मीदारों के व बंगाल मे हिन्दू-ज़मीदार और मुसलमान-किसानों के किस्से फिरकेवाराना बुरके में सामने आये। पंजाब और सिंध में साहूकार और रुपयेवाले लोग आम तौर पर हिन्दू हैं और कर्ज़ से दबे हुए लोग मुसलमान खेती-हर। वहाँ कर्ज से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों के खिलाफ़ जो भाव होते हैं उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आम तौर पर मुसल-मान ग़रीब थे और मुसलमानों के फिरकेवाराना लीडरों ने ग़रीबो मे अमीरों के खिलाफ जो बुरे भाव होते हैं उसका इस्तैमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से ग़रीबों की भलाई का क़तई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इसकी वजह से फिरकेवाराना मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर आम लोगों के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताक़त भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगों के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौकों पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हें मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फिरकाबन्दी के मसलों में हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रंज की बात तो यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नहीं किया। हो सकता है कि यह बात बढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गों के झगड़ों की शक्ल अख्त्यार करले, लेकिन अगर वह वक़्त आया तो आजकल के फिरकेवाराना लीडर, जो फिरके के अमीरों के प्रतिनिधि हैं, दौड़कर अपने भेद-भाव को मिटा देंगे जिससे कि वे मिलकर अपने वर्ग के बैरी का मुकाबला कर सकें। यो तो जुदा हालतों में भी इन जातिगत झगड़ों को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल

न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बड़ी शर्त है—कि तीसरी पार्टी न मौजूद हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हो पाया था कि इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। यों और दंगो को देखते हुए यह दंगा कोई बड़ा दंगा न था, क्योंकि उसमें हताहतों की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने घर के शहर में इस तरह के दंगे के होने से मुझे रंज जरूर होता था। मैं दूसरे लोगों के साथ इलाहाबाद दौड़ पड़ा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दंगा खत्म हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढ़ा और मुकदमेबाजी चली वह बहुत दिनों तक बनी रही। मैं यह भूल गया हूँ कि यह झगड़ा क्यों हुआ ? उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद मे रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टण्टा हो गया था। रामलीला के उत्सव में बडे भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदो के सामने बाजा बजाने में कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगों ने रामलीला मनाना ही छोड़ दिया। करीब- करीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नही हुई है। यह त्यौहार इलाहाबाद जिले के लाखों लोगों के लिए साल-भर में सबसे बड़ा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दुःखद याद-भर रह गई है। बचपन में जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-भर से तथा दूसरे कसबों से लोगों की भारी भीड़ें उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दुओं का था, लेकिन वह खुलेआम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने के लिए भीड़ में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ़ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनो बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया तथा जुलूस और स्वाँगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे मे मेरी रुचि का माप-दंड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक्त भी मैंने यह देखा कि आदमियो की भारी भीड़ उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह वक्त मौज करने का वक्त था, और अब आठ या नौ बरसो से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौका नहीं मिलता। उनकी जिन्दगी मे रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन साल में उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज़ बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक मजहब और मज़हब की स्पिरिट को ऐसी बहुतसी बातों के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ़, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए हैं !

२०

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन रोज़-ब-रोज़ इस काम से मेरी तबीयत उचटती-सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफ़ी वक्त और काफ़ी ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियों का भी सद्भाव मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराज़गी को भूलकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ़ से घिरा हुआ हूँ और कोई वाकई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अड़चनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़गे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राज़ी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे में जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकने वाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनों के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करने वाली योजनाओं की इजाज़त न थी। जो योजनायें कानून के मुताबिक की जा सकती थीं उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामने बहुत बड़ी जिन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्संघटन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ़ को दबाना हो या गिराना हो तब जरा भी ढील और गलती नहीं रहती। इन दोनों कामों में सरकार के रुख की दुभाँत देखने लायक़ होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक रखने वाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते हैं, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों में ही नहीं बल्कि पब्लिक मामलों में भी बिलकुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कोई खयाल नहीं करते थे। उसे तो इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमों पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमों की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारी-पन और माँ-बाप-पन के थोड़े-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हद तक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की ज़रूरत को कोई भी महसूस नही करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज़ से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है क़र्ज़ देने वाले बोहरे की निगाह। आया क़र्ज़ की क़िस्तें वायदे पर अदा हो रही हैं ? आया म्युनिसिपैलिटी क़र्ज़ अदा करने की ताकत भी रखती है ? उसके पास काफ़ी रोकड़-बाकी है या नहीं ? ये सब सवाल ज़रूरी और माकूल हैं, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने हैं—जैसे तालीम, सफाई वगैरा, और वह महज एक ऐसी अंजुमन नहीं है जिसका काम रुपये क़र्ज़ लेकर उन्हें तयशुदा मियादों पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसि-पैलिटियाँ शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन वे थोड़े-से काम भी रुपये की तंगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते हैं और आम तौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई जाती दिलचस्पी नहीं, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलों मे पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्रान्ट मिलती हैं।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरो को दो हिस्सों में बाटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर, दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बंगले-बंगलियों का रकबा। इन हरेक बंगलों में काफ़ी बड़ा अहाता या बाग भी होते हैं। इस रकबे को अंग्रेज़ आम तौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज़ अफ़सर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्ही सिविल-लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ खर्च जितना शहर खास पर करती हैं उससे कहीं

ज्यादा सिविल-लाइनों पर करती हैं; क्योंकि सिविल-लाइनों के कही बड़े रकबे में ज्यादा सड़कों की ज़रूरत होती है। इन सड़कों की सफ़ाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तज़ाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमे नालियों का, पानी पहुँचाने का और सफ़ाई का इन्तज़ाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर ख़ास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और, बिला शक, शहर के गरीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवाह ही नही की जाती। शहर खास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं और उसकी तंग गलियो में रोशनी का इन्तज़ाम ज्यादातर बहुत नाकाफ़ी होता है। उसमें नालियो और सफाई का भी काफी माकूल इन्तज़ाम नहीं होता। शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नही करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी ऐसा कोई नतीजा नही निकलता, क्योंकि करीब-करीब सभी बड़े और छोटे-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनों में ही रहते है।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक ग़रीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और कुछ सुधारो के कुछ काम करने के लिए मैं ज़मीनों की कीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज पेश की त्योंही एक सरकारी अफ़सर ने उसकी मुखालफ़त की। मैं समझता हूँ कि वह अफ़सर ज़िला मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना ज़मीन के कब्जे के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व क़ानून हैं उनके ख़िलाफ पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-लाइन के बंगलों में रहनेवालों को ज्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है, तमाम चीजों की—जिनमें खाने की चीजें भी शामिल हैं—कीमतें बढ़ जाती है और जिसका बहुत ज्यादा बोझ ग़रीबों पर आकर पड़ता है। और सामाजिक दृष्टि से सबसे ज्यादा अनुचित और हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटीयों की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था जो बड़ी मशक्कत के साथ पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज्यादा तेज़ी से या दूसरी तरफ़ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ़ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमें से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरों में न तो

कल्पना-शक्ति ही थी, न तबदीली या बेहतरीन करने की धुन। पुराने तरीक़े काफ़ी अच्छे हैं, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो मुमकिन है कि पूरे न पड़ें? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन नीरस रोजमर्रा की बातों के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक बात ऐसी जरूर थी जिस-पर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरों में नया जोश पैदा कर देगी; और वह थी नौकरियों तथा ठेके वग़ैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम में अच्छाई नहीं बढ़ती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों की नुक्ताचीनी करते हैं और उनकी बहुत-सी कमियों की तरफ़ इशारा करते हैं, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री संस्थायें हिन्दुस्तान के लिए मौजूं नहीं हैं। उनकी कमियां तो जाहिर हैं, लेकिन उस ढाँचे की तरफ क़तई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हें अपना काम करना पड़ता है! यह ढाँचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनों की दोगली सन्तान है और उसमें दोनों की ही खराबियां मौजूद हैं। यह बात तो मंजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक संस्थाओं पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख़्त्यार जरूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-सस्थाओं के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतों का खयाल रखने वाली हो। जहाँ ऐसा न होगा, वहाँ या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-सस्था में रस्साकशी होगी या मुकामी संस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल में स्थानिक संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायगी। लेकिन तारीफ़ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नहीं होगी! अख़्त्यार तो उसीको होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी! जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालों को खुश रखने की नहीं; और जहाँतक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ़ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखने वाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी आते हैं—खास तौर पर इसलिए, क्योंकि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का सबसे ज्यादा जाहिर काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक संस्थाओं के लिए वोट देने का हक़ भी थोड़े ही लोगों तक महदूद है। वोट देने का यह अख़्यार और भी ज्यादा बढ़ाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरों के कार्पोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले ख़ुद कार्पोरेशन में वोट देने का अख़्यार ज्यादातर लोगों को देने का प्रस्ताव गिर गया था। ज़ाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से ख़ुश थे और वे उसमें हेर-फेर करने या उसे ख़तरे में डालने की कोई ज़रूरत नहीं समझते थे।

वजह कुछ भी हो, लेकिन यह बात ज़रूर है कि हमारी स्थानिक सस्थायें आम तौर पर कामयाबी और क्षमता के चमकते हुए नमूने नहीं हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत में भी बहुत आगे बढ़े हुए लोकतन्त्री देशों की कुछ म्युनिसिपैलिटियों से टक्कर ले सकती हैं। आमतौर पर उनमें भ्रष्टता नहीं है। महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी ख़ास कमज़ोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब ग़लत हैं। यह सब स्वाभाविक है, क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे सुविज्ञ लोकमत और ज़िम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमें हुकूमत का सर्व-व्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातों की ज़रूरत है वे नहीं पाई जातीं। आम जनता को तालीम देने का कोई इंतजाम नहीं है; न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनाई जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत में पब्लिक का ख़याल शख़्सी या फिरकेवाराना या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलों की तरफ़ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इंतज़ाम में सरकार की दिलचस्पी इस बात में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं। जिन पाठ्य पुस्तकों में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में नही पढ़ाने दिया जाता। इतना ही नही, उनमें राष्ट्रीय नेताओं की तस्वीरें भी नहीं लगाने दी जातीं। म्युनिसिपैलिटियों से राष्ट्रीय झण्डा उतारना पड़ता है, न उतारें तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबों की सरकारों ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशनों और म्युनिसिपैलिटियों में जितने काँग्रेसी नौकर हों उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन संस्थाओं पर सरकारी दबाव काफ़ी होता है; क्योंकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को तालीम वग़ैरा के लिए जो इमदाद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन

कहीं-कहीं तो—ख़ास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—क़ानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और सियासी हलचल में जेल गये नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज़ राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख्स की लायक़ी या नालायकी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी-सी मिसालों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे ज़िला-बोर्डों को कितनी आज़ादी मिली हुई है और उसमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है। यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इन राजनैतिक मुख़ालिफों को तमाम म्युनिसिपल और ज़िला-बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में क़रीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौक़ों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसीको शक नहीं हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन शख्स शामिल हैं। इन लोगों में जोश है, आगे बढ़ने की ताक़त है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के लिए अपने काम के लिए आदमी ढूंढने का सबसे अच्छा सामान इन्हींमें मिल सकता था। फिर भी सरकार ने कानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ़ उन्हींको सज़ा मिले बल्कि उन लोगों को भी जो उनसे हमदर्दी रखते हैं। सरकार खुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढ़ाती है जो बिलकुल जी-हुजूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक संस्थायें ठीक तरह से काम नहीं करतीं; और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक संस्थाओं के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात में कोई ऐतराज़ नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखाकर, कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गांवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह वर्षों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी ज़िम्मेदारियां झेलनी पड़ी हैं और आख़िर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताक़तवर और सुरक्षित है। और यह नहीं कि उसमें उन्हें कामयाबी भी न मिली हो। लेकिन तालीम के इस कड़े क्रम ने उन्हें

आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताक़त दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की स्पिरिट से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करने वाली तालीम ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी बहुत-से नामाकूल, बेवकूफ़, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और हैं। लेकिन इस बात में भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसतन कांग्रेस-कार्यकर्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुक़ाबले मे ज्यादा होशियार और सजीव साबित होगा ।

इस मामले का एक और भी पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारों ने नहीं समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का खुशी से स्वागत करते हैं जो सरकार कांग्रेस-कार्यकर्ताओ को ही कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तो को रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम है कि वे क्रान्तिकारी नहीं होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की ज़िन्दगी और हालतों को शुरू कर देते हैं। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलो में फँस जाते है। बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग़ से ओझल होने लगते है और उनमें जो थोड़ा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चरबी चढ़ने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यश्रेणी के कार्यकर्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी खयालों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फँसने पावें जो उन्हें कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों ।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है; क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा ज़रूर कायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहाँ अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नही कर रहा हूँ। मै ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मै कोई कहने लायक तबदीली तो करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफ़ा देना

चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरों ने मुझपर जोर दिया कि मैं चेयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियों ने मेरे साथ हमेशा शराफ़त व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के अखीर में मैंने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसन्त-ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गईं। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रहीं। उस साल कांग्रेस कानपुर में हुई थी। मुझे मुद्दत तक दुःखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी कांग्रेस का प्रधान-मंत्री था।)

डाक्टरों ने सिफारिश की कि कमला का इलाज स्वीज़रलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसंद आई; क्योंकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चहता था। मेरा दिमाग साफ नहीं था। कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीज़ों को और अच्छी दृष्टि से देख सकूँगा और अपने दिमाग के अन्धेरे कोनों में रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और हमारी बेटी। उसी जहाज में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत एस० पण्डित भी गय। उन लोगों ने अपनी योरप-यात्रा का इंतज़ाम हम लोगों के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

२१

योरप में

मुझे योरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप में छः या सात महीना या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग़ दोनों के लिए चैन व आराम का वक्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा में और मोन्टाना के पहाड़ी सेनेटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग योरप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके आस-पास चारों ओर बरफ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन संसार से बिलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें खास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज़ दूर से देखने वाला एक तमाशबीन बन गया था जो अखबार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझकर उनपर ग़ौर करता था, नये योरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज्यादा आज़ादाना मानव-सम्बन्धों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावत मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाड़ा आते ही, जाड़े के खेलों में मेरा मन लग गया। कुछ महीने तक इन खेलों में ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हींमें मैं लगा रहा। बरफ़ पर एक किस्म के खड़ाऊँ पहनकर तो मैं पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फीट लम्बे और चार इंच चौड़े जोड़े को पैरों से बाँध कर बरफ़ पर चलने का तजुर्बा मेरे लिए बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक तो

मुझे इस खेल में काफी तकलीफ़ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर में मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी जिन्दगी में कोई खास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताक़त व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौक़ा मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थोड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौक़ा नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने योरप में जो एक और तीन-चौथाई साल बिताया उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाकिफ़ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊँची मंजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बुड्ढे मियाँ-बीवी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पड़े रहते थे, जिनमें दम-सा घुटता था। हर चीज़ के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफ़ी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं करते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इसकी उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखबारों की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं। वह उन्हे खींच-कर निकालते और वह कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने वक्तों की बातें किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से सटी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ दुःखभरी निगाहों से देखती-सी मालूम होती थी। किताबें और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानों वे कई दिनों और हफ्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उस तमाम जगह में शोक की छाप-सी, ह्रास की हवा-सी छाई हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सूनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं

मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा से खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पाने वाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तजाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैंने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश नहीं जाहिर की। मैं नहीं चाहता था कि मैं उनके आर्थिक मामलों के चक्कर में फँसूँ। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कहीं जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हें फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नहीं मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। यह अफ़वाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की क़ीमत गिरने पर उनको बहुत नुक़सान हुआ था।

कभी-कभी नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा में होकर गुजरते थे। जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाक़िमी क़िस्म के लोग होते थे और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नहीं फटक सकते थे। लेकिन मजदूर-दफ्तर में कभी-कभी नामी ग़ैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। लाजिमी तौर पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी मे भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफ़ी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक़ रखने या उनके साथ देखा जाने में खैर नहीं है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह तो पुराने जमाने की एक यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा जमाना उनके लिए मौजूँ नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ़ से मुंह फेरकर मजे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज नहीं फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज्जत को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अखबारों में खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद

ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी ज़िन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की तालीम के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख्स जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझ पहले-पहल स्वीजरलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता आनन्ददायिनी थी। मेरा ख़याल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिलकुल हवा में रहते हैं और असली हालत से क़तई कोई ताल्लुक़ रखने से इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानों के लिए भले ही मौजूं हों या साइबेरिया के मैदानों में भी लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहाँ बिलकुल बेमौजूं थी। वह पोशाक एक क़िस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुईं थीं। इन चीजों में जर्मनी के चान्सलर बेथमैनहॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तख़त थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागज़ात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीज़ें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफा चीन मे उनका एक डिस्पैच-बक्स खो गया, जिसमें उनके बड़े क़ीमती कागज़ात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसीमें ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने कागज़ात को अपनी जेबों में ही रक्खें। इसीसे उन्होंने इतनी ज्यादा जेबें बनवाई थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफ़गानिस्तान की और उन यात्राओं में जो घटनायें हुईं उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ी, जिनका हाल बड़ा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश "आनन्द-समाज" (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होंने क़ायम की थी और जिसका मूल-मन्त्र था—"खुश रहो"। मालूम पड़ता है कि इस संस्था को लटाविया (या लियुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनका प्रचार का तरीक़ा यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो

नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गये थे, जो ज़ाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि वह अपनेको जाति, मज़हब और क़ौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के नीचे आख़िरी विशेषता "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौज़ूँ था। महेन्द्रप्रताप की बातों को ज्यादा महत्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र-से, डॉन क्विज़ोट-से, मालूम होते थे, जो ग़लती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बुढ़िया मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ़ ग़ौर से देखा, और हमारी तरफ़ अँगुली उठाकर एका-एक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ ख़ूँख़ार और डरावनी-सी मालूम हुईं। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद उनको इतना ऊँचा सुनाई देता है कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पाती। वह अपनी धारणायें बना लेती हैं, और फिर उन्हींपर अड़ी रहती हैं, चाहे वाक़यात उन धारणाओं के ख़िलाफ़ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझे कुछ वक्त के लिए इटली मे मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाकत पुराने ज़माने की राजनैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान की 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफ़ी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्व नही दिया, इसीलिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनाईं। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा अहम हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला हेजाज चले गये और कई पिछले सालों से मुझे उनकी बाबत कोई ख़बर नहीं मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी क़िस्म के मौलवी बरक़तउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में

मिला। वह बड़े मज़ेदार और बूढ़े थे। बड़े उत्साही और बहुतही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ में सेनफ़्रान्सिसको में उनकी मौत हुई। जबकि हम लोग स्वीज़रलैंड में थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन में ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होंने लड़ाई के वक्त में हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन लोगों की आपस में नहीं बनी और वे एक-दूसरे से लड़ पड़े, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वास-घात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के इन हिन्दुस्तानियों में से बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगों के उन बैठे-बिठाये पेशों में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी में इस तरह के पेशे अक्सर नहीं मिल सकते थे। अब जो उनमें हिलग गये उनमें क्रान्तिकारी-पन का कोई चिन्ह नहीं रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लड़ाई के ज़माने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमें ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की उन मनहूस गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उहींकी-सी ज़िन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लड़ाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफ़ान आया उससे विचलित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लड़ाई शुरू होने के बाद फ़ौरन ही कुछ और थोड़े-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीजरलैण्ड से जर्मनी में जा पहुँचे। इन लोगों ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आ गये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफ़ी महत्वपूर्ण हो गई थी। कमिटी पर यह महत्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार क़ुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी जज़बात को अपने फ़ायदे के लिए इस्तैमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने क़ौमी मक़सदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठावें। वे यह नहीं चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फ़ायदे के लिए अपनेको इस्तै-

माल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई ऐसी चीज जरूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हें जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि हिन्दुस्तान की आजादी का जर्मन-सरकार अहद करे और इत्मीनान दिलाये कि उस अहद पर कायम रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि जर्मनी के वैदेशिक दफ्तर ने इन लोगों से बाक़ायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होंने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगों की फ़तह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आजादी को मंजूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज्जत करती थी, और उसके प्रतिनिधियों के साथ करीब-क़रीब विदेशी राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

ख़ास तौर पर बेतजुर्बा नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्व मिल गया, उससे उनमें से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, वे बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उनमें से बहुतों को बड़े जोशीले मौकों का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी अहमियत खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल नहीं बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनो ही उनको विश्वास-पात्र नही मानते थे, उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं योरप में था, तब मुझे यह देखकर अचम्भा हुआ कि योरप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के खिलाफ़ कितनी कटुता और कितनी नाराजगी है। उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मै उनसे नहीं मिला।

लड़ाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह खात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए जिन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाक़यात हुए, उनके बाद तो हर हालत में जिन्दगी भारभूत मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को तो मुँह-माँगे इस तरह की बेफ़िक्री की जिन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान में लौट नहीं सकते थे, और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के

लिए कोई आराम की जगह थी नहीं। उन बेचारों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान में आने की इजाज़त दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। ज़ाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुतसी मुश्किलें थीं, वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी जिन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। रोज़-बरोज़ उन्हें कोई-न-कोई फ़िक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायँ और कैसे जियें?

१९३३ के शुरू से नाज़ियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नाज़ियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। जो लोग नॉर्डिक नहीं हैं, और खास तौर पर एशियायी हैं, ऐसे विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नहीं होता। उन लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान मे ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफ़दार है। इसमें शक नहीं कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है, इसीलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नही देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन मे हमें जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमे से एक चम्पकरमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे। वह कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियों ने उन्हे एक बुरासा ख़िताब दे रक्खा था। वह सिर्फ़ राष्ट्रीयता की भाषा में ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियों में से थे, जिनकी नाज़ियों से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने ख़बर पढ़ी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आम तौर पर लोग उन्हे चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बड़े मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतों में रहते। उनके कपड़े बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हें अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मज़ाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नही

छोड़ा। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो में दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड में थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नहीं लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दुःखी होने लगेंगे, और यह पावेंगे कि यहाँ उनका मेल नहीं मिलता। लेकिन इतने वर्षों के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफ़र करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैजिनी 'आत्मा का तपेदिक़' कहता था, नहीं बच सकता।

मैं यह जरूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्कों में जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगों का मेरे ऊपर अच्छा असर नहीं पड़ा, यद्यपि मैं उनकी कुर्बानियों की तारीफ़ करता था और जिन वाक़ई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फँसे हुए थे और उन्होंने जो तकलीफ़ें सही थीं और जो सहनी पड़ रही थीं, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मैं उनमें से ज्यादा लोगों से नहीं मिला, क्योंकि उनकी तादाद बहुत काफ़ी है और वे दुनिया-भर में फैले हुए हैं। उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं, बाक़ी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये हैं और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयों की खिदमत करने की उन्होंने कोशिश की वे उन्हें भूल गये हैं। उनमें से जिन थोड़े-से लोगों से मैं मिला उनमें वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पड़ा। राय से मैं कोई आध घण्टे तक मास्को में मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इंटर-नेशनल ब्रांड के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद के उनके कम्यूनिज्म में फर्क हो गया था। मैं समझता हूँ कि चट्टो बाक़ायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों में पड़े हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये हैं।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो योरप के मुल्कों में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की जुबान में बात-चीत करते, बड़े-बड़े जीवट की और अजीब बातें सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पड़ता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हाँ, हम बहुतसे यूरोपीयनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार वील न'''व में रोमा रोलां को देखने के लिए विला ऑल्गा गये। उनके पास पहली मर्त्तबा जाते वक्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि

और नाटककार की याद भी मैं बहुत बहुमूल्य समझता हूं। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नाजियों के शासन में वह जर्मन नहीं रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-संघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक धनगोपाल मुकर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका में बस गये हैं।

योरप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान में फ्रैंक बुशमैन से मिला था। यह आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट के हैं। इन्होंने अपनी हलचल के सम्बन्ध में कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यकायक मजहब बदल देना या गुनाहों का इकबाल करते फिरना और आम तौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धि-वाद के साथ मेल नहीं खाता। मैं यह नही समझ सका कि जो शख्स जाहिरा तौर पर साफ-साफ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारों का इस हद तक असर कैसे पड़ जाता है? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ्रैंक बुशमैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया में उनकी जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-पार्टी होनेवाली है उसमें मैं शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मैं वहाँ नहीं जा सका और नजदीक से इस नई भावपूर्णता को नही देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मैं इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट की बढ़ती की जितनी खबरें पढ़ता हूं उतना ही आश्चर्य करता हूं।

२२

आपसी मतभेद

हमारे स्वीज़रलैण्ड में पहुँचने के बाद फ़ौरन ही इंग्लैण्ड में आम हड़ताल हो गई थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानों खुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौका मिला। वहाँ कोयले की खानों के मज़दूरों की लड़ाई अभीतक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अन्धेरे-से में रहता था। एक खान में भी मैं कुछ समय के लिए गया। मेरा खयाल है कि वह जगह डरबीशायर मे होगी। मर्दों, औरतों और बच्चो के पीले और पिचके हुए चेहरे मैंने अपनी आँखों से देखे। इससे भी ज्यादा आँखें खोलनेवाली बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करनेवाले मज़दूरों और उनकी औरतों पर मुकामी या काउण्टी की अदालतो में मुकदमे चलते हुए देखे। इन अदालतों के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयलों की खानों के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हीं-की अदालतों में मज़दूरों का मुकदमा हुआ और उन्हें ज़रा-ज़रा-से जुर्मों के लिए कुछ खास तौर पर बनाये गये कानूनों के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुक़दमे से मुझे खास तौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे में तीन या चार औरतें ऐसी लाई गई जिनकी गोद में बच्चे थे। उनका जुर्म यह था कि उन्होने हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने जानेवाले मज़दूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान मातायें और उनके नन्हें-नन्हें बच्चे दुःखी है और उन्हें भरपेट भोजन नही मिलता, यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमज़ोर हो गई थीं। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमें उन मज़दूर-द्रोहियों के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुंह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

अमीर श्रेणी के लोग ग़रीब दर्जे के लोगों के साथ कैसा इन्साफ़ करते है, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बातें पढा करते हैं; और हिन्दुस्तान मे तो इस तरह के इन्साफ़ों के किस्से रोजमर्रा की बातें है। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि इंग्लैण्ड में भी ऐसे 'इन्साफ़' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन में भारी धक्का लगा। एक और बात जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ यह थी कि हड़ताल करनेवालों में डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमों ने उन्हें बुरी तरह डरा

दिया था जिससे वे बेचारे सब बातों को, मैं समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को ही थी। दूसरे मजदूर-संघों के उनके साथी मजदूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन गरीब हिन्दुस्तानी मजदूरों के मुक़ाबिले में फिर भी दुनिया-भर का फ़र्क़ था। ब्रिटिश खानों के मजदूरों का संगठन तो अभीतक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-भर के मजदूरों की ही नहीं, दुनिया-भर के मजदूर-संघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफ़ी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरों को इनमें से एक भी बात नसीब नहीं। लेकिन फिर भी दोनों मुल्कों के मजदूरों की उस डर-भरी, भयभीत, निगाह में एक अजीब एकसापन था।

उस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन वहाँ जो घमासान वाग्युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाजें स्वीजरलैण्ड में भी पहुँच गईं। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिलों में बाक़ायदा कांग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नैशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभीतक मैं नही समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फ़र्क था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिलों की ज्यादातर पार्टियों में कोई कहने लायक फर्क नहीं है—उतना ही फर्क है जितना ईसरी और ईसरिया के नामों में। कोई असली उसूल उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौंसिलों में एक नया और लड़ाकू रुख अख़्त्यार किया और दूसरों के मुकाबिले में वह ज्यादा गरम नीति से काम लेने की पक्ष-पाती थी। लेकिन यह फर्क तो मात्रा का फर्क था, किस्म का नहीं।

नई नैशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूपसे स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहों आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ठ सह-योग के साथ काम करती थी। पं० मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था, क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक प्रदर्शित करती थी। पुराने ताल्लुक़ात की वजह से वह कांग्रेस में जरूर बने हुए थे, लेकिन उनका दिमाग़ी दृष्टि-कोण लिबरलों या माडरेटों के दृष्टि-कोण

से ज्यादा भिन्न न था। कॉंग्रेस ने असहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढंग अख्त्यार किये थे, वे उन्हें पसन्द न थे। कॉंग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे और कांग्रेस में हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल वह नई कॉंग्रेस के नहीं थे। वह उसकी छोटी कार्य-कारिणी,—कार्य-समिति—के मेम्बर नहीं थे। और वह कॉंग्रेस के आदेशों पर भी अमल नहीं करते थे, खासकर उन आदेशों पर जो कौंसिलों के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में उनकी नीति कॉंग्रेस की नीति से जुदा थी। कॉंग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकता-पूर्ण आसक्ति थी, जैसी किसी एक संस्था से किसीका करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हद तक इसलिए भी उन्हें कॉंग्रेस से प्रेम था, क्योंकि आजादी की लड़ाई की दिशा में भी उनकी भावुकता उन्हे खींच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कॉंग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन वजूहात से उनका दिल अक्सर कॉंग्रेस के साथ रहता था, खास तौर पर लड़ाई के वक्त में; लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पो में था। लाजिमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर लगातार एक अन्तर्द्वन्द्व होता रहता था। कभी-कभी वह एक-दूसरे के खिलाफ़ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ़, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी मे पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नैशनलिस्ट है, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नही। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म के माननेवाले है। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुकेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हे अपना हितचिन्तक मित्र समझते है। वह सिर्फ़ एक ही तबदीली चाहते हैं, पर उसे ज़रूर तहेदिल से चाहते है। वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का क़तई हट जाना। उन्होने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग़ पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान के तीन-चार वर्ष पुराने पृष्ठ-भाग से, देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी खुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी

से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवायें होती आई हैं। काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय जैसी विशाल संस्था क़ायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल साफ़ दिखाई देती है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही बा-असर है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व दिल को अपनी तरफ़ कर लेनेवाला है। इन सब बातों से हिन्दुस्तान के लोगों को, खास तौर पर हिन्दुओं को, वह बहुत प्यारे हैं, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति में उनसे सहमत नहीं हैं, न उनके पीछे ही चलते हैं, लेकिन वह उनसे प्रेम तथा उनकी इज्ज़त ज़रूर करते हैं। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के नेस्टर या वृद्ध-वशिष्ठ हैं, लेकिन ऐसे जो समय से पीछे मालूम देते हैं और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से हैं। उनकी आवाज़ की तरफ़ लोगों का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते हैं उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही हैं न उसकी परवाह ही करते हैं।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी मे शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी, और उसमें कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का कड़ा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमें राजनैतिक और फिरकेवाराना दोनो मामलों में मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनों बाते उन्हें उस नई पार्टी में मिल गई जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ में नही आती कि लाला लाजपत राय क्यों नई पार्टी में शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दाहिनी तरफ और ज्यादा फिरकेवाराना नीति की तरफ था। उस साल गर्मियों में मैं जिनेवा में लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बातें वहाँ हुई उनसे तो यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के खिलाफ लड़ाकू रुख अख्त्यार करेंगे। यह क्यों हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नहीं। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट इलज़ाम लगाये, जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन में क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर इलज़ाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों के साथ साज़िश कर रहे हैं। उन्होंने एक यह भी इलज़ाम लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होंने कुछ साजिश की है। मेरा खयाल है कि उन्होंने अपने इन इलज़ामों की बाबत कोई खास बात कभी नही बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफ़सील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैण्ड में हिन्दुस्तानी अखबारों में लालाजी के

इलज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की कांग्रेस-कमिटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने में मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नहीं मालूम था, अब भी नहीं मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलज़ामों की क्या तफसील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहाँतक कांग्रेस से ताल्लुक़ है इन इलज़ामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफवाहों का उन्होंने ऐतबार कर लिया हो, और मेरा खयाल है कि हालही में मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उससे उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालांकि उस बातचीत में मुझे कोई बात ऐसी ग़ैर-मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त में ग़ैरमामूली हालत पैदा हो जाती है। उनमें एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगों का मिज़ाज बिगड़ जाता है और वे मामूली पैमानों के मुताबिक काम नहीं करते। इन चुनावों को मैं जितना ही ज्यादा देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढ़ती जाती है, और मेरे मन में उनके खिलाफ एक ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतंत्री भाव के क़तई खिलाफ है।

लेकिन, शिकायतों की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढ़ते हुए फिरकेवाराना मिज़ाज को देखकर, नैशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खड़ा होना लाज़िमी था। एक तरफ मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओं के दिलों में इस बात पर बहुत नाराज़गी थी कि मुसलमान उन-पर धौंस जमाते हैं। बहुत-से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानों का रुख बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दे नहीं तो ठीक कर दूँगा' जैसा है और वे दूसरी तरफ़ सरकार की तरफ़ मिलने की धमकी देकर ज़बरदस्ती खास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ अहमियत मिल गई, क्योंकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओं की हिन्दू-साम्प्रदायिकता मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतों का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों की यह साम्प्रदायिकता और भी जोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में मुल्क का फिरकेवाराना पारा बहुत चढ़ गया। खास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दल और बहुसंख्यक दल के झगड़े का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि मुल्क के कुछ हिस्सों में बात बिलकुल उलटी थी। पंजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनों की तादाद मिलकर भी मुसलमानों से कम थी। और इन सूबों के अल्प-

संख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानों को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों कहिए कि दोनों दलों के मध्यश्रेणी वाले नौकरी की फ़िराक में लगे हुए लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न हो जाय कि नौकरियाँ मिलने ही न पावें; और कुछ हद तक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले ज़मींदारों और साहूकारों वगैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ जिसमें हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज-पार्टी को बहुत नुकसान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये और मुसलमानों की फ़िरकेवाराना जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नैशनलिस्ट-पार्टी में जा मिले। जहाँतक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक़ था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताक़तवर मुकाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफ़ान के केन्द्र पंजाब में उनका बहुत असर था। स्वराज-पार्टी या कांग्रेस की तरफ चुनाव लड़ने का खास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबंधु दास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मज़ा आता था। किसी भी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और मुख़ालिफ़ की ताक़त को बढ़ते हुए देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताक़त लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खाईं और दीं। दोनों पार्टियों में से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नैशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली के राजनैतिक लहजे को नीचा कर दिया। आकर्षण-केन्द्र और भी ज्यादा दाहिनी ओर चला गया। स्वराज-पार्टी खुद कांग्रेस का दाहिना पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से संदिग्ध लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता में कमी हो गई। नैशनलिस्ट-पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। खिताबधारी लोगों, बड़े जमींदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगों का भला राजनीति से क्या ताल्लुक़? उस साल १९२६ के अखीर में हिन्दुस्तान में एक भारी दुःखद घटना से अन्धेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि फ़िरकेवाराना जोश हमारे लोगों को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चारपाई पर पड़े हुए थे, एक मज़हब के अन्धे ने क़त्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखों

की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत ! करीब-क़रीब आठ बरस पहले इसी आर्य-समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों की एक बहुत बड़ी जमात को एके का और हिन्दुस्तान की आज़ादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानों की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियों में उन्होंने उस ध्वनि को अपने ख़ून की एक शामिल मुहर लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा।

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ़ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का, मैं हमेशा से प्रसंशक रहा हूँ। मेरा ख़याल है कि हममें से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, शाही शक्ल, संन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आँखें और चेहरे पर कभी-कभी दूसरो की कमज़ोरियो पर आनेवाली चिडचिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ ? अक्सर वह मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

२३

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर में मै इत्तिफाक़ से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि हाल ही में ब्रसेल्स शहर में पददलित क़ौमों की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि कांग्रेस को ब्रसेल्स-कांग्रेस में अधिकारी-रूप से हिस्सा लेना चाहिए। कांग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू में हुई। मुझे पता नहीं कि यह खयाल पहलेपहल किसको सूझा? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे मुल्कों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट-दल भी काफ़ी मजबूत था। पददलित कौमों में आपस में तथा इन कौमों में और मजदूर उग्र-दलों मे एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्य-वाद नाम की चीज के खिलाफ आज़ादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लड़ाई की बाबत मिलकर ग़ौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर कम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नही थे, इसलिए जर्मनी की सरकार दूसरी ताकतों के उपनिवेशों और आधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ की क्यूमिनटंग-पार्टी के बायें दल (गरमदल) के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने ज़माने की ज़मींदारियाँ वगैरा ज़मीन में लुढ़कती नज़र आ रही थीं। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताक़तों ने भी अपनी तानाशाही आदतों को और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के एके और उसकी आज़ादी के मसले के हल हो जाने में ज्यादा देर नहीं

लगेगी। क्यूमिनटेंग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थीं उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताक़त बढ़ाना चाहती थी। ग़ालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही, जो दूसरे मुल्कों के कम्यूनिस्टों या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे, इस तरह के प्रचार पर ज़ोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मज़बूत कर सकें। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर शत्रु-दलों में नहीं बँट गई थी। उस वक्त वह बाहर से देखने वाले सब लोगों को संयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्यूमिनटेंग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पद-दलित कौमों की कान्फ़्रेंस करने के ख़याल का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस ख़याल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्युनिस्ट और कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस ख़याल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ़्रेंस के मामले में अलग, पीछे ही, रहे। लेटिन अमेरिका से भी क्रियात्मक मदद और सहायता आई, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुड़मुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि संयुक्तराज्य के ख़िलाफ़ लटिन अमेरिका के गुट्ट की रहनुमाई करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहाँ की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो काँग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक हितैषी दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स में जावा, इण्डो चाइना, फिलस्तीन, सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ़रीका के अरब और अफरीका के हब्शी लोगों की कौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मज़दूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी जिन्होंने एक युग से मज़दूरों की लड़ाइयों में खास हिस्सा लिया था, वहाँ मौदूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहां थे। उन्होंने काँग्रेस की कारवाई में काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहां कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मज़दूर-संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस काँग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही ज़ोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि काँग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में

कोई शक नहीं कि वहां एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्र-भाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टों में कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहाँ जो स्थायी संस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग कायम की गई उसका भी सभापतित्व लेन्सबरी साहब ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फ़ौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाजी पर पछताना पड़ा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नहीं किया। उन दिनों यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट-सरकार' बनने को था। अब भला मंत्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति में कैसे पैर फँसा सकते थे ? मिस्टर लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत मशगूल रहने का बहाना करके लीग की सदारत से इस्तीफा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी। मुझे इस बात से बहुत अफ़सोस हुआ कि जिस शख्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ की थी उसमें यकायक ऐसी तब्दीली हो गई।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उनमें एक तो आइन्स्टीन साहब हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन, और मेरा खयाल है कि रोमा रोलाँ भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया, क्योंकि फिलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-कॉंग्रेस के बाद लीग की कमिटियों की कई मीटिंगें वक्तन-फवक्तन भिन्न-भिन्न जगहों में हुईं। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मजदूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुँचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई ज़ाती ताल्लुक नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल नाम की मजदूरों की जो दो दुनिया हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी के साथ थी। लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे जबर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीक़ों का ज़ाती तजुर्बा हो चुका

था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा खयाल अच्छा हो गया; क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्यूनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तों की वजह से नहीं था, क्योंकि मैं कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज्यादा नहीं जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही महदूद थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टों से मैं उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हदतक गँवारू तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओं की-सी, अमीराना, तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियों की बैठकों में बहस के छोटे-छोटे मामलों में मैं मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरों की तरफ़ रहता था। किस तरीके से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगों के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसी सब तजवीजों के खिलाफ़ थे जो लम्बी-चौड़ी और आलंकारिक हों और जो घोषणापत्रों जैसी मालूम पड़ती हों। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी-सी चीज़ चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशों की परम्परा इसके खिलाफ थी। अक्सर कम्यूनिस्टों में और गैर-कम्यूनिस्टों में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियों की मीटिंगों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक और औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ़ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अंगुर' ने अपनी एक किताब में इस कान्फ़ेन्स का कुछ सनसनीदार और कहीं-कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। ग़ालिबन खुद कांग्रेस में खुफियाओं की भरमार थी। बहुतसे प्रतिनिधि भी कई खुफियादलों के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मजेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ़्रांस की खुफिया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीके से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन सज्जन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूँ। अमेरिकन ने उन्हें बड़े ग़ौर से देखा; लेकिन उन्हें यह मंजूर

करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब खुफ़िया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक़्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वग़ैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे।

साम्राज्य-विरोधी-संघ की एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक ख़त्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि चलो, नज़दीक ही डुसेल्डॉर्फ़ में सेक्को-वेन्ज़ेटी के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है उसमें चलें। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पास-पोर्ट दिखाइए। हममें से ज्यादातर लोगों के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मैं अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल में छोड़ गया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ़ तो सिर्फ़ कुछ घण्टों के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी ख़ुशकिस्मती से इस मुसीबत में मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अंग्रेज़ और उनकी बीवी। ये दोनों भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड़ आये थे। हमें वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच में शायद फ़ोन से सब बातें दर्याफ़्त कर ली गईं। इसके बाद पुलिसवालो ने बड़ी महरबानी करके हमें जाने की इजाज़त दी।

पिछले सालों में यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ़ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उसने किसी भी वक्त अपनी अलग हस्ती को नही खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रों द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज़ हो गई और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराजी का काफ़ी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ़ करने का कुछ मौक़ा दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी योरप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला और उसके बाद के कुछ महीनों तक अक्सर हम लोग साथ-साथ रहे। हम सब लोगों ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। उन दिनों सोवियट सरकार की दसवीं सालगिरह मनाई जा रही थी। हम लोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ़ तीन-चार दिन के ही लिए, गये थे; क्योंकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की

खुशी है कि हम वहां गये; क्योंकि उसकी इतनी झांकी भी काफ़ी थी। इतनी जल्दी में किया गया यह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज्यादा सिखा ही सकता था न उसने सिखाया ही, लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढांचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अखबार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी-कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमींदारी का मुक़दमा था जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्त्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे में शामिल होने के लिए साइमन साहब के चेम्बर में गया था।

१९२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और योरप में हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी योरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक़्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी योरप, टर्की और मिश्र में भी बितावें। लेकिन उस वक़्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेलीज से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और योरप में ही रहे।

२४

हिन्दुस्तान में वापसी और फिर राजनीति में

योरप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थी, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थीं। इसलिए मुझे उनकी तरफ़ से किसी किस्म की फ़िक्र नहीं रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भरा हुआ है; और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व और मनसूबों के बिगड़ जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और बज़ात खुद राष्ट्रीयता का मक़सद मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफ़ी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आज़ादी, लाज़िमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में क़दमभर है। जबतक सामाजिक आज़ादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक़्क़ी कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामलात ज्यादा साफ़ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया को जोकि हर वक्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। योरप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे ज़ोरों से अपनी ओर खीचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास योरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य में योरप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होने वाली है, तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फ़ौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को दुनिया में होनेवाली इन घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहाँतक हमसे हो सके वहाँतक तैयार रक्खें। यह तैयारी ज्यादातर खयालों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली बात तो यह थी कि हमारी राजनैतिक आज़ादी के

मक़सद के बारे में किसीको कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात सबको साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए सम्भवनीय एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और यह औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उससे बिलकुल जुदा है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ़ वह ज्यादा दूर जा-सकेगी बहुत ज्यादा होगा। कांग्रेस तो महज़ एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है जिसे दूसरे तरीकों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरुआत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मजदूर-मंडलो में और नौजवानों में ये ख़यालात कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मैं अपनेको कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मै कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवों मे रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊँ। लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे काँग्रेस की राजनीति मे घसीट लेंगी।

हम लोगों के मदरास में पहुँचने के बाद फौरन ही मै काँग्रेस के भँवर मे फँस गया। कार्य-समिति के सामने मैने कई प्रस्ताव पेश किये। आज़ादी के बारे में, लड़ाई के ख़तरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी-संघ के बारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव पेश किये। क़रीब-क़रीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये गये। काँग्रेस के खुले अधिवेशन में भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब क़रीब-क़रीब एक राय से पास हो गये। आज़ादी के प्रस्ताव का तो मिसेज़ एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इस चारों ओर के समर्थन से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह ख़याल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने उन प्रस्तावों को समझा ही नही है कि वे क्या है या उन्होंने उनके मानी तोड़-मरोड़कर बिलकुल दूसरे लगा लिये हैं। काँग्रेस के बाद फ़ौरन ही आज़ादी के प्रस्ताव के बारे में जो बहस उठ खड़ी हुई उससे यह ज़ाहिर हो गया कि असल में यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव काँग्रेस के हस्बमालूम प्रस्तावों से कुछ भिन्न थे। वे एक नये दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे। इसमें शक नहीं कि बहुत-से काँग्रेसी उन्हे पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हे नापसन्द करते थे लेकिन इतना नापसन्द नहीं करते थे कि उनकी मुख़ालिफ़त करें। ग़ालिबन ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव महज़ तात्विक हैं, उनके पास होने न होने से कोई ख़ास फ़र्क़ नही पड़ता, और उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि उनको पास कर दिया जाय और और

ज्यादा महत्वपूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आज़ादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढ़ते जानेवाले भाव को ही व्यक्त करता था।

गांधीजी मदरास में ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह जिस कार्य-समिति के मेम्बर थे उसकी बैठकों तक में भी शामिल न हुए। जबसे कांग्रेस में स्वराज-पार्टी का जोर हुआ तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हाँ, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हें वह कहाँ तक पसन्द करते थे। मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ़ है कि वह उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था उसकी वजह से उतना नहीं जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नहीं की। मेरे पिताजी तो उन दिनों योरप ही थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक्त जाहिर हो गई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बायकाट के लिए अपील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज़ की गई कि सब दलों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह ज़ाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी, वे आज़ादी के लिहाज़ से कभी बातों को देख ही नहीं सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। इसके कुछ कारण तो ज़ाती थे। उस साल के प्रेसिडेंट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी कि मैं ही सेक्रेटरी बनूँ और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तब मेरा फ़र्ज़ है कि मैं यह देखूँ कि उनके मुताबिक़ काम हो। यह सच है कि सर्व-दल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मंजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि कांग्रेस सब दलों की कान्फ्रेंस के ज़रिये या दूसरी वजह से कहीं माडरेट स्थिति की तरफ़, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस

दुविधा में पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ़ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ़ हटती। मैं चाहता था कि जहाँतक मुझसे हो सके वहाँतक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ़ न झुकनें दूँ और उसे आज़ादी के ध्येय पर डटाये रहूँ।

राष्ट्रीय कांग्रेस के सालाना जलसों के मौक़ों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स' नाम का हुआ। इसका पहला (व आख़री) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह ख़याल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपने-को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्र-वादी) समझता हूँ। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेन्स को करानेवाले साहब कौन हैं और मैं यों ही बरसाती मेंढकों की तरह पैदा होनेवाली चीज़ों से अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। अख़ीर में जाकर मैं उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलो की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायँ। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गई। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीज़ें क़ायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ़ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

काँग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि ख़बर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलख़ाँ की मृत्यु हो गई। काँग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। काँग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी ख़ास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने अनुदार तरीक़े से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुग़लों के ज़माने की शाही दिल्ली की संस्कृति में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफ़त को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और उनके रूखे-सूखे मज़ाकों को सुनकर तबीयत ख़ुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने ज़माने के रईसों के नमूने थे। उनकी नज़र और उनके तौर-तरीक़े शाही थे। उनका चेहरा भी मुग़ल-सम्राटों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख़्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और जबसे आन्दोलनकारियों की नई नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज़ इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद कर-करके लम्बी साँसें लेते हैं। अपनी शुरू की ज़िन्दगी

में हकीम अजमलखां का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के ज़माने की घटनाओं और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर एम० ए० अन्सारी का असर उन्हे कॉंग्रेस की तरफ़ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफ़त के सवाल ने, तो उनके ऊपर गहरा असर डाला और वह राज़ी-खुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीक़े के हामी हो गये। कॉंग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई बहुमूल्य खूबियाँ लाये। वह पुराने ढर्रे के लोगों और नये लोगों के बीच में दोनों को मिलानेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताक़त और मज़बूती पहुँचाई। हिन्दू और मुसलमानो को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया; क्योंकि दोनों ही उनकी इज्ज़त करते थे और दोनों पर ही उनकी मिसाल का असर पड़ता था। गांधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फ़ारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं के भावों से अनभिज्ञ हूँ। मैं किस संस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदक़िस्मती से फ़ारसी ज़बान को तो मैं जानता भी नही। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फ़ारसी संस्कृति की आबोहवा में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके ख़ास केन्द्र है। कश्मीरी ब्राह्मणों मे समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होने उन दिनो यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होंने उसे अख़्त्यार कर लिया और उनमें फ़ारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेज़ी के साथ बढ़नेवाली व्यवस्था के अनुसार भी अपनेको बदल लिया। जब अंग्रेज़ी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति के अंशों को ग्रहण करना ज़रूरी हो गया तब उन्होंने इन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फ़ारसी के कई नामी विद्वान हैं। इनमें से दो के नाम लिये जा सकते हैं, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूंढ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनों में से सिर्फ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतों में हकीमजी बहुत ही पुराण-पंथी थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नही छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा विकट परदा किया जाता था वैसा मैंने कभी कहीं नही देखा था। फिर भी हकीम-साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरतें अपनी आजादी हासिल न करलें तबतक वह मुल्क हरगिज़ तरक्की नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी की लड़ाई में वहाँ की औरतों ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही क़ाबिल-तारीफ़ समझता हूँ। उनका कहना था कि खास तौर पर टर्की की औरतों की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखाँ के शरीरान्त से कॉंग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि कॉंग्रेस का एक सबसे ताक़तवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगों को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज की कमी मालूम होती है; क्योंकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बिल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नया जीवन, जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सा मौजूद था, लोगो को आगे की तरफ़ बढ़ा रहा है। जिन दिनो मैं देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान जैसा-का-तैसा शान्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१-२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताजा, क्रियाशील और रुकी हुई शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखानों के मजदूरों में भी और किसानों में भी। मध्यमवर्ग के नौजवानों में भी और आमतौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मजदूर-संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इंडिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफ़ी तरक्की हुई थी,

बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हड़तालें अक्सर होती थीं और मजदूरों में वर्ग-चेतनता का खयाल जोर पकड़ रहा था। कपड़े की मिलों में और रेलों में काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इनमें से भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों की हलचल को क़ायम हुए देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बँट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे; कुछ तीसरी इंटरनेशनल के क़ायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ़, सुधार-वादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रांतिकारी था तथा आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई क़िस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इसमें मौका-परस्ती भी आ घुसी थी।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जागृति संयुक्तप्रान्त में और खास-तौर पर अवध में दिखाई देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभायें आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानों को हीन-हयाती मौरूसी दी थी और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दुःखमय ज़िन्दगी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो एक बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया, क्योंकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुज़ारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान खुद अपनी ज़मीन के मालिक हैं, जहाँ सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक़ रखती है। यह संघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी की विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा और शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ क़ायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेन्सें की जा रही थीं। ये संघ और कान्फ्रेन्स तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी

उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका आधिपत्य किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभायें हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट करदी जाय।

महज़ राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए और (बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जाने वाले) सर्व-दल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट में नरम-दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें गजब की क़ामयाबी हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ-वहाँ विरोधी जन-समूहों ने "साइमन गो बैक" (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका स्वागत किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ़ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई बल्कि अंग्रेज़ी के "गो बैक" ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। बस, अँग्रेज़ी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान खतम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दो से कमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और अपनी उसी भड़कन की वजह से वे चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्त्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होस्टल में ठहरे हुए थे तब उन्हे रात के अँधेरे में "साइमन गो बैक" का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशो में रहते हैं।

विधान के खास-खास उसूलो के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई। ये उसूल लोकतंत्रीय पार्लमेन्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमत वाली कौमो के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेन्स में तमाम कट्टर-से-कट्टर फिरकेवाराना जमात के नुमाइन्दे थे, उनमें किसी तरह का राज़ीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल मे वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेन्सो की तरह ही थी। पिताजी जो उस वक्त योरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त में आख़िरी तरकीब के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुक़र्रर कर दी गई। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए ज़िम्मेदार भी थे।

मैं इस कमिटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफ़सीलवार काग़ज़ी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचड़ी कमिटी ने हमारा ध्येय लाज़िमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही महदूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नज़र में तो कमिटी की असली अहमियत इस बात में थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जब कि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलों की तरफ़ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ़ के लोगों की काफ़ी तादाद थोड़े वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ़ लग जाता। इसलिए मैंने कमिटी के काम में रोड़े अटकाने के बजाय उसको जितनी मदद मैं दे सकता था उतनी मदद दी।

एक बार तो यह मालूम पड़ा कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बात तय करने को रह गई थीं और इनमें असली महत्वपूर्ण सवाल पंजाब का था, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खों का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में पंजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढंग से गौर किया और उसने इस मामले में जो सिफ़ारिशें की उनकी पुष्टि जन-संख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अंकों से की। लेकिन यह सब बिलकुल बेकार था। दोनो तरफ डर और शक का राज रहा और दोनों में जो थोड़ा-सा फ़र्क रह गया था उसे पूरा करने लिए दो-एक क़दम आगे तक नहीं बढ़ा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन लखनऊ में हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा मे पड़ गये; क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से फिरकेवाराना सवाल के हल होने में किसी किस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस बात के लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज़ किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे, जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करें। कांग्रेस आज़ादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते है वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन

में आज़ादी चाहनेवालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ़ से सम्मेलन में एक बयान दूं, जिसमे यह कहूं कि आज़ादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम फिरकेवाराना समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख अख्त्यार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आज़ादी-संघ (इंडिपेण्डेन्स फ़ार इण्डिया लीग) क़ायम करके अपने इस रुख को विधेयात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार क़ायम किये गये थे, उनमें अवध के ताल्लुक़ेदारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुक़ों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि वे नहीं छीने जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के ख़याल की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतों में उनकी मिलकियत के हकूक को विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ़ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा ग़ैर-कांग्रेसी अपने ही साथियों में सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढ़े हुए समूह थे उनके मुक़ाबिले में बड़े-बड़े ज़मींदारों का साथ पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओं के और हमारे बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मैं प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफ़ा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो संघ क़ायम किया गया है उसके संचालकों में से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होंने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग संघ का काम मज़े से कर सकते हैं, उस काम में और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आज़ादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राज़ी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनों मुझे अपना इस्तीफ़ा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्त्तबा हुई और क्योंकि कोई भी पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के ख़याल को पसन्द नहीं करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियों की कान्फ्रेन्सों और कमिटियों की मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। यहांतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहाँ मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच में साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए "गो बैक" के नारे लगानेवाली मुख़ालिफ़ भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गई और यकायक मुल्कभर में गुस्से की लहर-सी दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हज़ारों प्रदर्शन-कारियों की ओर खड़े हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ़ से भी किसी किस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जबकि वह एक तरफ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख़्स को यह खतरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन क़रीब-क़रीब हमेशा ही सोलहों आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को ज़रूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढंग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले की अनावश्यक पाशविकता से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। वे दिन वे थे जब हम पुलिस द्वारा लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उससे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल पैशाचिकता मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, ख़ासकर उतरी हिन्दुस्तान में, एक निर्जीव क्रोध फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने घृणा-योग्य हैं, कि हम अपने नेताओं की इज्ज़त की भी रक्षा नहीं कर सकते!

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नहीं लगी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गई थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। ग़ालिबन अगर ये चोट किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होती तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तों बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित रूप से यह बताना

तो मुमकिन नहीं है, हालाँकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका ज़ाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक़ उनपर किये गये हमले से जोड़ा और इस खयाल से लोगों के दिलों में जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना ज़रूरी है, क्योंकि इस बात को समझ कर ही हम पीछे होने वाली बातों को, भगतसिंह की कहानी, उत्तरी भारत में भगतसिंह को यकायक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको, समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बाते प्रेरित करती हैं, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग अच्छी तरह नहीं जानते थे और उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में करीब-करीब तीस बरस से रह-रह कर अपना काम कर रहे हैं और बंगाल में आतंकवाद के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं मिला। यह एक ऐसी ज़ाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नही कर सकता। उसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ़ और ज़ाहिर बात यह है कि यदि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी ज़ोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नही रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर ज़ोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फल-स्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के खयाल के पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये है। जिस दर्जे के लोगों में से आम तौर पर आतंकवादी निकलते हैं उस दर्जे के लोगों पर यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी हिंसा के साधन के खिलाफ़ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियाँ जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब

यह पूरी तरह महसूस करने लगी है कि क्रान्ति आतंकवाद के जरिये से नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीक़ा है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान मे और दूसरे मुल्कों में भी अब तो आतंकवाद मरा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ़ दबाना या बोतल में बन्द कर देनाभर जानता है, वह जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा के बचपन का द्योतक होता है। वह अवस्था गुजर जाती है और उसके साथ-साथ अहम घटना के रूप मे आतंकवाद भी गुज़र जाता है, मुकामी कारणों या वैयक्तिक ज्यादतियों के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहे। बिलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कोई शक नही कि उसके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनायें भी धीरे-धीरे बन्द हो जायँगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमे से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नही कि बहुत-से अब भी यह सोचते है कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए ज़रूरी हो जाय--ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे मुल्को मे ज़रूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज़ एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो; आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नही।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य के लिए लोकप्रियता प्राप्त नही की, बल्कि इसलिए प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में क़ौम की इज्जत रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गये। उनके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गाँव व क़स्बे में और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत में उनका नाम घर-घर में गूँजने लगा। उनकी बाबत बेशुमार गीत बने और उन्होंने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय कॉंग्रेस कमिटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली तकलीफ़ों को वह भुगत रहे थे। यह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई

थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आजादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहाँ देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि आया वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन में कायापलट करने की जरूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों को। इस भाषण में ऐसी कोई महत्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन वह इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंने एक चेतावनी इस आशय की दी कि हम लोगों को ब्रिटिश मजदूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी; क्योंकि मैं ब्रिटिश-मजदूरों के जो अधिकारी नेता हैं उनका प्रशंसक नहीं हूँ। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे तो आश्चर्य होता।

कांग्रेस कमिटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने हफ्तेवार अखबार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध मे एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण दिलचस्पी का विषय था।

२५

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन आगे जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके खिलाफ प्रदर्शनों का ज़ोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था, और वहाँ भी कांग्रेस-कमिटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियां की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जुलूस, सभायें और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इनमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारंभिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया, और उन्होंने खास-खास जगहों में जुलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ़ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डे और लाठी की मार पड़ी।

जुलूस, आमद-रफ्त में रुकावट पड़ने न देने का सबब ज़ाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौक़ा न दिया जाय, और जहाँतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर उन्हें अलग-अलग एकान्त रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्तज़ाम किया। क़ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियों का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, और एक बड़े फ़ासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दोसौ गज़ ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों के टापों की टपटपाहट सुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेज़ी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फ़ौरन ठीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोड़ों की जुड़ी हुई कतार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, और स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाजू की तरफ़ भागे, और कुछ तो छोटी दुकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पाटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊँ। वह हिम्मत

तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा, और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूँ; मुझसे कुछ ही गज़ की दूरी पर सब तरफ़ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने-आप ही मैं, कम नुमायाँ होने के खातिर, सड़क की बाज़ू की तरफ़ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फ़ैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ़ कुछ ही पल में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ़ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर ज़रा हटा लिया। यह भी सिर और मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो प्रहार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपड़ियाँ फूटी हुई थी। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला, वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा हो गया। एक तरफ तो कई बडे-बड़े अफ़सर इकट्ठे हो गये, और दूसरी तरफ़ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगो की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आखिरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राज़ी हो गये, और उसी रास्ते से हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होने हमपर हमला किया था और हमे मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ तफ़सील से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नही रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक़ मज़बूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी मेरा दिमाग़ ठीक-

ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा ! इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख़्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक़्त हमारा बड़ा प्रदर्शन होनेवाला था।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे अंदेशा था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अख़बारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफोन कर दिया कि सब ख़ैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फ़िक्र न करें। मगर उन्हें फ़िक्र तो हुई। और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के क़रीब, उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आखरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ हो गई, और वह १४६ मील का सफ़र पूरा करके सवेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओ से उभड़ गया, और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ हिस्सो से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफिस से बड़ा जुलूस चार-चार की लाइन में रवाना हुआ, जिसमें कई हज़ार आदमी थे। हम बड़े जुलूस मे थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने करीब आध मील लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था (यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है), और उस मैदान की एक बाजू पर हमें क़तार से खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वही खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिलकुल कोशिश नही की। उस जगह सब दूर पैंदल और घुड़सवार पुलिस, और फ़ौज भी, आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनों की भीड़ भी बढ़ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी खुली जगह में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुड़सवारो की दो या तीन लम्बी लाइने थी, जो सारे मैदान को घेरे हुए थी और हमारी तरफ़ दौड़ रही थी, और मैदान में जो कई लोग जा खड़े हुए उन्हे मारती-कुचलती हुई आ रही थी। घोड़े को छोड़ते हुए सवारों का हमला एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों-तले आ गये, दर्दनाक वाक़या न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनों के पीछे वे लोग ज़मीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे।

उस मैदान का सारा नज़ारा जंग के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस नज़ारे को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नहीं मिला; घुड़सवार फौरन हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक ही छलांग में टकरा गई। हम वहीं डटे रहे, और चूंकि हम हटते हुए नहीं दिखाई दिये, उन्हे उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार दोनों की मार और लाठियाँ खटाखट पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग़ की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ़ इतना औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मैं आधा अन्धा-सा हो गया, और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी मुझको आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोड़े पर खुद चढ़ जाऊँ। यह कितना आसान है। मगर लंबे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने, अपने सिर को मार से बचाने के सिवा, हाथ तक नही उठाया। इसके अलावा, मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ़ से कुछ भी मुक़ाबिला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायँगे।

हमें वह समय भयंकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक क़दम हमारी लाइन, टूटे बग़ैर, पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया, जिससे मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों, ने यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीब एक सौ फ़ीट पीछे फिर कतार से खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फीट के फ़ासले पर एक लाइन में खड़ी हो गई। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर करीब आधे मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडो या प्रदर्शन करनेवालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही, हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ्तर आये, और वहाँ से अलग-अलग चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इन्तज़ार कर रहे थे।

अब जब सामायिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। जिस्म का क़रीब-क़रीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अंधी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर ख़ैर थी कि मेरे किसी नाज़ुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने ख़ुशकिस्मत न थे। उन्हे बुरी तरह चोटें आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छः फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक़्त जो चोटें उनके आई उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ़ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त की ताक़त का कुछ ज्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिस-वालों, खासकर अफसरों, के चेहरों की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टों ने की, हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन चेहरों में हिक़ारत और ख़ून की प्यास क़रीब-क़रीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और उनमे हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ़ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफ़रत-भरे होंगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग़ मे कोई प्रेम भर नहीं गया होगा, और न हमारे चेहरो की सुन्दरता बढ़ गई होगी। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के ख़िलाफ़ हमें कोई शिकायत न थी; हमारा कोई ज़ाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और जो हमे इधर और उधर फेंकती जाती थी और जिन्होने हमारे दिलों और दिमागों पर बड़ी ख़ूबी से क़ब्ज़ा करके हमारी अभिलाषाओं और भावनाओं को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किस लिए करते हैं या कहाँ चले जा रहे हैं? कार्य की उत्तेजना ने हमे टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आख़िर यह सब किस लिए किया जा रहा है?—किस मक़सद के लिए?

२६

ट्रेड यूनियन काँग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। काँग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मंत्री की हैसियत से मै उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने में लगा रहा। खास तौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ खीचूँ। आजादी के सिलसिले में मदरास में हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी पुष्ट रखना था। खास तौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खीचने की तरफ था। इस उद्देश को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफर किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओ मे व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ में मैं चार सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पजाब, दिल्ली और संयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेन्सों का सभापति बना। वक्तन-फवक्तन् मैं संयुक्तप्रान्त के देहात में भी गया और कभी-कभी कारखानों के मजदूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों में सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतों के मुताबिक बदल जाता था, और जिन, बातो पर मैं जोर देता था वे उस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओ में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आजादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आजादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खास तौर से कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और पढे-लिखे लोगो में मै समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था। क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ़ थे और यही ज्यादातर निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों में प्राचीन काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई है। हमारे लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं, हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज्जती की बात है; इसलिए हमारी क़ौमी इज्जत यह चाहती है कि हम आजाद हों और हमारे

लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की बेदी पर अपनी बलि चढ़ावें। ये बातें सुपरिचित थीं। हर हिन्दुस्तानी के दिल में उनकी आवाज़ गूंज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उससे गद्‌गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तान के ही नहीं, कहींके भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशंसक कभी नहीं रहा। लेकिन यद्यपि उनमें सच्चाई ज़रूर थी, फिर भी बार-बार इस्तैमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सबसे ज्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर ग़ौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश ज़रूर आता था, लेकिन उनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहाँ और बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये वहाँ मैं तो बहुत-सी तकलीफ़ के साथ कदम-कदम आगे बढ़ा। विचार-धारा की दृष्टि से मजदूरों की ट्रेड यूनियनों का आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर १९२७ में योरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान मे बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर स्वप्नदर्शी थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स के उसूलों का असर बढ़ता जाता था और उनमें से कुछ तो अपनेको सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। योरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियट यूनियन मे जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पाँच-साला योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मेरी अहमियत सिर्फ इस बात में थी कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस में बड़े ओहदों पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी में पाई जाती थी, जिसमें हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में जमींदारी और ताल्लुकेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमे जिस सवाल का सामना करना पड़ा वह था ज़मीन का सवाल। हम लोगों ने ऐलान किया कि मौजूदा जमींदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच में किसी दूसरे की कोई जरूरत नहीं है। हम लोगों को फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ा, क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के ख़यालात की आदी नहीं थी।

इसके बाद, १९२९ में, युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी एक कदम और आगे बढ़ गई और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढंग पर अ० भा० कांग्रेस कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जब १९२९ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमें युक्तप्रान्त की तजवीज का दीबाचा मंजूर कर लिया गया और इस तरह उस तजवीज़ में समाजवाद का जो उसूल मौजूद था वह भी मंजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज़ में जो तफसीलवार कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठकों के लिए मुल्तवी करदी गई। ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० कॉंग्रेस-कमिटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावों को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से साम्यवाद की चर्चा कांग्रेस में यकायक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० कांग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बरों ने शायद यह महसूस नहीं कर पाया कि वे क्या कर रहे हैं ?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' (हिन्दुस्तान की आजादी चाहनेवालों का संघ) की संयुक्तप्रान्त वाली शाखा में सूबे के खास-खास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी; इसलिए वह साम्यवाद की तरफ और कांग्रेस-कमिटी से, जिसमे सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'आजादी-सघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मजबूत बनाकर यह चाहते थे कि आज़ादी और समाजवाद का प्रचार करने मे उस संगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक युक्त-प्रान्त को छोड़कर और कही संघ का कार्य ठीक तौर से नही चला और इससे मुझे बहुत मायूसी हुई। इसका सबब यह नही था कि देश में हमारे मददगारो की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूँकि कांग्रेस ने कम-से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कॉग्रस के संगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगो ने शुरू-शुरू में आजादी-संघ कायम किया उनमें से कुछ ने गभीरता-पूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मजबूत बनाना है; वे तो यह समझते थे कि यह सस्था तो महज इसलिए है कि कांग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पड़ता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तैमाल किया जाय। इसलिए 'आजादी-संघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज्यादा लड़ाकू होती गई त्यों-त्यों उसने तमाम

ज़िंदा-दिल लोगों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमज़ोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर ग़ायब हो गया।

१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ में मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और ऐसे दोस्तों से जो मालूम पड़ता था कि जिस बात को वे कहते हैं उसके बाबत अच्छी तरह जानते हैं, मुझे जो निजी चेतावनियाँ मिला करतीं थीं उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक क़िस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूँ। मुझे खास तौर पर दूसरी कोई चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी ज़िन्दगी रोज़मर्रा के कामों की निश्चित ज़िन्दगी नही हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मैं इस खयाल का आदी होने मे सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस खयाल के आदी होने में कामयाबी हासिल की, हालांकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसीलिए जब-जब मैं गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें खास बात मालूम नही हुई। हाँ, अगर मैं एकाएक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरो में नुकसान-ही-नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होंने मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कुछ जोश और तीखापन पैदा कर दिया। आज़ादी का हरेक दिन बेशक़ीमत मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफे मे मिला हो। सच वाकया तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भरकर काम करता रहा और अखीर में मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफ़ी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ, जो थोड़े दिनो के लिए वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योकि कोई यह नही कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है। यह आशंका तो हर वक्त बनी रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यों-ज्यों १९२८ का अखीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नजदीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग़ उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर

था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था, क्योंकि मैं आजादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राजी न था। इस बात पर वह नाराज थे। इस मामले पर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ़ जा रहे हैं। मत-भेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मत-भेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौक़े पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुःखी थे। कलकत्ते में तो मामला इस हद तक बढ़ गया कि पिताजी ने यह बात साफ़-साफ़ कहदी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मंजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीक़ा अख्त्यार करने का पूरा हक़ था। फिर भी उनके बहुत-से उन मुखालिफों के लिए वह बहुत-ही परेशानी की बात थी जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय। मेरा खयाल है कि कांग्रेस में और दूसरी संस्थाओं मे भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन खुद जिम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की जिम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी। जहाँ जिम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहाँ कार्य-कारिणी को न तो हम हटा ही सकते है न उससे जवाब ही तलब कर सकते है, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहाँ बिलाशक सीधी मार को छोडकर हमारे पास सिवा नुक्ताचीनी करने के कोई मार्ग नही और वह नुक्ताचीनी लाज़िमी तौर पर नकारात्मक होगी; फिर भी अगर हम इस नकारात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमें मौक़ा मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और जिम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हो या फ़ौजी, भीतरी हों या बाहरी। महज आंशिक अख्त्यार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग फ़ौज के मामले में करते हैं, इस बात का इक़बाल करना है कि हम सरकार का

काम नहीं चला सकते। इस इक़बाल से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख्स रहे है जो उनके बहुत-से कामों को नापसंद करते हैं और इसलिए बड़े ज़ोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन जो इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इंसाफ नहीं करता।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बात-चीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अख़ीर में वह गिर गया। ये सब बातें बड़े गोल-माल में डालनेवाली थीं और बहुत अच्छी भी नही थी। कांग्रेस के ख़ास प्रस्ताव में, जैसा कि वह अखीर में पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंजूर कर लिया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंजूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आज़ादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आज़ादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी माँग नही की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए सब कांग्रेसियों को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाज़िमी था, और उस वक्त मुल्क की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी क़िस्म की लड़ाई उस वक़्त तक कारगर नहीं हो सकती थी जबतक उसे गांधीजी की रहनुमाई न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुख़ालिफ़त मैंनें कुछ-कुछ बेमन से की थी, ताहम इस बार भी मुझे प्रधानमंत्री चुना गया। कुछ भी हो, में मंत्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूँ जो ब्रे का नामी 'विकर' करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभा-पति बैठे, मै हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मंत्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचों-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें हाजिर रहकर उसकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चले आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-कांग्रेस में शामिल होने का यह पहला ही मौक़ा था और मैं वस्तुतः एक नया आदमी था, यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मज़दूरों में जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता में काफ़ी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बातें ये थी कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी संघ से और अखिल-विश्व-शान्ति-संघ से अपना ताल्लुक जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं ? इन सवालों से भी कही ज्यादा जरूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनो हिस्सों के दृष्टिकोण में बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मज़दूर-संघ के पुराने लोगों का था, जो राजनीति में माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धों के मज़दूरों और मिल-मालिकों के झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मज़दूरो को अपनी शिकायतें दूर करने से आगे नही जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूँक-फूँक-कर क़दम रखना चाहिए। इन लोगो का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मज़दूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मज़दूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टों का या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियंत्रण में नहीं था। बंबई में कपड़ों के कारखानों के मजदूर इस दल के हाथ में थे। और उनकी रहनुमाई में बम्बई के कपड़े के कारखानों में मजदूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में गिरनी कामगार यूनियन नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी, जिसका बम्बई के मजदूरों पर प्राधान्य था। आगे बढ़े हुए दल के असर में एक और ताक़तवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मजदूरों का था।

जबसे ट्रेड यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई है तभीसे उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नज़दीकी साथियों के हाथ में रहा है और

मजदूर-संघों के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हींको है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौक़ा नहीं मिला। । यह हालत संतोषजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनके आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कांग्रेस की ताक़त को अपने काबू में करलें। इसके साथ ही साथ मामलों को बहुत ज्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ़ बढ़ रहा था। वह कमजोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज्यादातर खुद मजदूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मजदूरों को इस्तैमाल करके अपना मतलब गाँठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मजदूर-सघों में यह प्रवृत्ति साफ़-साफ दिखाई देती थी। ताहम, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मजदूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मजदूरों के आन्दोलन मे उन्होने जो सेवायें की हैं वे क़द्र के लायक़ हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहाँ पहुँचा था इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग़ चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मै इन झगड़ों से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ओहदेदारों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दलवालों ने पेश किया था, ग़ालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौका मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मै चुनाव के दिन झरिया में मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मैं उन कार्यकर्ता उम्मीदवार के मुकाबिले में अपना नाम वापस लेलेता। मुझे यह बात खास तौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नहीं किया और नया-नया ही आया यकायक सभापति की गद्दी पर पटक दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मजदूर-संघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमजोर है।

१९२८ के साल में मजदूरों के झगड़ों और हड़तालों की भरमार रही। १९२९ में

भी यही हाल रहा। बम्बई के कपड़ों के कारखानों के मजदूर बहुत दुःखी और लड़ाकू थे। उन्होंने इन हड़तालों की रहनुमाई की। बंगाल के सन के कारखानों में भी एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानों में, और मेरा खयाल है कि रेलों के मजदूरों में भी, हड़तालें हुईं। जमशेदपुर के टीन की चद्दरों के कारखानों में तो बहुत दिनों झगड़ा रहा। यह हड़ताल मजदूरों ने बहादुरी के साथ कई महीनों तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरों के साथ लोगों की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानों की मालिक थी उसने मजदूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनों साल मजदूरों में बेचैनी के साल थे और मजदूरों की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लड़ाई के बाद के साल यहाँ के धन्धों के लिए मौज के साल थे। इन दिनों उन्होने अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाया। सन या रुई के कारखानों ने पाँच या छः साल तक अपने हिस्सेदारों को जो मुनाफा बाँटा वह सौ फ़ीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ़ सौ फ़ीसदी सालाना तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके सब कारखानों के मालिकों और हिस्सेदारों की जेब में गये। मजदूरों की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मजदूरी में जो थोड़ी-बहुत तरक्क़ी हुई, वह आम तौर पर चीजों की कीमतें बढ़ जाने से बराबर हो गई। इन दिनों में जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरों में रहते थे और उनकी औरतों तक को कपड़ा तक पहनने को नही मिलता था। बम्बई के मजदूरों की हालत बहुत बुरी थी, लेकिन सन के कारखानों में काम करनेवाले उन मजदूरों की हालत तो और भी बुरी थी, जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलों से घंटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखेरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनंगी औरतें महज रोटियो पर काम करती थी, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौड़ा दरिया लगातार ग्लासगो और डंडी की तरफ बहता रहे और उसमें से कुछ हिस्सा कुछ हिन्दुस्तानियों की जेबों में भी चला जाय।

तेजी के इन सालों में कारखाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरों की हालत पहले-जैसी ही बनी रही और उन्हें कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाना उतना आसान नहीं रह गया तब सारा बोझ मजदूरों के सिर पटक दिया गया। कारखाने के मालिक पुराने मुनाफ़े को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हें काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता है तो यह रोज-गार किस तरह चले? इसीके फल-स्वरूप मजदूरों में बेचैनी फैली, झगड़े खड़े हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हड़तालें हुईं कि देखनेवाले दंग रह गये और जिनसे

कारखानों के मालिक और सरकार दोनों ही डर गये। मजदूरों के आन्दोलन में वर्ग-चेतनता आने लगी थी और विचार-धारा तथा संगठन दोनों ही दृष्टियों से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मजदूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई संबन्ध न था, फिर भी वे कुछ हद तक एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशंका-रहित नहीं समझती थी।

मार्च १९२९ में सरकार ने आगे बढ़े हुए दल में से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार करके संगठित मजदूरों पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बंगाल, युक्तप्रान्त और पंजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमे से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते, और बाकी महज मजदूर-संघोंवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढ़े चार वर्ष के क़रीब चला।

मेरठ के मुल्जिमों की मदद के लिए एक सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगों का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्यूनिस्टो और समाजवादी आन्दोलन करनेवालों से कोई हमदर्दी नही थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसीका खून चूसकर ही दिया जा सकता था। हमारी कमिटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नहीं पड़ता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनों लगातार मेरठ मे ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये वे, मालूम होता है, यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेंस कमिटियों से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे एम०एन० राय के तथा दूसरे मुकदमों में। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फ़ौजी क़ानून की रू से मुक़दमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर जिद की कि उन्हे पूरी फ़ीस दी जाय। यह रकम बहुत बड़ी थी। उन्होंने इस बात का कोई खयाल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग है जो फौजी कानून के शिकार हुए हैं और उनमें उनका साथी एक वकील भी है। इनमें से बहुत-से लोगों को कर्ज लेकर या अपनी

आयदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब की फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजुर्बे हुए वे तो और भी दुःखदायी थे। हम लोगों को गरीब-से-गरीब लोगों से तांबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था; क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मजदूरों के मामले में हम सफाई दें या न दें, नतीजा ग़ालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुकदमे जैसे मुकदमे में, बिलाशक, सफाई देना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड़यन्त्र-डिफेन्स-कमिटी की मुल्जिमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुल्जिमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफाई भी अलग-अलग किस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल कतई गायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाकायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राज-नैतिक हालात जिस तरह सूरत से बदलते जा रहे थे उसकी तरफ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० में तो हम सबके सब जेलों में बन्द हो गये।

२७

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में आई थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनायें, जलियाँवालाबाग़, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्ज़तियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस बरसों में बहुत घटनायें हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस समय में और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैनिक विक्षोभ बढ़ रहा था, संघर्ष का वातावरण तेज़ी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों में बहुत समय से लोगों की दिलचस्पी न रही थी, सिवा उन मुट्ठीभर लोगों के जो उनके पवित्र घेरों में ही चक्कर काटा करते थे। ये असेम्बली और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थी, जिनसे सरकार को सत्ता-परस्ती और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगों को हिन्दुस्तान की पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना। असेम्बली का आख़री सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगों का ध्यान गया, १९२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजिस्ट प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में काँटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गईं। ऐसी बातों की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओं की ही तरफ़ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलों से ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौक़ा आ जावे तो वह उनमें से खुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालांकि उनका दिमाग़ वैधानिक था और कानूनी तरीकों और जाब्तों का आदी था, मगर हालात से मजबूरन उन्हें यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीक़े बेकार और फ़ुजूल हैं। वह अपने कानूनी दिमाग़ को

यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और न दरहक़ीक़त यहाँ क़ानून की हुकूमत ही है, जबकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्ज़ी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पड़ते हैं उसी तरह, आर्डिनेन्स वग़ैरा निकल पड़ते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज़ होती तो वह बिलाशक विधान के बड़े भारी स्तम्भ होते। मगर, जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान में नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह ज्यादा-ज्यादा चिढ़ने लगे थे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-कांग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और कांग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे-चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया, और वह उसके हर ज़िले और क़रीब-क़रीब हर महत्वपूर्ण कस्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सों में भी गये। हर जगह उनके लिए लोगों की भारी-भारी भीड़ जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पड़ती थी। इस तरह से उन्होंने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाड़ों से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होंने देख लिया है। मैं नहीं समझता कि और किसी इन्सान ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफ़र किया होगा।

प्राचीन काल में बड़े-बड़े भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे और सैलानी तबीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफ़र का मुकाबिला नहीं कर सकेगा। गांधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ़ उन्हीं-से बंधे हुए नहीं थे; वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होंने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगों का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोड़ों लोगों ने उन्हें देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ में अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त में आये, और उन्होंने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालांकि उनके आने पर इससे पहले भी बड़ी-बड़ी भीड़ देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए एकत्र इन भीड़ों को देखकर ताज्जुब किये बग़ैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी ज़िलों में

ख़ास तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियों का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात में मोटर से गुज़रते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फ़ासले पर ही दस हज़ार से लेकर पच्चीस हज़ार तक की भीड़ हमें मिला करती थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के, सभाओं में ब्रॉडकास्टिंग का इन्तजाम न था, और ज़ाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे; वे महात्माजी के दर्शन करके ही संतुष्ट हो जाते थे। गांधीजी अपने पर आवश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज़ काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे मे उनके साथ न रहा, क्योंकि मेरा उनको कोई ख़ास उपयोग नही हो सकता था, और दौरे के दल मे मेरे एक के और बढ़ जाने से कोई मतलब न था। यो मजमों से मुझे परहेज़ न था, मगर गांधीजी के साथ चलनेवालों का आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफ़ी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम काफी था, और सिर्फ़ खादी के प्रचार मे ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नज़र आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं ग़ैर-राजनैतिक कामो में लगे रहने से नाराज़ था, और मै उनके विचारों का आधार कभी नहीं समझ सका। उन दिनो वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि उन्हे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् 'ग़रीबों के नारायण' या 'गरीबों मे रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि उससे वह ग़रीबों की मदद करेंगे, उन्हे घरेलू धन्धो द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता—ग़रीबी—का गौरव बढ़ता दिखाई देता था, क्योकि नारायण ख़ास-कर ग़रीबों का नारायण है, गरीब उसके प्यारे हैं। मै समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है। मै इस बात को पसन्द नही कर सकता था; क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज़ मालूम होती थी, जिससे लड़कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढ़ावा देना चाहिए। इसके लिए लाज़िमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीज़ों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नही कर सकते थे कि जिसमें सबको

जीवन की आवश्यक चीजें भरपूर मिल सकें। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे।

जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौक़ा मिला तभी वह इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफ़ी पुराना है और यह हिन्दुस्तान में, और मध्यकालीन योरप में भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो बिलकुल इस बात को नही समझ सका हूँ कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी?

असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली हो गई थी और उसकी बेलुत्फ़ कार्रवाइयो में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फर्श पर दो बम फेंक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली। किसी-को सख्त चोट नही आई, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि मुल्जिम ने बाद में बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाय।

उनसे सचमुच असेम्बली मे और बाहर खलबली मच गई। आतंककारियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफ़सर को, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर में गोली से मार दिया गया। बगाल और दूसरी जगहो पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू हो गई। षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चलाये गये, और नजरबन्दो की—यानी बग़ैर मुक़दमा चलाये और सजा सुनाये जेल मे रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगो की—तादाद जल्दी बढ़ गई।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुकदमे में अदालत में पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ़ लोगो का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में मुल्ज़िमो के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर क़ैदियों ने भूख-हड़ताल करदी। वह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल गया हूँ, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि क़ैदियों, खासकर राजनैतिक क़ैदियों, के साथ आम तौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ्तो तक बढ़ती गई, और इससे सारे देश में खलबली मच गई। मुल्ज़िमो की शारीरिक कमजोरी के सबब से उन्हें अदालत में न ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा कानून बनाने का सूत्रपात किया, जिससे

मुल्जिम या उनके पैरोकारों की ग़ैर-मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी ग़ौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मैं इत्तफ़ाक़ से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ कैदियों से जेल में मिलने की इजाज़त दे दी गई, और मैंने इसका फायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। मैं जतीन्द्रनाथ दास वग़ैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें गुस्सा नहीं दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बात-चीत में बड़ी मृदुता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और मृदुल दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्र दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और मुलायम, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफ़ी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही, भूख-हड़ताल के ६१वें रोज़, मर गया।

भगतसिंह की खास हसरत, अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ ज़िला-वतन कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसों तक विदेशो में जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये है, मगर मुझे खयाल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित खबर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्र दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा हो गई। इससे राजनैतिक कैदियों के बर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारो के फलस्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे क़ैदियों के तीन दर्जे कर दिये गये। इन क़ायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नज़र आई, मगर असल में कुछ भी फर्क नही पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योंही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियाँ कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गई। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ मे गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में क़रीब-क़रीब एकमत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने की इस इच्छा से, वास्तव मे, कांग्रेस के नेताओं में उनका पद और ऊँचा नही हो जाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूँकि लड़ाई

अनक़रीब है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हीके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस के 'विधियुक्त' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय ? इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफ़ारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालाँकि उन्होंने ज़ोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजाइश रही हुई मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आख़िरी फ़ैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गई, और आख़िरी घड़ी तक क़रीब-क़रीब हम सभीका यह ख़याल था कि वह राज़ी हो जायँगे। मगर ऐसा न हुआ और आख़िरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर ज़ोर दिया। उनके आख़िरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज़ भी हुए। किसी दूसरे शख़्स के उपलब्ध न होने की दशा मे, लाचारी के भाव से, उन्होंने आख़िर मुझको चुन लिया।

मुझे तबतक कभी इतनी झुंझलाहट और ज़िल्लत महसूस न हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नही थी कि मुझे इस इज़्ज़त बख़्शे जाने का—क्योंकि यह एक बड़ी भारी इज़्ज़त की बात है—अहसास न हो, और अगर मैं मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे ख़ुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज़्ज़त तो सीधे रास्ते या बग़ल के रास्ते से भी नही मिली, मैं तो गोया किसी पोशीदा रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंजूर कर लेना पड़ा। उन्होने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे करीब-क़रीब यह महसूस हुआ कि मैं इस इज़्ज़त को लौटा दूँ। मगर ख़ुश-क़िस्मती से मैंने अपने भावो को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहाँ से चुपचाप चला आया।

इस फ़ैसले पर जिसको सबसे ज्यादा ख़ुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नही करते थे, मगर वह मुझे तो काफ़ी ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें ख़ुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक़्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे ख़िलाफ़ कुछ कह नहीं सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़ी इज़्ज़त और जिम्मेदारी की बात थी; और

यह चुनाव खुसूसियत इसलिए रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं कांग्रेस का सबसे कम-उम्र सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस की थी। मगर यह ग़लत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी क़रीब-क़रीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद (हालाँकि वह मुझसे कुछ बड़े हैं) की उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जबकि वह सभापति बने थे। मगर गोखले, जबकि वह ३५–४० के अन्दर ही थे, तब भी योग्यता के लिहाज से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आज़ाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बड़ा विद्वान् होने का इलज़ाम भी किसीने नहीं लगाया, इसलिए मैं बड़ी उम्र के होने के इलज़ाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये हैं और मेरा चेहरा भी उसकी चुग़ली खा देता है।

लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आती जाती थी। इस बीच घटनायें एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताक़त से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा भाग था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्ज़े की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कईको तो यह साफ़ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नहीं पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ्रेन्स' बुलाई गई, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गाँधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ, जिनके बारे में लिख दिया गया कि ये ज़रूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएँ, मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेती तो सहयोग

दिया जाता। ये शर्तें[१] काफ़ी वज़नदार थीं, और उनसे कुछ तो फ़र्क होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कॉंग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊँची चीज थी। मगर उसमें एक घातक पकड़ भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण थे। कॉंग्रेस के लोग तो उन्हें सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नहीं हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थी। यह बात कॉंग्रेस-कार्य-समिति की एक बाद की बैठक में साफ कर दी गई और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज सिर्फ़ अगली कॉंग्रेस तक के ही लिए है। मगर नरमदलों के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा मॉंग थी, जिनका बयान किया जाना अच्छा था मगर जिनपर इतना जोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि में वे शर्तें, महत्वपूर्ण कहलाते हुए भी, वास्तव में कोई शर्तें नहीं थीं। और बाद में हुआ यह कि, जब कि इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज्यादातर लोग बीसियों हजार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े हुए थे, उस वक्त हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हद तक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कॉंग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज आवेंगे। हम कई लोगों की निगाह में तो, जो इस समझौताकारी प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, इसका ज्यादा जबरदस्त कारण यह था कि इससे हमारे कॉंग्रेस के लोगों को आपस में एक बनाये रक्खा जाय। एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कॉंग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

१. शर्तें ये थीं :—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक-पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेन्स में कॉंग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान की शासन, मौजूदा हालात में जहाँतक मुमकिन है, उपनिवेश-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।

यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश हुई शर्तों को सरकार नहीं मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मजबूत हो जायगी, और हम अपने बहुमत को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेंगे। यह सिर्फ़ कुछ ही हफ्तों का सवाल था। दिसम्बर आया, कि लाहौर-कॉंग्रेस नज़दीक आई।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए एक कड़वी घूट थी। स्वाधीनता की मॉंग को छोड़ देना, चाहे सिर्फ़ कल्पना में ही और सिर्फ़ थोड़ी देर के लिए क्यों न हो, एक ग़लत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ़ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके; वह कोई सारभूत चीज़ न थी, जिसके बग़ैर हमें कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर दस्तख़त नहीं किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित-रूप से दस्तख़त करने से इन्कार कर दिया); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने दस्तख़त कर दिये। मगर फिर भी मैं बड़ी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं विक्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गांधीजी का एक सान्त्वनाप्रद पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से अन्त को मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कॉंग्रेस से कुछ ही समय पहले, कॉंग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढ़ने की एक आख़िरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाक़ात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस मुलाक़ात के इन्तज़ाम में पहला क़दम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खास तौर पर किया होगा। इस मुलाक़ात में गाँधीजी और मेरे पिताजी कॉंग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे ख़याल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेन्ट पटेल भी थे। इस मुलाक़ात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो खास पार्टियां, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फ़ासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाक़ी न रहा कि कॉंग्रेस अपना क़दम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद ख़तम हो रही थी; अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्रवाइयाँ करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आख़िरी हफ्तों में मुझे एक दूसरे क्षेत्र में भी जरूरी

काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेन्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही गैरमामूली बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही, कुछ हफ्तों के अन्तर पर, सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊँगा, और दोनों को ज्यादा नज़दीक ले आऊँगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जावे और संगठित मज़दूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवादी और श्रमिकपक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालाँकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यमवर्गीय है, फिर भी देश मे वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताक़त है। इस हालत में मज़दूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर में लाना चाहिए, मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग क़ायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद थी कि जैसे-जैसे घटनायें घटती जायँगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाज़िमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी और सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को अपने हाथ में लेती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गाँवों की तरफ बढ़ा है। अगर इसी तरफ़ इसका क़दम बढ़ता रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वर्ना ऐसा संगठन तो हो ही जायगा जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। युक्त-प्रान्त की कई ज़िला-कमिटियों में इस वक्त भी किसानों की तादाद बहुत थी, हालाँकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगो ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरो के निरन्तर संघर्ष का राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन कांग्रेस (टी० यू० सी०) के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर यह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथों में है और उसपर शहरवालों का कब्ज़ा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान मे प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कांग्रेस को संगठित मज़दूर-वर्ग के नज़दीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्त-प्रान्त में तो हमने अपनी प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी में ट्रे० यू० कां० की प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगो ने भी मजदूरों की हलचलों में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मजदूरों के कुछ आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कांग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओं पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से सचमुच ऐसा था भी। जैसाकि इसके नाम से जाहिर होता है, कांग्रेस तो एक राष्ट्रीय संगठन था।

१९२९ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मजदूर-संघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मजदूरों के विषय में नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध रहे थे। बायाँ-पक्ष (left wing) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता था, और दाहिना पक्ष (Right wing) सहयोग देने की तरफ था; और चूंकि दाहिने पक्ष के कुछ नेताओं को कमीशन में मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातों की तरह इस बात में भी मेरी हमदर्दी बायें-पक्ष की तरफ़ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय कांग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रे० यू० कांग्रेस मे व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बड़ा सवाल बन गया, और इसपर और दूसरे भी कई बहस-तलब सवालात पर बायें-पक्ष को कामयाबी मिली। इस कांग्रेस में मैंने बहुत ही कम नुमायाँ हिस्सा लिया। मैं मजदूर-क्षेत्र में बिलकुल नया था। अभी मै रास्ता ही ढूंढता रहा था, इसलिए मै थोड़ा झिझकता रहा। आम तौर पर में अपनी राय ज्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ़ ज़ाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ हो जाने से अपनेको बचाया। मैंने संचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० कां० के टुकड़े हो जाने और एक नये नरम संगठन के क़ायम हो जाने में मैं प्रायः एक खामोश तमाशबीन बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलों का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बायें पक्ष के कुछ नेताओ ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बायें पक्षों के झगड़ों में बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रे० यू० कां० में फूट पड़ने से बचा ली होती, और अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मजदूर-संगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मजदूर-आन्दोलन

के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठ वाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिकों ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्त्ति के लिए यही ठीक मौक़ा है। १९२९-३० के जाड़े में संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरफ़ से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन-संगठन की हालत उस समय बहुत ही कमज़ोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मज़दूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का ज़माना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद ही पहले या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेडयूनियन-कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान में मजदूर-संघों के तीन संगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी०यू० सी० दल, और एक कम्यूनिस्ट दल। अमली शकल में ये सभी कमज़ोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगड़ों से आम कारीगर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योंकि मैं तो ज्यादातर जेल में रहा, जब कभी बीच-बीच में मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमें एकता होने की कोशिशें की जा रही हैं। मगर वे कामयाब न हुईं[1]। नरम दल के यूनियनों के साथ रेलवे कारीगरों के रहने से उनकी ताक़त बढ़ गई। दूसरे दलों के मुकाबिले में उनको एक फ़ायदा यह था कि सरकार उनको तसलीम करती थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेन्सों के लिए उनकी सिफारिशों को मंजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ़ खिंच गये, और वे अपने साथ अपनी यूनियनों को भी उधर खींच ले गये।

१. इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और मुख्तलिफ़ दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

जवाहरलाल नेहरू

२८

स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ़ खिंची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था, और उन भीड़-भम्भड़ के दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनायें पैदा हुईं उनपर खयाल करना कभी-कभी मुझे अच्छा लगता है। लाहौर के लोगों ने मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, जो लोगो की तादाद और दिल की गहराई दोनों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अथाह उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नहीं था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आँखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय और मैं अपनेको बड़ा आनंदित और उठा हुआ अनुभव कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसकी कोई अहमियत नहीं है। क्योंकि वहाँ तो बड़े-बड़े सवालात सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का ख़याल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ़ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के इज़हार के ही ठहराव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई का आवाहन करना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की जिन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था; मगर निकट-भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ़ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफें सामने नज़र आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह में गंभीरता ला दी थी, और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमने जो हरेक वोट दिया वह अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों के मिलने-जुलने को बिदाई का पैग़ाम था, और थी एकान्त के दिनों और रातों और शारीरिक और मानसिक कष्टों को दावत।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाई चलाने के लिए किये जानेवाले काम के मुताल्लिक खास ठहराव तो क़रीब-क़रीब एकमत से पास हो गया, कई हजारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उसके खिलाफ़ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक

छोटे मामले पर हुआ, जो एक तरमीम की शकल में आया था। यह तरमीम गिर गई और दोनों तरफ़ की रायों की तादाद ज़ाहिर कर दी गई। ख़ास ठहराव इत्तफ़ाक से ३१ दिसंबर की आधीरात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़रकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मंज़ूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत ख़त्म हुई त्योंही नया फ़ैसला किया गया और लड़ाई की तैयारियाँ शुरू की गईं। चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० कांग्रेस कमिटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख़्त्यार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गाँधीजी के हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस में नज़दीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो काग्रेस की बैठकों में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसों से ख़ान अब्दुलग़फ्फ़ारख़ां हमारे अधिवेशनों में आया और हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर मे पहली बार सीमा-प्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल-भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उनके ताज़ा दिमाग़ों पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह ख़याल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज़ बात-चीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये ख़यालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमा-प्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से नुमायाँ और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक, मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगह से इस्तीफ़ा दे देने को कहा। क़रीब-क़रीब सभी एक-साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव के इकरारों की खिलाफ़वर्ज़ी होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ़ सूझता न था। हालांकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहाँतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को आज़ादी-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देशभर में आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम के बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तज़ार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबाद में था; मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बड़े भारी सालाना मेले, माघ मेले, का वक़्त था। शायद वह ख़ास कुंभ का साल था, और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियों की भाषा में प्रयागराज में, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे। ख़ासकर किसान थे, और मज़दूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और नदी पर जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता, तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के ठहरावों को जानते हैं या उनकी परवा करते है? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्य-जनक और मजबूत था कि जिससे वे और उनके बुज़ुर्ग हज़ारों बरसों से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा में स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस बेहद ताक़त को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नहीं लगा सकते? या क्या उनके दिमागों मे अपने धर्म का ताना-बाना और परम्परा इतनी भर चुकी है कि उसमें दूसरे ख़यालात की गुंजाइश ही नहीं रही? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे ख़यालात उनमें पहुँच चुके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता मे फैलने से ही पिछले बारह बरसो मे बड़े-बड़े उतार-चढाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारो के अस्तित्व के विषय मे और उनकी बड़ी भारी ताक़त के बारे मे तो कोई शक ही नही था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये ख़यालात कितने फैल चुके हैं? उनके पीछे कितनी ताक़त है, संगठित काम करने की कितनी काबलियत है, लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

हमारे घर को देखकर यात्रियो के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पड़ता था, जहाँ पुराने ज़माने में एक विश्वविद्यालय था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे ख़याल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रक्खा है उन्हें, ख़ासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से-लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ़ था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होने वाला है, ये

सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हे खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हींसे गूँजता रहता था। उस दिन मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे तो मैं चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगे, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर गये और हरेक दरवाजे और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झाँकने लगे। कुछ काम करना या बातचीत करना या भोजन करना भी मुश्किल हो गया। इसमे सिर्फ परेशानी ही नही होती थी बल्कि झुझलाहट और चिढ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखों से देख रहे थे, जिनमें पीढ़ियों की गरीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, और हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नही माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता से नम्र और भयभीत हुए बिना रहना असम्भव था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थीं, उस वक्त हमारे यहा ठहरी हुई थी। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योंकि चार-चार पाँच-पाँच मिनट मे मुझे आये हुए झुड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पडता था, और बीच-बीच मे हमे बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देता था। मेरी परेशानी में उन्हे कुछ हँसी-सी आई, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझकर कि मै जनता में बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुई। (सच बात तो यह थी कि लोग खासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था।) उन्होंने अचानक मेरी तरफ मुडकर मुझसे पूछा, कि मै इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फख्र नही होता ? जवाब देने से पहले मै थोड़ा झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिलकुल जाती सवाल से उन्होने मुझे परेशानी में डाल दिया है। उन्होने इसके लिए माफ़ी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नही हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग़ बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, प्रायः इत्तफ़ाक़ से ही, मै जनता मे बड़ा लोकप्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगों में मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो एक प्रकार से

में वीर—सूरमा—बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ अद्भुतता दिखाई पड़ती थी। मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ घड़ ली गई थी जिन्हें सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय जाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढग से कहते थे कि मुझमे काबलियत या ईमानदारी की कमी नहीं है।

शायद किसी महात्मा या बड़े भारी हैवान पर ही इन सब बातों का असर नही हो सकेगा। मगर मै तो अपनेको दोनों मे से एक भी नही मानता। बस, ये बातें मेरे दिमाग में बैठ गई। उन्होंने मुझपर थोडा नशा चढा दिया और मुझको हिम्मत और ताक़त दी। मेरा यह अन्दाज़ है, (क्योंकि बाहर मे अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है,) कि मैं अपने काम-काज मे थोडा एक-तन्त्री और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा खयाल है कि, मेरा गरूर कुछ ज्यादा नही बढा। मुझे खयाल हुआ कि मुझमे भी काफी बातों की लियाक़त है और उनके सम्बन्ध में मै ऐसा नाचीज़ नही हूँ। मगर मै यह भी खूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नही है, और मुझे अपनी कमजोरियो का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने में मदद दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओं पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियो के पास रहती है; वह यकीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नही होती। तो क्या मै अपनी कमजोरियो के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणो के सबब से? मै लोकप्रिय हुआ ही क्यो?

इसका सबब मुझमें दिमागी काबलियत का होना नही था। क्योंकि मुझमे दिमागी काबलियत कोई ग़ैरमामूली नही थी और कम-से-कम इसीसे ही लोकप्रियता नही मिलती; और 'कुर्बानी' कहे जानेवाले कामो से भी मेरी लोकप्रियता नही थी, क्योंकि यह सभी जानते है कि हमारे ही समय मे हिन्दुस्तान में सैकडो और हजारो आदमियो ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफें उठाई है और आखिरी कुर्बानी तक की है। मैं बड़ा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल झूठी है। मै अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नही समझता और जीवन में वीरों का-सा ढंग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बिलकुल वाहियात बात मालूम होती है। अद्भुतता के बारे में तो मुझे कहना पड़ेगा कि मैं सबसे कम अद्भुत व्यक्ति हूँ। यह सही है कि मुझमें कुछ शारीरिक और दिमाग़ी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद गरूर—अपना, अपने समूह का और अपने राष्ट्र का गरूर, और किसीके दबाव मे कुछ करने की अनिच्छा।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरे ही तरह उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने इसकी कई बार तरदीद की है, फिर भी यह बात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीब और वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फ़िज़ूलखर्ची करे, तो मैं समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि तरदीद करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल मे पढ़ता था। यह भी कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त मैं जेल में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी शोहरत या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियों के बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मजबूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से जाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहले मैं बड़े-बड़े लोगो से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था, और फिर मैने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी शोहरत हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणो की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द है, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उनकी दूसरे ही दृष्टिकोण से क़दर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यों मे पड़ना चाहते हैं उनमें सख्त आघातों के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना जरूरी है। मगर जीवन के त्यागमय दृष्टिकोण, जीवन के निषेध, उसके आनन्दो और अनुभूतियो से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ़ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज को, जिसका मैंने वास्तव में महत्त्व समझा, जानबूझकर नहीं छोड़ा है; मगर, हॉ, चीजों का मूल्य अलबत्ते बदलता रहता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जबाब फिर भी नहीं मिला। क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता ? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मै इसका आदी हो गया था।

और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनों ही तरह से मुझे तसल्ली नहीं थी। मगर कुल मिलाकर, भीड़ ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूँ और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस खयाल से मुझमें उनके दिल और दिमाग़ पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ़ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का संचार हो जाता था। हालांकि मैं व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगो के साथ-साथ मुसीबतो में रहना, अलग रहकर बचे रहने की बनिस्बत, अच्छा है। मगर वे दीवारे हटनेवाली न थी, और मैं उन्हींके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखो से इस दृश्य की तरफ देखा करता था, जिसे मै समझ न सकता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती है। यह जिस आदमी पर चढ़ती है उसे पता नही पड़ता कि रोजाना कितनी चढ़ती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटो से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले बरसों में हमपर इन सख्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात मे भी मै खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे है, जिन्होने मुझे ठीक निगाह रखने मे और अपना दिमाग बिगड़ने न देने मे मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवों, म्युनिसिपैलिटियो, स्थानिक बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ से अभिनन्दनों और जुलूसों वगैरा से मेरे दिमाग़, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बड़ा बोझ पड़ता था इन मौको पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गंभीर और पुण्यात्मा बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मैं हँस पड़ूँ या अपनी जबान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उलटा खड़ा हो जाऊँ, सिर्फ इसलिए कि उस गंभीर सम्मेलन मे लोगो के चेहरो पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखू और इसका मजा लूँ। मगर खुशकिस्मती से अपनी शोहरत के सबब से, और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गंभीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मै अपनी इस अनियंत्रित इच्छा को रोक लेता था, और आम तौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर, हमेशा नही। किसी-किसी भारी

मीटिंग मे, या ज्यादातर अक्सर जुलूसो में, जिनसे मै बहुत परेशान हो जाता हूँ, मैंने कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान में निकाले जानेवाले जुलूसों को मै अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। मैं अपनी पत्नी को या और किसीको जुलूस की गाड़ी मे ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओ को हमेशा दबाये रखने की इस कोशिश और लोगों के सामने किसी खास ढंग से बर्ताव करने के कारण दिमाग पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक मौको पर आदमी गंभीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसी लिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक दफ़ा लिखा गया था कि मै हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हाला कि मै पुराने ढंग की हिन्दू विधवा की बडी इज्जत करता हूँ, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का ज़ाहिरा मतलब यह था कि उसके ख़याल से मुझमे अपने-आपको नम्रता-पूर्वक समर्पित कर देने, त्याग, और बिना कभी हंसी-मजाक किये हमेशा काम में लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ़ करता था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमे अधिक क्रियाशीलता और तेज़ी है, और मज़ाक करने और हँसने की योग्यता भी है। और निःसंदेह मै चाहता हूँ कि ये गुण हिन्दू-विधवाओ मे भी होने चाहिएँ। गाधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था, कि अगर मुझमे विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुदकुशी या ऐसा ही कुछ कर गुजरता। मै इतनी हद तक तो जाना नही चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्राय असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी मे कुछ लोग हँसी-मजाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और बडे-बडे मान-पत्रों पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमे (जैसा कि वास्तव मे हिन्दुस्तान के सभी मान-पत्रों में होता है) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौडी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मज़ाक उडाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियो के लिए जैसे ऊचे और शानदार लफ्ज़ और अलकाब अक्सर इस्तैमाल होते है, वैसे शब्दों को मेरी पत्नी और बहने और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौके-बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्त्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण प्रयोग से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गंभीर सार्वजनिक सभाओ की, जहाँ मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव कर दिखाना पड़ता था, थकावट धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मज़ाक मे मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थी कि मुझसे गंभीरता का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मज़ाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन

नहीं करती थी। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने विचारों और भावों को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीका रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवों और अनन्त बहसों और राजनीति के धूम-धक्कों का मुझपर सिर्फ़ ऊपरी असर होता था, हालांकि यह असर भी कभी-कभी तेज़ और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनायें बाहरी परिस्थितियों से झगड़ रही थी। मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी। मैं एक लड़ाई का मैदान बन गया था, जहाँ तरह-तरह की ताक़तें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं। मैं इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूँढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लड़ाई में कूद पड़ा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेजी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा हुआ यह सब क्यों लिख रहा हूँ? मैं चाहे जेल में होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है, और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा में लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक संतोष मिल सके।

२६

सविनय भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह से उसने हमे बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बड़ी-बडी सभायें हुई जिनमें बगैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गभीरता से, लोगों ने आजादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभायें और जुलूस बड़े प्रभावशाली थे। गाँधीजी को इस दिवस से आवश्यक बल मिल गया, और जनता की नब्ज की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लडाई छेड़ने का यह ठीक वक्त है। इसके बाद तो घटनाये एक के बाद एक जल्दी-जल्दी घटित होने लगी, जैसाकि किसी नाटक में रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भग नजदीक आता गया और लोगों मे जोश बढ़ता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरीचौरा के बाद वह यकायक मुल्तवी कर दिया गया था। तबसे अब देश मे अनुशासन ज्यादा था और अब लोग ज्यादा साफ तौर पर समझ गये थे कि यह लडाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हद तक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गाँधीजी अहिंसा पर भयकर रूप से जोर देते हैं, और यह बात गाँधीजी के दृष्टिकोण से ज्यादा जरूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगो के दिमागो मे शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नही हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साज़िश से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गाँधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढग से विचार किया, हालाँकि जिस समस्या की उन्हे चिन्ता मालूम होती थी, जहाँतक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लड़ाई करना ही उनकी निगाह में सच्चा तरीका था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल किया जाय तो वही अचूक

१ —यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीक़े को अमल में लाने और कामयाब बनाने के लिए खास तौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर बाहरी हालतें इसके माफिक न हों तो इसको काम मे नहीं लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिसात्मक तरीक़ा हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीक़ा रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गाँधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीक़ा सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफ़िक होने पर भी, और झगड़ों और हिंसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम मे आ सकता है। बदलती हुई हालतों मे उसके अमल का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद उस तरीके की विफलता को मान लेना होगा।

शायद वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मै उनके विचारो को निश्चय से नही कह सकता। उन्होने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति मे थोड़ा फर्क हो गया है, और जब सविनय भग आवेगा तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नही है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरो को बहुत हद तक सतोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भग हम चलावे, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता मे लोकप्रिय हो ? लेकिन गांधीजी ने ही इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण शब्द, एक बलपूर्ण शब्द बन गया। नमक-कर पर हमला करना चाहिए। नमक-कानून को तोड़ना चाहिए। हम हैरत मे पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय सग्राम हमे कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य मे डालनेवाली बात हुई गाँधीजी का अपने ११ मुद्दो का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फ़ेहरिस्त उस समय पेश करना जब कि हम आजादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था ? गाधीजी जब 'आज़ादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमें बहस करने का मौक़ा न था, क्योंकि घटनायें तो आगे जा रही थी। वे हिन्दुस्तान मे तो हमारी निगाहो के सामने राजनैतिक रूप में दिन-ब-दिन आगे बढ़ ही रही थी; मगर, शायद, हम नहीं जानते थे कि वे दुनिया मे भी तेज़ी से बढ़ रही थी और दुनिया को एक भयंकर मन्दी

में जकड़े हुए थी। चीज़ों के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब सम्पन्नता का ज़माना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें ख़तरा ही देखा।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्राय: हमारे सिर पर आ चुकी थी, आख़िरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे सग्राम का नेता मौजूद नही था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कॉं० कमिटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियाँ हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ़ से कार्य-समिति के गिरफ्तार-शुदा लोगों की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख्यारात रखनेवाले दूसरे शख्स को नामज़द कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कॉंग्रेस कमिटियो ने भी अपने-अपने सभापतियो को ऐसे ही अख्यारात दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जब कि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग क़ायम हो गये और उन्होने कांग्रेस की तरफ से संग्राम का सचालन किया। इसपर भारत-मंत्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बडी नफरत ज़ाहिर की और वे चीख-चीख-कर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी खराब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरो को मानने लगी है, जबकि वे खुद तो मानों प्रजातन्त्र-वाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से (क्योंकि हम तो जेल में थे) और हैरत मे होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बलपूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक नफरत दिखाकर प्रजातन्त्रवाद की बातें कर रहे थे! और क्या, मामूली हालत में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कही थी? अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त और हिन्दुस्तान मे स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करे और उसकी सत्ता को हटानेवालों का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका था, ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के गौर करने और तारीफ़ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

कॉंग्रेस ऐसी हालत में जानेवाली थी कि जब उसका मामूली ढंग पर काम करना

ग़ैर-मुमकिन हो जायगा; जब वह ग़ैर-कानूनी करार देदी जायगी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढंग से उसकी कमिटियाँ किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठा न हो सकेंगी। हमने पोशीदगी को बढ़ावा नहीं दिया, क्योंकि हम अपनी लड़ाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज़ ऊँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। मगर पोशीदगी से भी ज्यादा काम नहीं चल सकता। केन्द्र में, प्रान्तों में और स्थानीय हलकों में हमारे सब बड़े-बड़े स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह जंग करती हुई फ़ौज में होता है, कि पुराने सेना-नायकों के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमिटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव में, कभी-कभी हमने ऐसा किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गिरफ्तार हो जाती। हमें यह भी सुभीता नहीं था कि लड़नेवाली लाइनों के पीछे जनरल स्टाफ़ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफाज़त से मुल्की मंत्रि-मंडल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियों और मंत्रि-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ्तार कर लिये गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता देदी थी? राष्ट्रीय संग्राम चलाने को दृढ निश्चय के संकेत-रूप में उन्हें यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हें ज्यादातर खुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नहीं कर सकती थी; और जब या जहाँ उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने-आप नहीं रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे में कुछ फ़ैसला नहीं कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल पहुँचने की सीढ़ी थी। और रोज़-ब-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह, अपनी आख़िरी तैयारियाँ करके, अहमदाबाद में हमने अ० भा० कांग्रेस कमिटी के अपने साथियों से बिदा माँगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं। हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० कां० कमिटी की हिदायतों के मुताबिक अपने-अपने मुकामी इन्तज़ाम को आख़िरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि

सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाँधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक़्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे, और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पडाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ मे डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियो के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके क़दम मज़बूत थे और उनका चेहरा शान्तिपूर्ण किन्तु निर्भयता लिये हुए था। इस तरह उस समय मैंने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर स्वराज-भवन रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होने इसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालो को उसका कब्ज़ा भी दे दिया। उस बड़े मकान का एक हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक़्त तो वह उसकी क़ानूनी कार्रवाई पूरी न कर सके, पर डेढ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के मुताबिक़ उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रेल आया। गाधीजी समुद्र-तट पर पहुँच गये और हम नमक-क़ानून को तोडकर सविनय भग करने की उनकी हिदायत का इन्तज़ार करने लगे। कई महीनो से हम अपने स्वयसेवको को कवायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमे शामिल हो गई थी और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन लिया था। स्वयसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियाँ तक, न था। उनको तालीम देने का मक़सद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जायँ और बडी-बड़ी भीड़ो को नियत्रण मे रख सके। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियाँवाला बाग़ तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और ६ अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दाडी मे समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोडा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-सगठनो को इजाज़त दे दी गई कि वे भी नमक-क़ानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र मे सविनय भंग शुरू करे।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन अचानक दबा दिया गया, और सारे देश में, शहरों मे और गाँवो मे, जिधर देखो रोज़ नमक बनाने की ही चर्चा थी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गई। इस बारे मे हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहाँ इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत हिदायतें देने के लिए कई पत्रिकायें प्रकाशित कीं, और बर्तन और कढ़ाइयाँ इकट्ठी कीं और अन्त मे एक भद्दी-सी चीज़ बना ही डाली, जिसे हम

बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते थे और अक्सर बहुत ऊँची क़ीमत पर नीलाम भी करते थे। वह चीज़ अच्छी है या बुरी, इसका तो सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि ख़ास चीज़ तो उस बेहूदे नमक-क़ानून को तोड़ना था। इसमें हम ज़रूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी ख़राब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है, और नमक बनाना जंगली आग की तरह चारों तरफ़ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई; क्योंकि जब गांधीजी ने इस तरीक़े की तजवीज़ पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी के बाबत शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप से काम करवाने की कितनी अद्‌भुत सूझ है!

मैं १४ अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ़्रेन्स में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी में सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुकदमा भी हो गया, और मुझे नमक-क़ानून के मातहत छः महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की संभावना से मैंने (अ० भा० कांग्रेस कमिटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही मेरी गैरहाज़िरी में कांग्रेस के सभापति की जगह के लिए गांधीजी को नामज़द कर दिया था, मगर, अगर वह मंजूर न करें तो, मेरी दूसरी नामज़दगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा ख़याल था, गांधीजी राज़ी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े जोर-शोर से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके ज़बरदस्त संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसों का निकलना, लाठी-प्रहारों का होना और गोलियाँ चलना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पेशावर-दिवस, गढ़वाली-दिवस आदि का ख़ास तौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक़्त तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा हो गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज़ धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज़्यादा भी किया। मेरा ख़याल था कि कितने बरसों से मैं उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और ज़िले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी

दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहाँ मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा क़दर करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी जबानी मना करने के उन्होंने उन्हे रोका नही।

उन शुरू के दिनों में जो खबरे हमारे पास आया करती थी, उनमें से सबसे बड़ी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमा-प्रान्त में होनेवाली घटनायें थीं। हिन्दुस्तान में कही भी मशीन-गनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासन-पूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत बताई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमा-प्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नही थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल क़ायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। सीमा-प्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपाहियो को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोगों से उन्हें हमदर्दी थी। मगर सिर्फ हमदर्दी ही आम तौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नही पाई) यह ग़लत खयाल हो गया था कि अंग्रेज़ों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते है। शायद कुछ दिनों या हफ्तों तक आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि अंग्रेज़ी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फ़ौज पर भी पड़ा, मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फ़ौज में हुकुम-उदूली नही हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रक्खा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुई, मगर सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में हिस्सा लेना। स्त्रियाँ बड़ी तादाद में अपने घर के

घेरों से बाहर निकल आईं, और हालांकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ी। विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ़ स्त्रियों के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आम तौर पर स्त्रियाँ पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे कॉंग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-कानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्सों के, जिनमें कई कामों की मुमानियत की गई थी, निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियतें बढ़ती गईं, वैसे-वैसे उन्हे तोडने के मौके भी बढ़ते गये। और सविनय भग की यह शक्ल हो गई कि आर्डिनेन्स से जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात करना निश्चित रूप से कॉंग्रेस ओर लोगों के हाथ मे रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह मे परिस्थिति न सम्हली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कॉंग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुक़ाबिले मे कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए, ऐसी हिदायतें जारी करती थी। इन हिदायतों पर देश मे आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अखबारों के प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नही हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अखबारों से जमानत माँगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अखबारों से यह कहा कि वे जमानत देने से इनकार कर दे और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अखबारवालों के लिए तो यह एक कड़वी घूँट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगों में खबरों की बहुत ज्यादा माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारों को छोड़कर ज्यादातर अखबारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगी। मगर वे ज्यादा वक़्त तक न टिक सके, प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम-दल के अखबार छीने लिये जा रहे हैं यह देखकर उन्हें बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी ५ मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद

समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानों और गोदामों पर धावे किये गये। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनायें हुईं। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जुलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों के घायलों के इलाज के लिए कई आरज़ी अस्पताल क़ायम हो गये थे। बम्बई में कई बातें ऐसी हुई जो मार्के की थी, और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे क़स्बो और देहाती हिस्सों मे भी ऐसी ही बातें हुई, मगर वे सब प्रकाश मे न आ पाईं।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बंबई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गईं। उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहाँ ठहरे हुए थे, तभी कुछ बहुत ज़बरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में, यह तो बम्बई मे मामूली बात-सी हो गई थी। करीब दो हफ्ते बाद ही वहाँ सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने कि उनका रास्ता रोक रक्खा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये, और उनके साथ सैयदमहमूद भी पकड़े गये। वे कार्य-समिति के, जो गैरकानूनी करार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मंत्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सज़ा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिसमैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत में उनका क्या फर्ज़ है यह बताया था। यह बयान सिर्फ कानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डियन कानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़कानेवाला और खतरनाक समझा गया।

बंबई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था और हर जरूरी काम का फैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल ही थककर लौटे, और अपने डाक्टरों की जरूरी सलाह से उन्होंने फौरन पूरी तरह आराम लेने का फैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वग़ैरा बंधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेन्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे सामने आ पहुँचे।

३०

नैनी-जेल में

मैं करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुंधली हो गई थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में रक्खा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलखाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि २२०० या २३०० कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एकसौ फ़ीट था और जिसके चारों तरफ़ करीब पंद्रह फीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोंबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियां थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियां, जो एक-दूसरे से मिली हुई थी, दी गईं। एक में नहाने-धोने वगैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक़्त तक खाली रहीं।

मेरे बाहर के विक्षोभ और सक्रिय जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में, खुले में सोने की इजाज़त मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी जंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाजें आया करती थीं। ख़ास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाजें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लंबी आवाजें लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कहराने की-सी आवाज़ मालूम होती थी। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने कैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफ़सर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते में भी आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे यहाँ का हाल पूछता था। चूँकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाज़ें ज्यादातर साफ़ सुनाई न देती थी, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या है। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानों रात को जंगल और रात के जानवर सब एक-साथ गला फाड़-फाड़कर अलाप रहे हैं।

मैं सोचता हूँ कि आया यह मेरा महज खयाल ही है, या यह सचाई है, कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोलाईदार दीवार में आदमी को अपने क़ैद होने का ज्यादा भान होता है ? कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है, कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आस्मान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हें नीले वितान पर
जिसे कहें बदी आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडो पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास; [१]

अपनी उदास और चिन्तित निगाह डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के तले में हूँ। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का एक हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आम तौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नहीं था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खास तौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की जरूरत हो, रक्खे जायँ। बाद में वह राजनैतिक कैदियों, नजर-बन्दों वगैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जोकि यहाँ सारे जेल से अलग रक्खे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज थी जिसे पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज़ मामूली हो जाती है। इसीलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खता-पूर्ण और जंगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मै उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आ जाती।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Upon that little tent of blue
Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
With sails of silver by."

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाज़त न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जबकि प्रायः अँधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाज़त मिल गई। यह बड़ी सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज़ किया गया था कि मैं दूसरे कैदियों के सम्पर्क में न आ सकूँ, या वे मुझे देख न लें। मुझे उस समय बड़ी तरो-ताज़गी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोड़े-से वक्त से ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज़ से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज़ दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जबकि बिलकुल अंधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढ़ने के लिए ठीक नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारा-गण की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ हो जाता था। जहाँ मैं लेटता था वहाँ से मुझे ध्रुवतारा दीवार के ऊपर झाँकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ का आस्मान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वहीं कायम था। वह मुझे प्रसन्नता-पूर्ण अचलता और दृढ़ता का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नहीं था, क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करने-वाला एक कैदी था। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे कैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजायें भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें जन्म-कैदी, आजीवन सजा पाये हुए क़ैदी, ज्यादा थे। आम तौर पर समझा जाता था कि जन्म-कैद बीस साल या कम में खत्म हो जाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत क़ैदी थे जिन्हें बीस साल से भी ज्यादा हो गये थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। क़ैदियों के कन्धों पर कपड़ों में लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है, जिनमें उनकी सज़ाओ का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक क़ैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६ में होगी! १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सजायें दी गई थीं और वह सब एक के बाद एक जोड़ दी गईं थी। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सज़ा थी!

बरसों बीत जाते हैं और कई जन्म-क़ैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और

कोई मानवी सम्पर्क नही रहता। वे मन-ही-मन हमेशा कुछ घुटघुटाया करते हैं, और उनका दिमाग़ भय, बदले और नफरत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। वे दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते है, और सिर्फ़ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से नफ़रत की तेज़ी चली जाती है, और जीवन एक जड़ यन्त्रवत् बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुज़ारते हैं, जोकि सब बिलकुल एक-से ही गुज़रते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना भी नही होती। वक्तन-फवक्तन क़ैदियों की तुलाई और नाप होता है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है? लोग मौत की सज़ा के ख़िलाफ दलीले देते हैं और वे मुझे बहुत जँचती है। मगर जब मैं जेल का लम्बा यातना पूर्ण जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सज़ा ही अच्छी है। एक दफा एक जन्म-क़ैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम जन्म-कैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमे इस नरक में से निकाल देगा?"

और ये जन्म-कैदी कौन होते है? इनमें से बहुतेरे तो मजमूई मुकदमो में आते है, जिनमें कि बहुत लोगो को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एक-साथ सजायें होती है। इनमें कई तो शायद कुसूरवार होते है, मगर ज्यादातर लोग सचमुच कुसूरवार होते है इसमे मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमों मे लोगों को फँसा देना बड़ा आसान है। किसी मुखबिर की शहादत और थोड़ी शनाख्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही जरूरी है। आजकल डकैतियाँ बढ़ रही हैं, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर कहते नही थकते। मगर उनकी निगाह जाहिरा आर्थिक कारणो पर नही जाती।

इनके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी जमीन के टुकड़े की बाबत गाँव में झगड़ा हो जाता है, लाठियाँ चल जाती है, और कोई मर जाता है—नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लंबी मियादो के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष क़ैद कर दिये जाते है और पीछे स्त्रियाँ रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती है। इनमें एक भी व्यक्ति जरायम-पेशा नहीं होता। साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो से अच्छे युवक, औसत देहाती से कही ऊपर उठे हुए, होते है। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ़ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के कीमती धन बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलो मे पक्के मुजरिम भी है, जिनमे सामाजिकता के भाव नही होते हैं और जो समाज के लिए बहुत ख़तरनाक हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले है जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिला झिझक विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नही मालूम कि असली जरायमपेशा और ग़ैर-जरायमपेशा क़ैदी कितने-कितने अनुपात में हैं, और शायद इस तरह विभाजन करने का खयाल तक जेल-महकमे में किसीको नही आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लीविस ई० लावेज़ ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये है। वह अपने जेल के क़ैदियों के बारे मे कहता है कि मेरी राय में ५० फीसदी तो बिलकुल जरायम-मनोवृत्ति के नही है; २५ फीसदी परिस्थितियो और मजबूरियो के कारण अपराधी बने हैं; और बाकी २५ फ़ीसदी मे से शायद आधे, यानी १२½ फीसदी, ही समाज में न रहने लायक है। यह तो सभी जानते है कि असली अपराधी-वृत्ति बड़े शहरो और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों मे ज्यादा होती है, और पिछडे हुए इलाको में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर है, और सिंगसिंग-जेल भी खास तौर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयंकर-से-भयंकर मुजरिम भेजे जाते है। मगर, उसके वार्डन की राय के मुताबिक, उसके सिर्फ १२½ फ़ीसदी कैदी ही सचमुच बुरे है। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलो में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगो को रोज़गार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय, तो हमारी जेले खाली की जा सकती है। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए एक बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है—हिन्दुस्तान में पुलिस की तादाद और जेलो का बढ़ाना। हिन्दुस्तान मे कितनी तादाद मे लोग जेल भेजे जाते है, यह देखकर सिर ठनकने लगता है। अखिल-भारतीय कैदी-सहायक समिति के मंत्री की एक हाल की रिपोर्ट मे कहा गया है कि १९३३ मे सिर्फ़ बम्बई प्रान्त मे ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बंगाल की सख्या १,२४,००० थी।[१] मुझे सब प्रान्तो के आँकड़े तो मालूम नही, किन्तु यदि दो प्रान्तो का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ क़रीब दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव में जेल मे हमेशा रहनेवालो की तादाद नही कह सकते, क्योंकि बहुत लोगो को तो थोड़ी-थोड़ी सजायें मिलती है। स्थायी रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ी

१. 'स्टेट्समैन', ११ दिसम्बर, सन् १९३४।

भारी संख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े प्रान्तों की जेल-व्यवस्था संसार की सबसे बड़ी जेल-व्यवस्था समझी जाती हैं। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे यह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत संभवतः, यहाँ संसार का सबसे पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी प्रबन्ध है या था। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश नहीं की जाती है। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बढ़ा-चढ़ा है वह है, अपने क़ैदियो को सुरक्षित रखना। वहाँ भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हज़ार में से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलखानों की एक निहायत दुःख-जनक बात है, वहाँ १५ साल या इससे ज्यादा उम्र के लड़कों का बड़ी तादाद में होना। इनमें से ज्यादातर तो तेज़ और होशियार दिखनेवाले लड़के होते है, कि जो अगर मौक़ा मिले तो बड़ी आसानी से अच्छे बन सकते हैं। कुछ अर्से से इन्हें मामूली पढना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफ़ी और बेकार है। खेल-कूद या दिल-बहलाव का बहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के भी अखबार की इजाजत नही है, और न किताबे पढने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सब क़ैदियो को उनकी बेरकों या कोठरियो में ताले में बन्द रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शाम का वक़्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नही रहता।

मुलाकातें तीन महीने मे एक दफ़ा हो सकती हैं, और यही खतो का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई क़ैदी तो इससे भी लाभ नही उठा सकते। अगर वे बे-पढ़े होते है, जैसाकि ज्यादातर होते ही है, तो वे किसी जेल-अफ़सर से ही चिट्ठी लिखवाते हैं, और ये लोग चूंकि अपना काम और बढ़ाना नही चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते है, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नही दिया जाता, और वह ठिकाने पर नही पहुँचती। मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है। करीब-क़रीब, अनिवार्य रूप से, किसी-न-किसी-जेल कर्मचारी को कुछ नज़राना-शुक्रियाना देने से ही मुलाक़ात हो सकती है। अक्सर क़ैदी दूसरे-दूसरे जेलो मे बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगो को उनका पता नहीं लगता। मुझे कई ऐसे क़ैदी मिले है, जिनका ताल्लुक अपने परिवार से बरसों से छूट चुका था, और उन्हें मालूम नहीं था कि उनका क्या हुआ। तीन या अधिक महीनों के बाद जब मुलाकातें होती भी हैं तो वे अजीब तरह से होती हैं। जंगले के

दोनों तरफ़ आमने-सामने बहुत-से क़ैदी और उनके मुलाक़ाती खड़े कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, और मुलाक़ात में जो थोड़ा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नही रहता !

हज़ार में से किसी एकाध क़ैदी को (यूरोपियनों को छोड़कर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाक़ात करने या ख़त लिखने की ख़ास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनों में, जबकि लाखों राजनैतिक क़ैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दर्जे के क़ैदियो की तादाद कुछ थोड़ी-सी बढ़ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत थोड़ी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियों में से ९५ फ़ीसदी क़ैदियों के साथ मामूली ढंग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हे ऐसी सुविधायें भी नही मिलती।

कई व्यक्ति, जिन्हे क्रान्तिकारी हलचलों के कारण आजन्म या लम्बी सजायें दी जाती हैं, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियों में रक्खे जाते हैं। मेरा ख़याल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब व्यक्ति आम तौर पर सीधे तनहाई कोठरियों में बन्द रक्खे जाते हैं। यो तो तनहाई जेल के किसी क़ुसूर के लिए सज़ा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगो को तो, जो आम तौर पर नवयुवक होते है, शुरू से तनहाई में ही रक्खा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यो न हो। इस तरह अदालत की सज़ा के अलावा, जेल महकमा उसमें बग़ैर किसी सबब के एक और भयंकर सज़ा बढ़ा देता है। यह बड़ी असाधारण बात है, और क़ानून की किसी दफ़ा के अनुसार नहीं है। थोडे वक़्त के लिए भी तनहाई में बन्द रक्खा जाना एक बड़ी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसो तक रहे तब तो कितनी ख़तरनाक हो जाती है ! इससे मस्तिष्क की शक्ति धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, जो अन्त में पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे ख़त्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी जिन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौज़ूं बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव मे किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था ? हिन्दुस्तान में पुलिस के तरीक़े अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, और राजनैतिक मामलों में तो वे बहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद हैं।

यूरोपियन या यूरेशियन क़ैदियों को, चाहे उन्होने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे में रख दिया जाता है, और उन्हें

ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाक़ात की सुविधायें दी जाती हैं। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में बने रहते हैं। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मज़ाक के विदेशी अखबार ले आता है, और जब ज़रूरत होती है तब उनके घरवालों से खतो-किताबत करता रहता है।

यूरोपियन कैदियों को ये सुविधायें क्यों मिली है इसकी किसीको शिकायत नही है, क्योंकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—क़ैदियों के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर ज़रूर रंज होता है। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नहीं समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नही किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड़ मे जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये हैं। जब भावना-शील स्त्री या पुरुष यहाँ आते हैं, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीड़ा प्रतीत होता है। मैने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के क़ैदी जेल की उदासी से ऊबकर फूट-फूटकर बच्चे की तरह रोने लगते है, ओर सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोड़े-से शब्दो मे, जोकि इस वातावरण मे बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी, कैदियों में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा क़ैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नही कर सकते थे। एक ने जेल-दफ्तर में जमा की हुई अपनी कमीज़ दी, दूसरे ने कोई और कपड़ा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने कुछ अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल मे यह चीज़ मिलना बड़ी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा दानशीलता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद आई—उनमें मिट्टी से

सूरमा बना लेने की ताक़त है। शान्ति-पूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देशों को पूर्ण करने के लिए, लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को, बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ़ जा रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से काम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर गया, और थोड़ा-थोड़ा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली क़ैदी भी कहते थे कि "स्वराज आ रहा है!" और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फ़ायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तजार करते थे। बाजार की बात-चीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नजदीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफ़सर कुछ और घबराहट में पड़ गये।

जेल मे हमें दैनिक अखबार नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक अखबार से हमें कुछ खबरे मिल जाया करती थी, और ये खबरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज कर दिया करती थी। रोज़ाना लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर मे फौजी कानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गई थी, ऐसी खबरें आती थी। सारे देश में हमें अपने लोगों, खासकर स्त्रियों, पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी माताजी, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ। और हालाँकि मै उनसे दूर था, और जेल मे था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आ गये है। परिवार तो उससे भी बड़े समुदाय में ऐसा मालूम होने लगा मानो लुप्त हो गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुक़ाबिला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे है, उस वक्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूँ, यह खयाल मुझे दिक़ करने लगा। मै बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नही जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा सख्त, कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोज़ाना करीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे मै निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल-अधिकारियों से खास तौर पर माँग ली थी। मै इन कामों को पसन्द करता था। इनमें न ज्यादा जोर पड़ता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग़ का बुखार भी शान्त हो जाता था। मै बहुत पढ़ता रहता

था, या सफ़ाई करने या कपड़े धोने वगैरा में लगा रहता था । मैं मशक़्क़त अपनी खुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे 'सादी' सजा मिली थी ।

इस तरह, बाहर की घटनाओं और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुजारने लगा । हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार की प्रणाली से भिन्न नहीं है । सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का क़ब्ज़ा मज़बूत होता है मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिलकुल नहीं, की जाती है । ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है । मगर शायद कोई भी यह ख़याल नहीं करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना । यहाँ तो बस यह ख़याल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें तबतक उनमें ज़रा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे । और जेल का प्रबन्ध-सञ्चालन किस तरह होता है, क़ैदियों को कैसे काबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है ? यह सब ज्यादातर क़ैदियों की सहायता से ही होता है । क़ैदियों मे से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डबल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिये जाते है, और वे खौफ़ से या इनामों या छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते है । तनख्वाहदार ग़ैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोड़े ही होते हैं । जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफ़ाज़त और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते है । जेल में मुखबिरी का भी खूब जोर रहता है । कैदियों को एक-दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और क़ैदियों को एका करने या कोई भी सयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नही रहती है । यह सब आसानी से समझ मे आ सकता है, क्योकि उनमे फूट रखने से ही वे क़ाबू मे रक्खे जा सकते है ।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन मे भी, यही प्रणाली एक व्यापक लेकिन कम ज़ाहिर रूप में दिखाई देती है । मगर यहाँ सी० डब्ल्यू० और सी० ओ० लोगों का नाम बदल गया है । उनके बड़े-बड़े शानदार नाम है, और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तड़क-भड़कदार है । और अपने तर्ज़ की पाबन्दी के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है ।

आधुनिक राज्यो के लिए जेलखाना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है ? कम-से-कम क़ैदी तो यही सोचने लगता है । सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक विविध कार्य तो जेल, पुलिस और फ़ौज के मौलिक कार्यों के मुकाबिले में थोथे मालूम होने लगते

है। जेल में आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की क़द्र करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, कि जिसके हाथ में शासन है, इच्छा को कार्यान्वित करने का एक बल-प्रयोजक साधन है।

एक महीने तक तो मैं अपनी बैरक में अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बड़ी राहत मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख को, हमारे अहाते में असाधारण खलबली मच गई। अचानक बड़े सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयदमहमूद वहाँ लाये गये। वे दोनों आनन्द-भवन में, जबकि अपने बिस्तरों में सोये हुए थे, गिरफ्तार किये गये थे।

३१

यरवडा में संधि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के सब मेम्बर एकसाथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख़्त्यार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमें और जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालात में वहाँ रक्खे गये थे उनमें उन्हे बड़ी तकलीफ़ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नही की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एक-साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहाँ उन्हे कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक-साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की ज़मीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छतसे पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज़ यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हें बुख़ार आ जाता था। आख़िर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे और रहे उन्होंने उससे पूरा फ़ायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस और सरकार के दर्म्यान

सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक अखबार में पढ़ी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमें हमने वह सारी खतो-किताबत पढ़ी जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुई थी। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गांधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नहीं आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यों पड़ी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं ? बाद को हमें उनसे मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होंने बम्बई में अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब का (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता, जो उन दिनों हिन्दुस्तान में थे) बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य [१] में यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस ले ले।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें भी यह साफ कह दिया गया था कि उन अस्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी और मुझसे मशवरा न करले। मुझसे जरूरत इसलिए पड़ती

१. यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफ़ारिशों के बारे में क्या रुख रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँग का समर्थन करेंगे, बशर्तेकि दोनों में आपसी घटा-बढ़ी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें वे हों जो हिन्दुस्तान की खास ज़रूरतों और अवस्थाओं के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण ज़रूरी हों और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय-भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खत्म हो जायगी, राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जावेंगी, गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक होगी।"

थी कि मैं उस साल कांग्रेस का सदर था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दुःख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका ग़लत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी ग़लत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बात-चीत से वह बहुत थक गये। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहाँ से शुरू होती थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौक़ा नहीं है। हमने अपने साथियों—कार्य-समिति के सदस्यों—और खासकर गाँधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ़ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गाँधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डाक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई ऐतराज़ न था कि हम लोग यरवडा जावें (यरवडा पूना के पास है और यहीं की जेल में गाँधीजी रक्खे गये थे); लेकिन वह तथा उनकी कौन्सिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाज़त नहीं दे सकती थी, जोकि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डाक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवडा जाने को तैयार हैं या नहीं? हमने कहा कि हमें तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज्र नहीं है, न हो सकता है; लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिल लें तबतक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। इत्तिफाक़ से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार में खबर पढ़ी कि बम्बई में भयंकर लाठी-चार्ज हुआ और सरदार बल्लभ-भाई, मालवीयजी, तसद्दुक शेरवानी वग़ैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये हैं। हमने डाक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नहीं है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ करदें। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गाँधीजी से तो जल्दी मिलने में

हर्ज ही क्या है ? हमने उन्हें यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डा० सैयदमहमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, बहैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे ।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों—पिताजी, महमूद और मैं—एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गये । हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें झपाटे से पार करते हुए चले गये, कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई । फिर भी हमारे जाने की खबरें हमसे आगे दौड़ गईं और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नहीं ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गई । हम ११ की बड़ी रात को पूना के नजदीक खिड़की स्टेशन पर पहुँचे ।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गाँधीजी की ही बैरक में ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाक़ात हो जायगी । यरवडा के सुपरिंटेंडेंट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा । जो पुलिस अफ़सर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडावालों को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी । सुपरिंटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के रोबरू ही मिलने दिया जायगा । यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायेंगे । लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिनभर तथा रातभर हम दूसरी बैरक में रक्खे गये । इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ । वहाँ लेजाकर गाँधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था । आखिर १३ को दोपहर के पहले हमें खबर की गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है । पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ से बहुतेरी सफाइयाँ दी गईं और माफियाँ माँगी गईं और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायँगे तब वह वहाँ जाने को राजी हुए । आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भीं, जो हमारे सामने ही स्त्री-बैरक में रक्खी गई थीं, हमारे साथ बातचीत में शरीक किये गये । उसी रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वहीं

रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहाँ लाये गये और वे भी वहीं रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३,१४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गईं जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियां अखबारों में भी छाप दी गईं थीं।[1]

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हें ज़ोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बंबई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन एक मजेदार घटना हुई, जो मुझे अबतक याद है। सुपरिंटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा, कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे ? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हलका खाना खाता हूँ, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब ज़रूरी चीज़ें गिना दी। (नैनी में रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था) पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीजें लिखाई वे थी तो सब सादी और हलकी ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवॉय होटल में वे चीजें सादा और हलकी समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा-जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजों के नाम सुनाते जा रहे थे। क्योंकि कई दिनों से उनके यहाँ भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रक्खा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जम गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहाँतक कि दुर्घटनायें होते-होते बचीं।

१. जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गई थीं वे परिशिष्ट नं० २ में दी गई हैं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हे देखने गये—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी। ज़ाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहां किसी तरह माक़ूल इलाज नहीं हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होंने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहांतक कि उन्होंने लार्ड अर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी कराके नहीं छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढांचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बड़ी खुशी-खुशी उनकी सेवा में दिन बिताते थे। मैने निवाड़ बुनना छोड़ दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबें पढ़ने का ही वक्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमें फिर उन्हीं कामों को शुरू करना पड़ा, मगर दिल पर भार बना रहता था और वह आनन्द नहीं रहा था। उनके रिहा होने पर तो दैनिक अखबार भी मिलना बंद हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजीत पंडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक में ही रक्खे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छः महीने की सजा पूरी हो जाने पर, मै छोड़ दिया गया। में जानता था कि मै थोड़े ही दिन आजाद रह सकूंगा, क्योंकि लड़ाई बहुत जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतों'—सप्रू और जयकर साहबान—की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं। उसी दिन, जिस दिन मै छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मै इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आजाद रहूँ कुछ अच्छा और जोरदार काम कर जाऊँ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेसके काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और मां तथा बहनें उनके साथ थीं। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही मशगूल रहा। उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि आया देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं? लगान-वसूली का वक्त नजदीक आ रहा था और यों भी

लगान वसूल होने में दिक्कत आनेवाली थी; क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। संसारव्यापी मंदी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई देता था—दोनों तरह से, सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतंत्र रूप से भी। यह ज़ाहिरा तौर पर असम्भव था कि जमींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज का सहारा लिये बिना चारा न था। जमींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे कर्ज भी आसानी से मिल सकता है; मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातंत्री देश में, या उस जगह जहाँ किसानों का अच्छा संगठन और प्रभाव है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज्यादा वसूल करना असंभव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती है और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और भी है। सरकार को यह डर ज़रूर लगा रहता है कि जब किसानों के लिए हालत असह-नीय हो जायगी तो वे उठ खड़े होंगे और बुरी तरह उभड़ पड़ेंगे। लेकिन, उन्हें तो युगों से यह तालीम मिलती चली आ रही है कि जो कुछ बिपत आवे उसे बिना चूं तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तों में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्राय: सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भंग-आन्दोलन से जुड़े हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहाँ रैयतवारी तरीका था ओर किसानों का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरंत सीधा सरकार पर पड़ता था। मगर युक्त-प्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी। क्योंकि हमारा इलाक़ा जमींदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द करदे तो उसका सीधा असर जमींदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय संस्था है और उसमें कितने छोटे-मोटे तथा कुछ बड़े जमींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कहीं कोई वर्ग का प्रश्न न बन जाय, या जमींदार लोग न बिगड़ बैठें। इस कारण सविनय भंग शुरू होने से ठेठ छ: महीने तक वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालांकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह क़तई नहीं घबराता था, लेकिन मैं इतना ज़रूर महसूस करता था कि कांग्रेस

अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-संघर्ष को नहीं अपना सकती। हाँ, वह दोनों से—काश्तकार और जमींदार दोनों से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमींदार बहुत करके मालगुजारी दे देते; लेकिन उस दशा में क़ुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशायें मुझे ऐसी मालूम हुईं मानों वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन छोड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयाँ तो ज़ाहिर ही थीं। राजनैतिक क्षेत्र में, हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालांकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कहीं बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेज़ी और गर्मी नहीं दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों और जुलूसों से कुछ थक-से गये थे। सरेदस्त यह दिखाई देता था कि कुछ जिंदगी डालने की, नया खून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था? और यह खज़ाना तो अभी अखूट भरा पड़ा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-संबंधी प्रश्न उठ खड़े होंगे।

उस थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर खूब ग़ौर किया। जल्द ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंज़ूरी देदी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी ने उसे जमींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-संबंधी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हाँ, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे कदम बढ़ाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद ज़िले ने पहला क़दम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद ज़िले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बी तक़रीर की। इसी तकरीर पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते। मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इंदिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह झण्डा गान गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज़ की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा जरा उत्तेजना-पूर्ण रही। देहरादून में, ज्योंही मैं रवाना होने लगा, ज़ाब्ता फौजदारी की १४४ दफा के मुताबिक़ मुझपर एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है। लेकिन वह तामील न हो सका, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफ़सर मुझतक पहुँच नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और इसमें सिर्फ़ प्रतिनिधियों को ही बुलाया गया था। और ऐसा ही यह था भी। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाज़त इसमें न थी। इलाहाबाद ज़िले के बहुत प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी।

सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने ज़िलों में करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओं को ज़रूर हिचकिचाहट थी। इस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं, क्योंकि किसानों को डराने-दबाने के साधन ज़मींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहाँतक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहाँ तो दिखाई नहीं देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण किया था। लेकिन मैं नही कह सकता कि मैंने १४४ दफ़ा का उल्लंघन किया या नहीं, जो कि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहाँ से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए, स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हे वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे; क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बातचीत करने का मौक़ा मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहाँ से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मैं गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगो को इस नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

३२

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की ग़ैरहाज़िरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयदमहमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक मे आ मिला। कुछ दिनों के बाद जेल में ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफ़ायें लगाई गई थीं, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सों को लेकर जुदा-जुदा इलज़ाम लगाये गये थे। हस्ब-मामूल मैंने कोई सफ़ाई पेश नहीं की, सिर्फ़ थोड़े में अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। दफ़ा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध में मुझे १८ मास की सख़्त क़ैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-क़ानून के मुताबिक ६ महीने की क़ैद और १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूँ कि यह आर्डिनैन्स किस विषय का था) ६ मास कैद और १००) जुरमाना की सजायें दी गईं। पिछली दोनों सजायें एक-साथ चलनेवाली थी, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की क़ैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में ५ महीने और। यह मेरी ५ वी बार जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकाश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हें एक बुरा-सा धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज़ को ठोक कर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूँगा; अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त में अपने पर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवां मर्दों का-सा ही था। मगर अफ़सोस है कि उनका यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी, कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ़-साफ़ तबदीली दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये थे, उनके बलग़म में खून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल नहीं दिखाई दिया। इससे उन्हें खुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये

तो उन्होंने मुझसे इस बात का ज़िक्र कुछ फ़ख़्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और ख़ून ज्यादा मिक़दार में आने लगा। इस अवधि में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-ख़रोश से काम किया और देशभर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक ज़ोर का सहारा दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार हिदायतें भेजते। उन्होंने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जायँ जिनपर मुझे सजा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभायें बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज़ किया गया था कि उस एक दिन सारे देशभर में कोई पाँच हज़ार गिरफ्तारियाँ हुईं। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमें इतनी ज्यादा ताक़त का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुज़िर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिलकुल आराम ही करें। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नहीं, क्योंकि यहाँ उनका दिमाग़ लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवें और उन्हे यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर मित्र यात्रा में साथ रहे। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रहीं।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे ज़िले के करीब-करीब हर गाँव में सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही ज़िले-भर में खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी मुश्किल खबर पहुंचाने की थी—लोगों

को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे है और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अखबार हमारी खबरों को छापने के लिए तैयार नहीं थे, इस डर से कि सरकार उनको सज़ा देगी और दबा देगी; छापाखाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकायें छापने को तैयार नही थे; पत्रों और तारों को काट-छाँट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरें पहुँचाने का क़ाबिल-इत्मीनान तरीक़ा जो हमारे पास बाक़ी था वह यह था कि हम हरकारों के मार्फ़त अपनी खबरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका खर्चीला था, और इसमें बड़े संगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने खास-खास जिला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों में कोई खबर फैलाना मुश्किल नही था। कई शहरों में ग़ैर-क़ानूनी खबरें रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के जरिये प्रकाशित होती रहती थी और ऐसी खबरों की माँग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीक़ा था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी। मगर इसकी कुछ परवा नही थी, क्योंकि लोग गिरफ्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नही चाहते थे। ये सब तरीक़े शहरों में अनुकूल पड़ते थे, परन्तु गाँवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हरकारों और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारों के जरिये से खास-खास गाँवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नही था; क्योंकि दूर के गाँवों में हमारी सूचनाओं को पहुँचाने में काफ़ी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह कठिनाई दूर हो गई। ज़िले के प्रायः हर खास-खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताज़ा फ़ैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को ज़िले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक़्त तक बिलकुल नही देंगे जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नही जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि ज़मीदारों और अहलकारो की हिंसावृत्ति और भय के बमुकाबिले उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने ज़मींदारों और किसानो दोनों से की थी।

सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नही थी। मगर अमली रूप में कई ज़मींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुक़सान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानों का सवाल है, वे तो मज़बूत रहे। उन्होंने लगान नही दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद ज़िले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे ज़िलों में भी फैल गया। कई ज़िलों में उसको बाज़ाब्ता अख्त्यार नही किया गया न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव मे किसानो ने कर देना रोक लिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नही सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े ज़मीदारों ने उन सरकश किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था; क्योंकि एक तरफ तो सविनय भग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ़ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दुःखी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे मे हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानो में कोई तूफान न उठ खड़ा हो। उधर लंदन में गोलमेज़-कान्फ़ेन्स हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तक़लीफ़े नही बढ़ाना चाहती थी, और न "ज़ोरदार" हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक ख़ास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशो में चला गया, जिससे कि आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मज़बूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम-श्रेणी के लोग किसी हदतक हतोत्साह हो गये, परन्तु संयुक्तप्रान्त मे आन्दोलन मज़बूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मज़बूत रहा। शहर से देहात की तरफ़ परिवर्त्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओ की तरफ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तों में इतनी हदतक नही हुआ और फलतः उनमे शहरो की प्रधानता बनी रही और वे मध्यम-वर्ग के लोगो की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुक़सान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से अख़ीर तक आन्दोलन में खूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निरुत्साह फैलने लगा। बम्बई मे और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रही, परन्तु यह सब किसी कदर बनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक

किसी क्रान्ति की स्थिति में रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनो तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि जिससे यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी मन्दगति से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानिक कांग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी-तक आश्चर्य के साथ चलती रही थी, ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई और दबा दी गई। जेलो में राजनैतिक कैदियो के साथ ज्यादा बुरा बर्त्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ़ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सज़ा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने मे असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। ज़ाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक कैदियो को बेंत की सज़ा दी गई थी। इसकी ख़बर हमको नैनी-जेल में पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान में इसके तथा इससे भी खराब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गये हैं—क्योंकि बेंत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी कैदियो के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए और सो भी नाममात्र के नियम-भंग के कुसूर में तो बेंत की सज़ा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारो ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालो के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज़ से यह कोई बडी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नही था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेगे। इससे पहले २४ घंटे से ज्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनो में कोई ज्यादा तकलीफ नही हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमें वैसी सख्त तकलीफ की कोई बात नहीं थी जैसा कि डर था। मगर एक बेवकूफ़ी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत भी जारी रक्खी थी; जैसे दौड़ना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वग़ैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ अलील थी। इन तीन दिनों में हम सब का वज़न ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वज़न हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के खिलाफ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थी कि आयन्दा बेंत न लगाये जायँ। मगर ये आज्ञायें ज्यादा दिन क़ायम नहीं रहने को थी और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तों की जेलो में बेंतों की सज़ा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से खलल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मज़ेदार होता है। रणजीत पण्डित क्या आये, हमारी बैरक को अलभ्य लाभ मिल गया; क्योंकि वह बाग़वानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलो और तरह-तरह के रगो से गुलज़ार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गोल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई-जहाज़ उड़कर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरंजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बडे-बड़े हवाई-जहाज़ो के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा और फ्रेंच इन्डोचायना को जानेवाले बड़े-बड़े जहाज़ सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमे सबसे बड़े और शाही थे डच जहाज़, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से और हमारी खुशकिस्मती से जाड़े में अलस्सुबह, जबकि कुछ-कुछ अधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज़ ऊपर से गुज़रता था। उसमें खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनों सिरों पर लाल रोशनी होती थी। प्रातःकाल के स्वच्छ नीलाकाश में जब वह जहाज़ ऊपर उडता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पंडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज़ उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहाँ मैं उनका अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होंने जर्मन पढना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंतें लगाने की खबर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह खबर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गये और कुछ दिन बाद

मीयाद से पहले ही वहाँ से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३१ को, अंग्रेज़ी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की खबर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी बहन दोनों तथा और भी दूसरी स्त्रियाँ बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होती, मगर उस वक्त सरकार जहाँतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इसीसे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद बर आई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझे एक खौफ़ भी हुआ, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी और मुझे अंदेशा था कि जेल में कही उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहाँ मौजूद था और उसने उससे एक संदेश माँगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा संदेश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है और मुझे फख्र है कि मैं अपने पति के पद-चिन्हो पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊँचे उठाये झंडे को नीचे न झुकने देगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सदेश न देती; क्योंकि वह अपनेको पुरुषो के जुल्मो से स्त्रियो के अधिकारों की रक्षा करने का बानी-मुबानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू स्त्रीत्व के सस्कार उसमे प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में मर्दो के जुल्म न जाने कहाँ बह गये।

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक न थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सज़ा के समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो गये और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगो के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हे कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मै मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल मे जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्त्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए खतरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के

साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का ख़याल कभी मन में नहीं आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी में उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मै तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर बाद में मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता तब वह अपनेको अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमाती। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के इतने अभ्यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाये छा गई। ताहम मुझे यह खयाल नही हुआ था कि ख़तरा इतना नज़दीक आ पहुँचा है। ठीक उन्ही दिनों, पता नहीं क्यों, खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ़ेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसके अन्तिम इशारे और हाव-भाव हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ हिक़ारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लंबी-चौड़ी बातें और वादविवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हाँ, एक वास्तविकता साफ़ दिखाई पड़ती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया तब भी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ़ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमें पहले से भी ज्यादा साफ़ नज़र आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हे और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे है। गोलमेज-कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का ही एक सम्मेलन था। उनमें से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ ख़ामोश होकर एक तरफ़ खड़ देखते थे—हाँ, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तज़ार करते हैं वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्योंही लन्दन से डोर हिली इस इन्तज़ारी का यकायक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और ज़ो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बँटाने के लिए एक के बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गई कि कांग्रेस

तेजी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्त्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाजिमी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर जोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुँचा जावेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफ़त को देखकर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और स्थापित स्वार्थों को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर क़ायम रहें। औपनिवेशिक पद पर जो इतना जोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही थी। एक दफ़ा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े थे कि मैंने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अंग-रूप ब्रिटिश फ़ौज के हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी फौज के लोकतन्त्र के मातहत कर दिये जाने पर जोर दिया था। वह तो यहाँतक आगे बढ़ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर रजामंद हो भी जाय तो मैं अपनी पूरी ताक़त से इसका विरोध करूँगा"। किसी भी तरह की क़ौमी आज़ादी के लिए यह माँग बहुत ज़रूरी थी। फिर भी उन्होने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नही कि मौजूदा हालत में वह पूरी नही की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवाञ्छनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियां हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अँग्रेज़ों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख्वाहिश की तह मे असली बात यह नही थी। अँग्रेज़ो की ज़रूरत तो समझी गई थी खुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज़ के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नही बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपनेको उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच हमें बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ—

एक तरफ उसमें जहाँ वे लोग शामिल थे जो आजादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गये थे, तो दूसरी तरफ़ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी क़तार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसीमें स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए क़ुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ; और तक़दीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हे कुछ त्याग नहीं करना पड़ा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफ़ा बढ़ गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुकाबिला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दूकानों मे बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होंने अपने भाषणों का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालों को बुरा कहने लगे और मुखालिफ़ों के साथ राज़ीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ ख़याल या परवा नहीं थी कि गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहाँ हमारे कस्बों और गाँवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या ख़तरा सामने खड़ा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमे अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमे बहुत दुःख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरो (जहाँ मैं समझता हूँ कि उन्हें 'फ्रीडम आफ दि सिटी' उपाधि प्रदान की गई थी) के अपने एक भाषण मे उन लोगों के प्रति नफरत के भाव जाहिर किये जो सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उसने हमारे दिलों को जख़्मी कर दिया। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तोभी हम उनकी इज्जत करते थे।

रैम्ज़े मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ़्रेन्स का उपसंहार किया। उसमें काँग्रेसियों से ऐसी अपील की हुई दिखाई दी कि वे बुरे मार्ग को छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जायँ। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के मध्य में—इलाहाबाद में कॉंग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई

अपील पर भी विचार किया गया। उस वक्त मैं नैनी-जेल में था और रिहा होने पर मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी हाल ही कलकत्ते से लौटे थे और हालाँकि वह बहुत बीमार थे तोभी उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेंबर लोग आकर चर्चा करें। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब में हमारी तरफ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय भंग कुछ ढीला कर लिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मैं तबतक समझौता न करूँगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूँगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आखिर डाक्टरों ने किसी तरह उन्हें राज़ी करके मेहमानों को वहाँ से हटाकर उन्हें अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हीके आग्रह से कार्य-समिति ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया था, जिसके अनुसार समझौता नही हो सकता था। उसके अखबारों में छपने के पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फत कांग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करे जबतक कि उन्हे बात-चीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से बिदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहाँ न आ जायँगे और आपसे बात-चीत न हो जायगी तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतंत्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभायें की गई और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव' [1] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अखबार न छापेखाने ही सहायता करते थे न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभायें करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह, पास किये गये। बहुतेरी सभायें तो कानून की अवहेलना करके की गई और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गई थीं।

१. यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

२६ जनवरी ने हमको नैनी-जेल में गुजिश्ता साल का सिंहावलोकन करते हुए और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देखते हुए पाया। इतने ही में दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फ़ौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी मेरे साथ थे।

उस शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर ग़ौर करने का मौक़ा देना चाहती थी। इसलिए, मैं उसी शाम को हर हालत में छूट जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेंबर थी।

३३

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जैनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ़ होती थी और दिमाग़ पर पूरा-पूरा क़ाबू नही रहा था; लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग़ को काम करने मे ताकत देती रही।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज बाद रणजीत (वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नही आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते है तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है! उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह ज़ाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फायदा नहीं हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मै समझता हूँ डॉक्टरों के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजीत को छोड़ दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मै उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवे, और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। एक जबरदस्त जन-समूह के द्वारा, जैसा कि बम्बई में पहले कभी नही देखा गया, स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पडे। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तज़ारी मे जग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे इस बीच में असमंजस में पडे हुए मीटिंग के लिए सूचनाओं का इन्तज़ार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जाना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फ़ौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान के

पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगी। कभी-कभी मैं इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना मुब्तिला रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं है कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा ख़याल है कि वे सविनय-भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक़ में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे और उनके अन्तिम दर्शन करके अन्तिम बिदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम उनमें से दो-तीन आते और पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो बड़ा मगर चेहरा भाव-शून्य दिखाई देता था; क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे, तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचानकर उनकी आँखों मे चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड जाते थे। हालाँकि वह ज्यादा नही बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फ़िर भी उनका पुराना हँसी-मज़ाक़ क़ायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह ज़ख्मी हो गया हो और जिसकी ताकत शरीर से करीब-क़रीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत मे भी उनकी शान तो सिहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मै उनकी तरफ़ देखता, तो मै सोचता कि उनके दिमाग़ में क्या-क्या ख़याल आते होगे? क्या वह हम लोगों के काम-काज मे दिलचस्पी लेने की हालत में नही रहे हैं? यह साफ़ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीज़ें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थी और वह उनपर क़ाबू पाने की कोशिश करते थे। अख़ीर तक यह लड़ाई जारी रही। मगर वह हारे नही। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहाँ तक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह कागज पर लिख-लिखकर अपना आशय ज़ाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जोकि हमारे पड़ौस में ही हो रही थीं, उन्होंने, कहना चाहिए कि, कुछ भी दिलचस्पी नही ली। १५ रोज़ पहले इनसे उनका उत्साह ज़रूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी! मै जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज देखने के लिए ज़िन्दा नही रहूँगा। लेकिन मै जानता हूँ कि आपने स्वराज फ़तह कर लिया है और जल्दी ही उसे पा लेंगे।"

जो दूसरे शहरों और सूबों से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये। गांधीजी रह गये। कुछ और घनिष्ठ मित्र, क़रीबी रिश्तेदार और तीन नामी डाक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनको वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर आपके हाथ में महफ़ूज रखने के लिए सौंप दिया है। वे थे डाक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फ़रवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फ़ायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहाँ कि डीप एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधायें हैं। उसी दिन उन्हें हम मोटर से ले गये। गांधीजी और कुछ और लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई। लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे। दूसरे दिन सुबह यानी छः फरवरी को मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हे देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी में बीती थी। यकायक मैंने देखा, उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खत्म हो गई। मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गई है और इससे मुझे खुशी भी हुई। मगर मां की निगाह तेज़ थी। वह रो पड़ी। मैंने उसकी तरफ देखा और कहा कि उन्हें नींद लग गई है, वह जाग जायँगे। मगर वह नींद उनकी आखिरी नींद थी और उसके बाद फिर जगना नहीं हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मै उसके साथ बैठा। रणजीत हाँक रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी जिसमे माँ और गाँधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं दिनभर भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मै कुछ सोच ही न सका। इत्तिला मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई। वहां से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव हमारे राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक जबरदस्त भीड उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने जमा हुई थी। घर पर कुछ अंतिम विधियां की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। जबरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। संध्या की किरणें गंगा-तट पर छिटक रही थीं। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटों ने उस शरीर को खाक कर दिया, जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्व था। गांधीजी ने लोगों को कुछ हृदयस्पर्शी शब्द सुनाये और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान होकर लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेज़ी से चमक रहे थे।

माँ को और मुझे हजारों सहानुभूति के संदेश मिले। लार्ड और लेडी अर्विन ने भी मां को एक सौजन्यपूर्ण संदेश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गांधीजी के वहां मौजूद रहने से, जिसने कि माँ को और हम सब लोगों को हमारे जीवन के उस विपतकाल का सामना करने का बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं है। तीन महीने बाद में, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया था। हम लोग वहां नुवारा एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुज़ार रहे थे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हें यहा क्यों न बुला लूँ? वह बहुत थक गये होंगे और यहाँ आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैंने उन्हें इलाहाबाद तार देने की तैयारी करली थी।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थी। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर पडी थी २८ फ़रवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियो मे दिया गया था। इस तरह वह कोई साढ़े पाँच साल तक इधर-उधर सफ़र करता रहा। १९२६ मे मैं जब कमला के साथ योरप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से वह खत लिखा था। इटालियन लॉयड स्टीमर के पते पर, जिससे कि मै यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानो मे भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरों मे हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह बिदाई का पत्र था!

•

३४

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई उसी दिन और प्रायः उसी समय बम्बई में गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज़ से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका ख़याल अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्य-समिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी मीटिंगें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स में क्या-क्या हुआ? मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-बखुद अपने एडिनबरोवाले भाषण के सम्बन्ध में खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावरण का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के सम्बन्ध में ऐसी कोई मार्के की बात नहीं कही, जिसे हम पहले से नहीं जानते हों। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ते बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशें हुईं, और फलां 'लार्ड' या फ़लां 'सर' ने खानगी में क्या-क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तों की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्व देते हुए दिखाई देते हैं कि बड़े अफ़सरों ने खानगी बातचीत में या गप-शप में क्या-क्या कहा। लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गई कि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के निर्णयों की कुछ भी वक़त नहीं है। किसीने सुझाया—मैं उनका नाम भूल गया हूँ—कि गांधीजी वाइसराय को मुलाक़ात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत करलें। वह इसपर रजामन्द हो गये। हालांकि मैं नहीं समझता कि उन्होंने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफों के साथ, कुछ क़दम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। उन्हें चूंकि अपने पक्ष की सत्यता का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगों को भी क़ायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्तन की कोशिश करते हैं। राग-द्वेष के बन्धनों को तोड़कर दूसरे की सदिच्छा और उच्च-भावनाओं तक

पहुँचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्त्तन हो गया तो विश्वास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में अपने विरोधियों पर उन्होने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की है, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ़ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशंसक बन गये, और हालांकि वह नुक्ताचीनी करते रहते है, मगर उसमें कही उपहास या खिल्ली उड़ाने का नामोनिशान नहीं रहता।

चूँकि गांधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगों से मिलना पसन्द करते है जो उनसे मत-भेद रखते है। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों में व्यक्तियों से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गांधीजी कोई बड़ी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नही गये थे। सविनय भंग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड़ गया था; क्योंकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की बातों का बड़ा ज़ोर था।

बातचीत का इन्तज़ाम फौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे में कोई बातचीत संजीदा तौर पर हुई तो मैं कार्य समिति के मेम्बरों को बुला लूँगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। तीन हफ्ते तक वहाँ रहे। रोज़ मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गाधीजी कई बार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज़ खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन में इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने मे ज़रा-ज़रा-सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा लफ्ज़ था सविनय-भग को स्थगित कर देना। गाधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है; क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे, जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'रोक देना' शब्द इस्तेमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीजों पर गौर करने में

लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज़-रोज़ की लड़ाई रोक दी जायगी तब अधिक अनुकूल वातावरण में आधार-भूत बातों पर ग़ौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को एक आरज़ी सुलह तक ले जानेवाली मान रहे थे, जिसके बाद असली विषयों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिंच-खिंचकर आते थे। बहुत-से विदेशी, खासकर अमेरिकन, अखबार-नवीस थे और वे हमारी ख़ामोशी पर कुछ नाराज़-से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमें गांधी-अर्विन-बातचीत के बारे में नई दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा खबरें मिल जाती हैं। और यह बात सही थी। इसके बाद बड़े-बड़े अल्काबधारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड़ आते थे। क्योंकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलंद जो हो गया था। उन लोगों को जो अबतक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे और जब-तब उनकी बुराई करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता था। कांग्रेस का बोलबोला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओ के साथ मेलजोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यो के प्रति जोरो के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे-इनसे कोई वास्ता नही है।

फ़िरकापरस्त लोग भी इन घटनाओं से जगे और उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि कही ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गाधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि कौमी मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल रजामन्द हैं। अगर आप शुरुआत भी कर दें तो समझौते में कोई दिक़्क़त पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियो के लोगों का सतत प्रवाह डा० अन्सारी के बंगले की ओर हो रहा था, जहाँकि गांधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, ओर फुरसत के वक्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालो से हम खास करके कस्बों में और देहात में रहनेवाले गरीबों के और उन लोगो के जो जेलो में ठूंस दिये गये थे, संपर्क में आते रहते थे; लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग जो गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वह पहलू जो घटनाओं और स्थितियों के साथ अपना मेल मिलाना जानता है। क्योंकि जहां कही उन्हें सत्ता और सफलता दिखाई दी वे उसी तरफ झुक गये और अपनी मधुर

मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमें कितने ही हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार के मजबूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ़ स्तम्भ बन जायँगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नई दिल्ली में घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौक़ा पा सकता था; क्योंकि उनका शेष सारा समय बंटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसीको बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बात-चीत की। गुजिश्ता जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी; और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से आश्चर्य में डाल दिया। मैंने तो खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा और अगर राज्य में हुकूमत का पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग़ में उसका कैसा ढाँचा बिठाया था; मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबंध तथा दूसरे विभागों पर जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर क़ायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमें बेशुमार दिक्कतें पेश आती हैं। मुझे यह दिखाई पड़ता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दें, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ आधार समझने में जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है; क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताबिक राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे को बनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आज-कल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दों में "ज्यादा-से-ज्यादा गधों को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरें खिलाना" है।

गांधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग और वह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितंबर १९३४) लोकतंत्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपनेको 'पैदायशी लोकतन्त्र-वादी' मानते हैं और कहते हैं कि अगर 'मनुष्यजाति के निहायत गरीब-से-ग़रीब के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने से, उनसे बेहतर हालत में अपनेको न रखने की उत्कंठा से और उनके समतल तक पहुँचने के जागृत प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतंत्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं:—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के अपने लोकतन्त्री-स्वरूप और प्रभाव की इज्जत उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आनेवाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की तादाद के कारण नहीं, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा रोज-ब-रोज बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतंत्र अगर अबतक विफल नहीं हुआ है तो कम-से-कम वह आजमाइश पर ज़रूर है। ईश्वर करे कि हिंदुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतंत्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल न होने चाहिएँ जैसे कि वे निःसंदेह हाल में हो रहे हैं, और न बड़ी संख्या लोकतंत्र की सच्ची कसौटी है। यदि थोड़े-से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं उनकी स्पिरिट, आशा और हौंसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो वह लोकतंत्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा यह मत है कि लोकतंत्र का विकास बल-प्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतंत्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती; वह तो अंदर से ही लाई जा सकती है।"

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतंत्र नहीं है, जैसा कि वह खुद कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टो के लोकतंत्र की धारणा से मिलता-जुलता है; क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकाक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतितिधित्व का दावा कर सकते हैं, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी वह समानता थोड़ी ही है और हमको बहुत दूर तक नहीं ले जाती है। जीवन को देखने और उस तक पहुँचने के साधनों में बहुत ज्यादा मतभेद है—मुख्यतः उसे प्राप्त करने के साधन और बल के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतंत्री हों या न हों, वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि

अवश्य है। वह उन करोड़ो की जाग्रत और सुप्त इच्छा-शक्ति के सार-रूप है। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज्यादा है; क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्त्ति हैं। हाँ, वह एक औसत किसान नही है। वह एक अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्यत्व प्रदान किया है और आध्यात्मिक मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक जबर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और अपने प्रति भयंकर वफादारी और ममता को दूसरों के हृदय में उमड़ाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान है जो बातों को एक किसान दृष्टि-बिंदु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत किसान-भारत है, और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरंत असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और प्रायः सहज-स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत सूझ रखते है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नही, बल्कि खुद अपने लोगों और नजदीकी साथियो के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए है। शायद दूसरे किसी भी देश मे आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है, पैगम्बरों जैसे धार्मिक पुरुषो को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बडे तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर त्याग और तप के द्वारा बहुत पुण्य का संचय करके छोटे-छोटे देवताओं के प्राधान्य को हिला दिया तथा प्रचलित व्यवस्था को उलट-पलट दिया। जब कभी मैने गांधीजी की अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथायें याद आ जाया करती है। वह सपष्टतः दुनिया के मामूली नमूने के नही हैं। वह तो बिरले और और ही तरह के सांचे मे ढाले गये है और उनकी आँखों से मानों एक अज्ञात हमारी तरफ घूरता रहता है।

हिन्दुस्तान पर, कस्बों के हिन्दुस्तान पर ही नहीं, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को अपने ही लायक और फिर भी अपनेसे इतना भिन्न एक देव-मूर्त्ति और एक प्रिय नेता बनावे। उन्होंने पुरानी और धुंधली स्मृतियों को फिर ताजा किया और

उसको खुद अपनी ही आत्मा की झलकें दिखलाई। वर्तमान काल की घोर मुसीबतों से कुचली जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने में तसल्ली मालूम होती थी। मगर वह आया और उसने हमारे दिलों को आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए एक मनो-मोहक बन गया। इटालियनों के दोमुहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ और आगे भविष्यकाल की तरफ देखने लगा और दोनों के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममें से कितने ही इस किसान दृष्टिकोण से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गये थे। हम अपनेको नई रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन-सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे। किसान के दृष्टिबिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गांधीजी की राजनीति मे उनका साथ दिया और किस तरह बहुतसी बातों मे उनके भक्त और अनुयायी बन गये? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गांधीजी को नही जानता है उसे उस जवाब से तसल्ली न हो सकेगी। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या नही हो सकती। वह एक अजीब बल है जिसका मनुष्य के अन्तःकरण पर अधिकार हो जाता है और गांधीजी के पास यह शक्ति बहुत बड़ी तादाद में है और जो लोग उनके पास आते हे उन्हे वह अक्सर मुख्तलिफ रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि वह लोगों को आकर्षित करते है, मगर लोग जो उनतक गये है और जाकर ठहर गये है सो तो अखीर में अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे; कई बार तो वे उन्हें समझते भी न थे; मगर जिस कार्य को करने का उन्होंने आयोजन किया वह एक मूर्त्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी कदर कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लंबी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा राज-नीति में पोषित चली आ रही थी, किसी भी कार्य का स्वागत ही हो सकता था। फिर एक बहादुराना और कारगर कार्य का तो, जिसके कि आसपास नैतिकता का तेजोवलय भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या! बुद्धि और भावना दोनों पर उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता था। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य के सही होने का भी कायल हमें कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालांकि हमने उनके जीवन-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। कार्य को उसके मूलभूत विचार से अलग रखना कदाचित्

उचित विधि नहीं है और उससे आगे चलकर तकलीफ और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता। हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूंकि एक कर्मयोगी हैं और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जोकि हमें सही दिखाई देता था और हर हालत में वह रास्ता जिसपर वह चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमें जुदे-जुदे रास्ते चलना पडे तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवकूफी होगी।

इस सबसे यह ज़ाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित। हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं और जो शख्स इतनी ज़बरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और उच्च आकांक्षाओं के माफिक हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का कायल कर सके तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे, और हमें यह संभवनीय दिखाई पड़ता था कि हम उनको कायल कर सकेंगे। क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी बागी है, एक क्रान्तिकारी है, जो भारी-भारी परिवर्तनों के लिए कमर कसे रहते है और जिसे परिणाम की आशंकायें रोक नही सकतीं।

किस तरह उन्होंने इन सुस्त और पस्तहिम्मत लोगों को एक अनुशासन में बाँधकर काम में जोत दिया—बल-प्रयोग करके या दुनयवी लालच देकर नहीं बल्कि महज़ मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढ़कर खुद अपने उदाहरण के द्वारा! सत्याग्रह की शुरुआत के दिनों में, ठेठ १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें 'प्यारा स्लेव ड्राइवर' कहा करते थे। अब इस एक युग में तो हालत और भी बदल गई है। उमर उन परिवर्तनों को देखने के लिए मौजूद नहीं हैं। मगर हम जो ज्यादा खुशकिस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनों से पीछे के ज़मानों को देखते हैं तो दिल उमंग और अभिमान से भर जाता है। १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक आश्चर्य का साल था और ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी ने अपनी जादू की लकड़ी से हमारे देश का नकशा ही बदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नही था जो यह समझता हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आखिरी विजय पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक नहीं है। हमे तो अपने लोगों, अपनी बहनों, अपने नौजवानों और बच्चों पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होंने योग दिया उसपर, फख्र था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्हीं भी लोगों के लिए कीमती था। मगर हमारे लिए तो जोकि गुलाम और दलित

हैं, दुहेरा उपकारी था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय कि जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खास मुझपर तो गाँधीजी ने असाधारण कृपा और उदारता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें खास तौर पर मेरे नजदीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सम्भव है उन्हे समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होंने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मैं एक-एक क़दम बढ़ता जाऊँगा। उस वक़्त मुझे यह लाज़िमी-सा दिखाई देता था कि वह समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था से हिंसा, बेइन्साफ़ी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक़्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं महसूस करता हूँ कि गाँधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मूल भेद है।

अब हम फिर फ़रवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गाँधी-अर्विन-बातचीन होती रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गाँधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय भंग पर (जोकि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनियम किया। हमें यकीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी त्योंही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौक़ा नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबके सरकार कांग्रेस पर ज़ोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिये और हमने आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खास तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना वारिस मुक़र्रर करदे और कार्य-समिति में जो स्थान खाली हों उनके लिए भी मेम्बरों को नामजद करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने की बहुत कम सत्ता थी। वे सिर्फ़ जेल जाने भर को थीं। और इसमें एक जोखम हमेशा ही लगी रहती

थी। वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोड़ी विषम हो जाय। इसमें स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएँ। जबतक मूल कमिटी के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमिटी की हैसियत में काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे तब कोई कमिटी नही रहेगी, और हमने जरा बढ़-चढ़कर कहा कि कार्य-समिति की सत्ता उस अवस्था में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको आवाहन करते हैं कि वे बिना किसी समझौते की भावना के लडाई को जारी रक्खें।

यह प्रस्ताव क्या था, संग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमें दिखाया गया था और इसमें समझौते के लिए कोई गली-कूचा नहीं रक्खा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मंजूर की गई थी कि प्रधान कार्यालय के लिए दिन-पर-दिन यह मुश्किल होता जाता था कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रक्खे और नियमित रूप से हिदायतें भेजे। यह लाजिमी था। क्योंकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्त्ता मशहूर स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लमखुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० मे छिपे तौर पर हिदायते भेजने, रिपोर्टें मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह दिखा दिया कि हम गुप्त खबरे देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते है। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नही खाती थी और गाँधीजी इसके खिलाफ़ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायते मिलने के आभाव में हमें काम की जिम्मेदारी मुक़ामी लोगो पर ही छोड़नी पड़ी थी। क्योंकि नही तो वे ऊपर से हिदायतें आने की राह देखते बैठते और कुछ काम नहीं करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता हिदायतें भी भेजी जाती थी।

इस तरह हमने यह तथा दूसरे प्रस्ताव पास किये (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालात बदल गये थे।) और जाने के लिए बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ़ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गाँधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमें जगाकर कहा कि राजीनामा हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी कलमों को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी। लेकिन कलम नं० २ [1] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो संरक्षण

१. दिल्ली-समझौते की कलम नं० २ (५ मार्च, १९३१) यह है:—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न

आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए कतई तैयार न था। मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ कहने की गुंजाइश भी कहाँ रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जायँ? अपने मतभेद की घोषणा करदें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनयभंग-आन्दोलन खतम हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गांधीजी समझौता कर चुके है, तो कार्य-समिति तक उसे आगे नहीं बढ़ा सकती थी।

मैं इस बात के लिए तो बिलकुल रजामंद था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे, कि सविनय भंग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममें से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियों को वापस जेल भेज दें या जो कई हजार लोग पहले से जेलों में पड़े हुए है उनको वहीं पड़ा रहने देने के साधन बने। जेलखाना ऐसी जगह नहीं है जहाँ हम अपने दिन और रात गुजारा करें, हालांकि हम बहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार करते है और उसके कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के बारे में बड़े हलके दिल से बातें करते हैं। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गांधीजी और लार्ड अर्विन के बीच जो बातें चलीं उनसे लोगों के दिलों में ये आशायें बँध गई कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खबर मिली तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योंकि इससे अधिक वह हो भी नहीं सकता था) हक़ में थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्व की बात न छोड़नी पड़ती हो।

जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी मदों पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी; मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातों का था।

पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेन्स में पहले विचार हो चुका है। वहाँ जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है, इसी प्रकार भारतीय-उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

एक तो यह कि हमारा स्वतंत्रता का ध्येय किसी भी क़दर नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति पर क्या असर होगा ? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाकों में तो मुश्किल से लगान वसूल होने पाया था। किसानों ने खूब मजबूती दिखाई थी, और संसार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थायें और चीजों के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई आरजी समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकररी किस्त के मुकाबिले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में क्या होगा ? गांधीजी ने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होंने कहा था कि यद्यपि करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताक़त या हैसियत से ज्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यक़ीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानों की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोल-मोल आश्वासन था। लेकिन उन हालात में इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही कर दिया गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की कलम नम्बर २ से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी खतरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था ? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रातभर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसा खालीपन महसूस करने लगा कि मानों उसमें से कोई क़ीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो।

तरीक़ा यह दुनिया का देखा सही–
गरजते बहुत वे बरसते नहीं।[1]

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"This is the way the world ends,
Not with a bang, but a whimper."

३५

कराची-कॉंग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बात-चीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्व की बात खो दी गई है और न सिद्धान्त ही छोड़ा गया है। उन्होंने कलम नम्बर २ का एक खास अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतंत्रता की माँग से मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—"भारत के हित में"। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका क़ायल तो न हुआ, लेकिन उनकी बात-चीत से मुझे कुछ तसल्ली ज़रूर हुई। तो भी मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ़ रख दें, एकाएक कुछ कर डालने के आपके तरीक़े से मैं डर गया था। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मैं क़तई नहीं समझ सका हूँ और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर एसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मैं खुद भी इसका जवाब नहीं दे सकता, न यही पहले से बता सकता हूँ कि यह हमे किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ? अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नही था। वह वक्त गुजर चुका था और मैं जो-कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे मंजूर करते हुए उसूलन अपनेको उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती; लेकिन हमारे बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मंजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसा कि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फौरन् अखबारवालो से बात-चीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया था और कहा कि हम स्वतंत्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लॉर्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई ग़लतफ़हमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कॉंग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतंत्रता ही हो सकता है और उसे बढ़ाने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड अर्विन इस दावे को

मान तो नही सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हां, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक है।

इसलिए मैने समझौते को मान लेना और तहेदिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा बाद मे लॉर्ड अर्विन के साथ बातचीत के दर्म्यान गांधीजी ने सत्याग्रही क़ैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक क़ैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही क़ैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जाने वाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हज़ारों क़ैदी थे जो मुक़दमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नज़रबन्द भी थे जो बिना मुक़दमा चलाये, बिना इलज़ाम लगाये या सज़ा दिये ही जेलो में भर दिये गये थे। इनमें से कितने ही नज़रबन्द वर्षों से वहाँ पड़े हुए थे और उनके बारे में सारे देश मे नाराज़गी फैली हुई थी—खासकर बंगाल में जहाँ कि बिना मुक़दमा चलाये कैद कर देने के तरीक़े से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पोलीन टापू के (या शायद ड्रेफस के मामले में) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार का भी मन्तव्य था कि सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत का होना है। सबूत न होना तो ग़ैर-साबित किया ही नही जा सकता। नज़रबन्दो पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी है। गांधीजी ने समझौते के अग-स्वरूप तो नही, परन्तु इसलिए कि बगाल में राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति में आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई।

भगतसिंह की फाँसी की सज़ा रद कराने के लिए गांधीजी ने जो ज़ोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर ज़ोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गई।

उन्ही दिनो की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों की मन:स्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई है। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आज़ाद है। मैंने उसे पहले तो कभी नहीं देखा था। हाँ, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जब कि १९२१ में असहयोग-आन्दोलन के जमाने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम

भंग करने के अपराध में जेल में उसे बेंत लगवाये गये थे। बाद को उत्तर-भारत में वह आतंकवादियों का एक मुख्य आदमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन अफवाहों में मैंने कोई दिलचस्पी न ली थी। इसलिए वह आया तो मुझे ताज्जुब हुआ। वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आम तौर पर ये आशायें बँधने लगीं कि सरकार और कांग्रेस में कुछ-न-कुछ समझौता होनेवाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो हमारे दल के लोगों को शान्ति मिलेगी या नहीं ? क्या हमारे साथ अब भी विद्रोही का-सा बर्ताव किया जावेगा ? जगह-ब-जगह हमारा पीछा इसी तरह किया जायगा ? हमारे सिर के लिए इनाम घोषित ही होते रहेंगे और हमारे सामने फांसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या हमारे लिए शान्ति के साथ काम-धंधे में लग जाने की भी कोई संभावना होगी ? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार हैं और उनसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि शान्तिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है, मगर वह आतंकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आजादी के लिए तो उसने आतंकवाद को खारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-ब-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूँगा ? उसने कहा—इधर हाल में जो आतंककारी घटनायें हुई हैं वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए की गई हैं।

मुझे आजाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद में उसका और सबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप में तो वह अवश्य ही प्रायः मर गया है; और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनायें हो जाती हैं वे या तो किसी वजह से या बदले में या बचाव में या किसीकी लहर से हुई घटनायें हैं, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये हैं या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं। हाँ, अब वे आतंकवादियों की भाषा में नहीं सोचते, जैसा कि पहले किया करते थे। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फासिस्ट बन गई थी।

मैंने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का कायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूँ ?', मेरे पास कोई जवाब न था।

ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे। क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ्ते बाद ही जब गांधी-अर्विन-बातचीत चल रही थी, मैंने देहली में सुना कि चंद्रशेखर आजाद पर इलाहाबाद में पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक्त किसी एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपनेको बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ़ से गोलियाँ चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर आखिर गोली लगने से वह मर गया।

आरजी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे देश में सविनय भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कारंवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओं ने हमारी हिदायतों का पालन बड़े ही नियम के साथ किया। हमारे साथियों मे ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज़ थे, और कितने ही तो आग-बबूला भी थे। इधर उन्हें सविनय भंग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल संगठन ने अमल के द्वारा इस नई व्यवस्था को स्वीकार किया, हालांकि कितने ही लोगो ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे में इसका क्या असर होगा? क्योंकि वहाँ कुछ क्षेत्रों में करबंदी-आन्दोलन तेज़ी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही क़ैदी रिहा हो जायँ। वे हज़ारों की तादाद में छूटते थे और कुछ समय बाद सिर्फ वही लोग जेल में रह गये जिनका मामला बहस-तलब था —उन हजारों नज़रबन्दो के और उन लोगों के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए थे और जो रिहा नहीं किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए क़ैदी जो अपने गाँवों और कस्बे में गये तो स्वभावत: लोगो ने उनका स्वागत किया। कई लोगों ने सजावट भी की, बन्दनवारें लगवाईं, जुलूस निकाले, सभाये की, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह जमाना जबकि चारों ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखाई देती थीं, सभा और जुलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालों में विजय का

भाव भी आ गया था। यो अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था; लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में स्पिरिट कुचल न दी गई हो तो) हमेशा एक आनंन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुंड-के-झुड लोगों के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का जिक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा ऐतराज किया था, और हमपर इसके लिएं इल्जाम लगाया गया था! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के संबन्ध में ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक उस चीज़ के कमज़ोर हो जाने से बढ़कर दु.खदाई बात दूसरी नही हो सकती जिसे वे अपना रौब समझते हैं। जहाँतक मुझे पता है, हममे से किसीको इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगों की इस गुस्ताखी पर सिर से पैर तक आग-बगूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानो उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो उसपर हम आश्चर्य से दंग रह गये। जो अखबार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते है वे तो अबतक भी इससे बरी नहीं हुए हैं। अब भी वे, हालाँकि ३–३॥ साल हो गये हैं, उन साहसिक और बुरे दिनों का, जबकि उनके मता-नुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी फतह हासिल की हो, जिक्र भय से कांपते हुए करते हैं। अखबारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो क्रोध उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हे अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन मे तरह्-तरह की विषमताये आ गई थी। यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जुलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनके यहाँ इतना तहलका मच गया।

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने' का कोई भाव नहीं था और नेताओं में तो और भी नही। लेकिन हाँ, अपने भाइयों और बहनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उसपर हमें फख्र जरूर है। उसने हमें अपनी ही निगाहों में ऊँचा उठा दिया, हमें आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान् आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खींच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको

अपने मंजिलेमकसूद के ज्यादा नजदीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव में तो हममें से बहुतों को यही खयाल रहा है कि दिल्ली-समझौते में तो सरकार ही ज्यादा फायदे में रही है। इसमें से जिन लोगों ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर है और एक बड़ा और मुश्किल संग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रों के द्वारा लड़ाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की स्पिरिट को तोड़ने के दोषी बताये गये।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानों के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह भी थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरंत ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू करदी। बहुत दिनों के बाद सूबे के कुछ आला अफसरों से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नही रक्खा था—मै किसानो के मामले पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लंबी लिखा-पढ़ी भी चली। प्रान्तीय कमिटी ने हमारे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के संपर्क में रहें। सरकार की तरफ से ये बातें मान ली गई कि हाँ, किसान वाक़ई संकट में है, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये है, और एक औसत किसान लगान देने में असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि कितनी छूट दी जाय; लेकिन इस विषय में कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ मे था। मामूल के मुताबिक तो सरकार जमींदारों से ही ताल्लुक़ रखती है, सीधा काश्तकारो से नही; और लगान कम करना या उसमें छूट देना जमींदारों का ही काम था। लेकिन जमींदारों ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया जबतक सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किसी भी सूरत मे अपने काश्तकारों को छूट देने की ऐसी पड़ी नही थी। इसलिए फ़ैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानों से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनों तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नही की। ग़ालिबन गवर्नर सर मालकम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। इसमें तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी। ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कार्रवाई करने में हिचकते थे, और सर मालकम हेली के आने तक (गर्मियों तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारो को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब हो गई। जेल में भी मेरी तबीयत अलील रही। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुए। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने में है, जहाँकि पहुँचना मुश्किल है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सों से बिलकुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ दूर-दूर के हिस्सों से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिजाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। लोगों के दिलों में शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश में बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माँग का बड़ी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगों के प्रति विश्वास का भाव था और उसके उत्साह में संयम दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबर्दस्त प्रश्नों और खतरों के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जानेवाले कार्यों के मंगलाचरण थे और वे यों ही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौते को यद्यपि बड़ी बहुमति ने पास कर दिया था, तो भी वह लोकप्रिय नहीं था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगों के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियों में लाकर पटक देगा। कुछ ऐसा-सा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल हैं उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस के अधिवेशन के ठीक पहले ही एक और देश की नाराजगी का बाइस पैदा हो गया था—भगतसिंह का फाँसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहाँ पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें दौरदौरा तो गांधीजी का ही था। अब्दुल-गफ्फारखां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कहीं भी जाते लोग तालियों से उनका स्वागत करते। क्योंकि अप्रैल १९३० से गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी

उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोड़ी है। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के थे। सच पूछो तो उनका नाम खुदाई खिदमतगार था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ में कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी जरा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह तो राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था। मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैंने इन्कार कर दिया, मगर बाद को मुझे यह अपनी कमजोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई दी। या तो मुझे इसके हक मे होना चाहिए या इसके खिलाफ; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले में टालमटोल करूँ और लोगो को अटकलें बाँधने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दूँ। अत. बिलकुल आखिरी क्षण मे खुले अधिवेशन मे प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यो उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मजूर कर लें। मेरा वह भाषण जो ऐन वक्त पर अन्त स्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिसमे न कोई अलंकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणो से ज्यादा सफल रहा जिनके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय है। आखिरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी। क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस मे एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ़ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नों के मुक़ाबिले से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगों से और आम तौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक था, उसको छोड़कर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा ग़रीबों का बोझा कम करके अमीरों पर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा क़दम, समाजवाद की दिशा में, उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद क़तई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर बात को आसानी से मंजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और निःसार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े लोगों को भारी और गहरे विचार मे डाल दिया। कदाचित् उन्होंने अपनी सदा की अन्तर्दृष्टि के मुताबिक़ यह भी कल्पना की कि बोलशेविको का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुँचा है और कॉंग्रेस के नेताओ को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर मे रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग़ को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाओं के सुनने का बड़ा शौक रहता है। और फिर ये क़िस्से एक रहस्यपूर्ण ढग से थोड़ा-थोड़ा करके अपने प्रीति-प्राप्त अखबारो में दिये जाते हैं और साथ मे यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते है। उनके इस मान्य प्रचलित तरीक़े से मौलिक अधिकार वग़ैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार जिक्र किया गया है और मै उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मतियो के निदर्शक हैं। किस्सा यहॉतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टों से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढाचा बनाया है और उसने कराची में वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गॉंधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुखालिफत के लिए तैयार रहिए। और गॉंधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी तथा आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कॉंग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहातक मुझे पता है, यो साफ-साफ लिया नही गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारो से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है। मुझे छिपे तरीको और और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नही, इसलिए मै सीधे ही कह दूँ कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय मे है। शिमला और दिल्ली के ऊचे आसनवालो के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे मे क्या खयाल करते है। उन्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते है। क्योकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियो की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है।

जहातक गाधीजी से ताल्लुक है, उनसे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ सालो से है और मुझे उन्हें बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह ख़याल कि मै उन्हें चुनौती दूँ, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह मे राक्षसी है। हा, हम एक-दूसरे का

खूब लिहाज रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाज़ारू तरीकों से हरगिज़ काम नहीं लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का खयाल पुराना है। कुछ सालों से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९ में उसने अ० भा० कां० कमिटी में कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फ़रवरी १९३१ मे, जबकि मैं गांधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होंने आर्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और सूचनायें की। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों उसकी भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले मे कुछ दिन की देरी हो गई। आखिर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी में और कांग्रेस मे आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० कां० कमिटी को सौंप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा मे उसको और विषद और व्यापक बनावे।

हां, जब मै इस प्रस्ताव का खर्रा बना रहा था तब कितने ही लोगो से, जा मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से उसका कतई कोई ताल्लुक नही था, और मै यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नही करेंगे और इसकी खिल्ली तक उड़ावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद मे एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता नही था कि वह हिन्दुस्तान में है। ताहम मैंने उन्हे फौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ मे मास्को मे देखा था। कराची मे वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पाँच मिनट से ज्यादा नहीं। पिछले कुछ सालो मे राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुँचाने

में कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है, ताहम मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए और मुसीबत में थे तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूँ। मैं उनकी तरफ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ इसलिए भी खिंचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड़ दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगों की उनकी ओर दिलचस्पी नहीं थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपनेको कम्यूनिस्ट कहते हैं वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालों तक रूस में रहने और कोमिनटर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यों हुआ इसका मुझे पता नहीं है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या है और पुराने कम्यूनिस्टो से किस बात मे उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्रायः हरेक के द्वारा अकेला छोड़े जाते देखकर मुझे पीड़ा हुई और अपनी आदत के खिलाफ़ मै उनके लिए बनाई गई डिफेंस कमिटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियो से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में हैं, बीमार है और प्रायः तनहाई मे रह रहे है।

कराची में काग्रेस-अधिवेशन का एक आखिरी कार्य था कार्य-समिति का चुनाव। यों तो उसका चुनाव अ० भा० कॉ० कमिटी द्वारा होता है, मगर ऐसा रिवाज पड़ गया था कि उस साल का सभापति (गाधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियों की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० का० कमिटी में मंजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची में हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नही हुआ था। अ० भा० कॉ० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरो ने इस चुनाव पर एतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होंने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का उसमें कोई भी आदमी नही था। एक ऐसी अ० भा० कमिटी मे जिसमें केवल १५ ही मेम्बर हो, यह सरासर असंभव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहे। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हमे कुछ भी इल्म नहीं था, बिलकुल ज़ाती और पंजाब का मुकामी। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाजें उठाई थी वे (पंजाब में) कॉंग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार में शरीक हो गये। कॉंग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गये और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। निचले मध्यमवर्ग के लोग उसमें थे

और मुस्लिम जनता से उसका बहुत संपर्क था। इस तरह वह एक जबर्दस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम फिरकेवाराना लोगों के, जो कि या तो हवा में या दीवानखाने में या कमिटियों के कमरों में इकट्ठा होते थे, लुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज्यादा मजबूत था। अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ़ चले गये, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बाँध रक्खा था। इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुंधलासा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यों के मुसलमान-आन्दोलन में, खासकर कश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और फिरकापरस्ती दोनों अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल गये हैं। कांग्रेस से अहरार-पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही मुज़िर हुआ। मगर कराची में इसका हमें क्या पता था? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका अहसास होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग काँग्रेस से अलग हो गये हों। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही हैं, और वे गहरे हैं।

हम सब कराची मे ही थे कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दंगे की खबर हमे मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगो ने, जिनकी मदद के लिए वह वहाँ गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी भयंकरता की बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज नही कर सकती थी। उस काँग्रेस-कैम्प में हजारों आदमी उन्हें जानते थे और कुछ प्रान्त के हम सब लोगों के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागने वाले। अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि बेवकूफ हाथों ने उन्हें जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यंत उज्ज्वल रत्न से महरूम कर दिया। जब यह खबर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हें ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई।

३६

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली संभावना दिखाई न दी; क्योंकि मै जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्यायें भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जाती। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में योरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौक़ा था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कही विश्राम किया हो, और हमें कोई चिन्तायें न रही हो। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मुझे संदेह है कि शायद मिलेगा भी या नही।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में सिवा नुवाया एलीया के दो हफ्तों के ज्यादा विश्राम भी नही मिला। वहाँ के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्‌भावना बहुत अच्छी तो लगती थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया एलीया मे बहुत-से श्रमिक, चाय-बागान के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीज़ें—जंगल के फूल, सब्जियां, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ़ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहाँ के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मै देहरादून-जेल में था, तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गंभीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौक़ों पर बड़ी मदद मिली।

कमला नेहरू : : जवाहरलालजी : : इंदिरा प्रियदर्शिनी

[फ्रेड् वाइन एण्ड कं०, सीलोन के सौजन्य से प्राप्त]

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है; क्योंकि बौद्ध-धर्म के साथ-साथ जो सिद्धान्त या मत बन गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्खुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहाँ कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभीके चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फ़िक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आम तौर पर, उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग़ के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। उन्हें जीवन महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ़ कुछ रश्क के साथ, आँधी और तूफ़ान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हलकी उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी क़िस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आँधी और तूफ़ान ही है। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफ़ान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफ़ाक से आँधी की प्रचंडता न हो, तो भी क्या वहाँ मैं सन्तोष और सुख से रह सकूँगा?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय भी मेरी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और दिली अफ़सोस के साथ हम वहाँ से बिदा हुए। उस भूमि और वहाँ के लोगों की कई बातों की याद मुझे अब भी आया करती है; जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे स्मरण है, वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊँगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की

विषम समस्याओं का मुक़ाबिला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुज़रे, जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील है, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढे हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है, और हैदराबाद क़रीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियो की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कहीं लोगों के ख़यालात खतरनाक न हो जायँ। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद मे इतनी आज़ादी न थी। और, हालांकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोंटने और साँस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतंत्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलोर शहर मे, एक बड़े मजमे के अन्दर, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्ज़ती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में काँग्रेस ही गैरक़ानूनी संस्था करार दे दी गई है और काँग्रेस का मेम्बर भी कोई नही बन सकता, हालांकि ब्रिटिश भारत में सविनय भंग रुक जाने के बाद से वह क़ानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही है। किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की ज़रूरत ही न हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस क़िस्म की कोई सुविधायें दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभायें कभी नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभायें भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं, और उनके लिए भी खास इजाज़त लेनी पड़ती है। वहाँ कोई भी अच्छे अखबार नहीं निकलते, और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दुस्तान

के दूसरे हिस्सों में छपनेवाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि माडरेट अखबारों की भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते है, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कसबे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगो को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान मे ईसा के बाद पहली सदी मे ही आ गया था, जबकि योरप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में खूब मजबूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयो का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी क़सबे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण मे नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लड़कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हींके मकान पर इकट्ठा हो गई, और शायद कमला ने उनके सामने कोई भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवत: पुरुषों के बनाये हुए कानूनो और रिवाजो के खिलाफ़ स्त्रियो के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न दबें। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नही सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्त्यार कर लेती है।

बंबई से लंका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बंबई आ गये, और मैं फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भँवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई जरूरी मामलों पर विचार करने के लिए होनेवाली थी—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गंभीर होती जाती थी, यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था, खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखां के नेतृत्व में सीमा-प्रान्त में लालकुर्ती-दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी, बंगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी, और उसमे क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था, सदा मौजूद साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कांग्रेस के लोगो और सरकारी अफसरों के बीच में कई तरह के मामलो में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े हो गये थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इलज़ाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंन्स मे शामिल होगी? क्या गांधीजी को वहाँ जाना चाहिए?

३७

समझौता-काल में दिक्क़तें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ़्रेन्स के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आखिरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और खुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नई-नई घटनायें परिस्थिति को निरन्तर बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली और मुश्किल समस्याये खड़ी थी।

ब्रिटिश-सरकार और उसके दोस्तों की तरफ़ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखायें खिंच चुकी हैं, और अब तो इनमें रंग भरना ही बाकी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नहीं समझती थी और उसकी निगाह मे तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाकी थी; सो भी करीब-करीब कोरे कागज पर। यह तो सच था कि दिल्ली के समझौते के द्वारा संघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और संरक्षणो या प्रतिबन्धो का विचार भी मंजूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो बहुत पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए सघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नही था कि हमने खास उस तरह का सघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी संघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हां, सरक्षणो या प्रतिबन्धों के विचार का मेल बैठाना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने से स्वाधीनता में काफी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोड़ी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नही। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ़ कर दिया था कि हमें वही विधान मंजूर हो सकेगा जिसमे फौज, वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (आर्थात् अधिकाश ब्रिटिशों की) देनदारी मजूर करने से पहले अपने कर्ज़े के प्रश्न की जांच करने का हक़ हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक तबदीलियों को करना चाहते हैं। ये सब बातें गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढांचे के भी खिलाफ़ पड़ती थी।

कांग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोणों में भारी फ़र्क़ था, और अब इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता था। क़रीब-क़रीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय होने की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे, और आख़िरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो ज़रूरी बातें थीं, जिनके कारण हमारा गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आज़ादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोल-मेज़-कान्फ़्रेन्स मे हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहाँ ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष खड़ा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुकाबिला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब होता कि इस आग का ख़याल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेज़ी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था, खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त मे। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फ़र्क़ नहीं पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय भंग के कुछ क़ैदी छोड़ दिये गये। लेकिन हज़ारों राजनैतिक क़ैदी, जो नाम के लिए सविनय भंग के क़ैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नज़रबन्द भी जेलों या डिटेन्शन-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ्तारियाँ अकसर हो जाती थीं, और आम तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ़ से हमला अब भी बंद नहीं हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय भंग के मुक़ाबिले में आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी ही रही हैं। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ़ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रान्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद

से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शान्ति-पूर्ण लड़ाई के लिए माफ़िक न था। लाज़िमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि आतंकवादी और ग़ैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और मुक़ामी इन्तज़ामी अफ़सरों के लिए यह मुश्किल था कि वे खास क़ानूनों और आर्डिनेन्सों का (जो आतंकवादियों के लिए बनाये गये थे) कांग्रेसवालों, मज़दूरों और किसानों के कार्यकर्ताओं और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियों को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करें। यह मुमकिन है कि कई नज़रबन्दों का, जिन्हें अभीतक कई वर्षों से बग़ैर इल्ज़ाम लगाये, मुकदमा चलाये या सज़ा दिये बन्द रक्खा गया था, असली कुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियाँ नहीं थी, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौक़ा तक नहीं दिया गया कि वे अपनी सफ़ाई दे सकें, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतों में मुकदमे इसलिए नहीं चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हें सज़ा दिलाने लायक काफी सुबूत नहीं है, हालांकि यह सभी जानते हैं कि सरकार-विरोधी जुर्मों के लिए ब्रिटिश भारत के कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे हैं और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतों से तो बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फ़ौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नजरबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के इस पचीदा सवाल के सबब से कांग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपनेको बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी न-किसी शकल में बंगाल का कोई-न-कोई मामला जरूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए, कुछ कमज़ोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहां होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति में, वे और कर भी क्या सकते थे। बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष हो रहा था, और वहाँ यह खयाल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह ख्याल बिलकुल गलत था, क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शकल में कैसे जाहिर करे। इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रान्तीय-सरकार

इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान-वसूली शुरू करदी। मजमूई बेदखलियां और कुर्कियां होने लगी। जब हम लंका में थे तभी, जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुक़ामों पर किसानों के दंगे हो गये थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमें ज़मींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गांधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मै लंका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नही निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात मे लगातार चिल्ल-पों मचने और बढ़ने लगी। ज्यों-ज्यों ज़मींदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया, और हजारों किसान अपनी ज़मीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगीं, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश मे एक बडा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नही किये। मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना !

किसानों के इस उभाड़ और मुसीबत मे एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारो के भाव बहुत कम हो जाने से गरीब लोगो के पास, जिनमे किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नही थी तो, पिछले कई सालो की बनिस्बत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त मे भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नही हुई। वहा विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहाँ की हुकूमत विशेष कानूनो और आर्डिनेन्सो और छोटे-छोटे-से कुसूरो पर भारी-भारी सज़ाओ के कारण एक फौजी प्रबन्ध जैसी हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुल-गफ्फ़ारखा ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिसमे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छ. फीट तीन इंच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गाव-गाव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती'-दल के केन्द्र क़ायम करते थे। जहा कही वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहा-वहा वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई खिदमतगार' की शाखायें फैल गई। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ़ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नही ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हों या नही, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का

रहा था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे, इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक़ था, तेज़ी से बढ़ने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुलग़फ्फारखां ही थे— जिन्हें 'फ़ख्रे-अफ़गान', 'फख्रे-पठान', 'गाधी-ए-सरहद' वगैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ़ अपने चुपचाप और इस्तक़लाल-भरे काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलों से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में हैरत-अंगेज़ हरदिलअजीज़ी हासिल कर ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते है, उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न है; वह सियासी चालाकियों और पैतरेबाजियों को नही जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे, शरीर और मन दोनो मे सीधे, आदमी है। वह शोर-गुल और बहुत बकवास से नफ़रत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी के ढाँचे के अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगो के लिए भी आज़ादी चाहते है, मगर विधानो और कानूनी बातो के बारे में उनका दिमाग स्पष्ट नही है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज़ को पाने के लिए जोरदार काम की ज़रूरत है, और गाधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीका, जो उन्हे जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस मे न पड़ते हुए, और अपने सगठन के लिए कायदो के मसविदे के फेर में न पड़ते हुए, उन्होंने सीधा सगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हे खूब कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो, अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीलेपन के सबब से, वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद मे कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हे उनसे मिलना पड़ा, और उनका ताल्लुक बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममे से कई लोगो की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शान्ति रखने का बड़ा भारी महत्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगो ने कभी भी या छोटी भी हिसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगों के बारे मे आम तौर पर यह कहना बिलकुल गलत

होगा । आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ जाय तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता । मगर अपने-आप पर क़ाबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगो ने १९३० में और बाद के बरसो में पेश की थी वह कुछ विलक्षण जरूर थी ।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सीमा-प्रान्तीय गाँधी' को शक की निगाह से देखते है । वे उनकी बातों का यकीन नहीं करते । उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है । मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के काँग्रेसी कार्यकर्ताओं के बहुत नजदीक आ गये हैं, और इनके बीच में गहरा भाईचारा और परस्पर आदर और कद्रदानी का भाव पैदा हो गया है । खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखां को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते है । मगर वह महज एक साथी ही नही है, उससे कुछ ज्यादा है । दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाक़ी हिस्सो में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध मे हमारे साथी है, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे है ।

खान अब्दुलगफ्फारखा से पहचान होने के बहुत पहले ही मै उनके भाई डाक्टर खानसाहब को जानता हूँ । जब मै केम्ब्रिज मे पढ़ता था, तब वह लन्दन के सेण्ट-टॉमस अस्पताल मे शिक्षा पाते थे, और बाद मे जब मै इनर टेम्पल के कानूनी विद्यालय मे पढ़ता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी । जब मै लन्दन मे रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हो । मै तो हिन्दुस्तान चला गया, मगर वह इंग्लैण्ड मे ही रह गये और महायुद्ध के ज़माने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसो तक वही रहे । इसके बाद मैने उन्हें नैनी-जेल मे देखा ।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालो ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका संगठन अपना अलग ही था । यह एक विचित्र स्थिति थी । दोनों को जोड़ने-वाली कड़ी तो अब्दुलगफ्फारखां थे । १९३१ की गर्मियों मे इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रान्त के नेताओ के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवालो को काँग्रेस का ही अग बना लिया जाय । इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज़ बन गये ।

गाधीजी की ख्वाहिश थी कि वह कराची-काँग्रेस के बाद ही फौरन सीमा-प्रान्त में जायें, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया । बाद के महीनों में जब सरकारी अधिकारियों ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि मुझे वहाँ इन बातों का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय,

मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहा मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नही समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त में चले जायँ।

इन सवालों के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था, साम्प्रदायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालांकि बार-बार यह नई और अजीब शकल में सामने आती थी। गोलमेज़ कान्फ्रेन्स के सबब से इसे और भी महत्व मिल गया। क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामज़द किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्व दिया जा सके, और सामान्य स्वार्थों के बजाय इन भेद-भावो पर जोर दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, और जोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानो के किसी भी नेता को नामज़द करने से ही इन्कार कर दिया। गाधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल मे उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फ़ायदा न होगा। इसलिए उन्होने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जब कि सब सम्बधित दलो के बीच में साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर कमिटी ने यह बात न मानी, और यह फ़ैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर, कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नहीं कर पाये है, उन्हे जाने से इन्कार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूढने की कोशिश भी की। मगर इसमे ज्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियो मे, छोटे-मोटे कई मसलों के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी कांग्रेस-कमिटियों से हमारे पास बराबर शिकायतें आ रही थी कि मुकामी अफसरो ने फलां-फलां बात मे दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया है। हमने उनमे से कुछ बड़ी-बड़ी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दी, और उधर सरकार ने भी कांग्रेसवालो के खिलाफ समझौता तोड़ने के आरोप लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाये गये, और बाद मे वे अखबारो मे भी छाप दिये गये। यह कहने की ज़रूरत नही है कि इससे भी कॉंग्रेस और सरकार के ताल्लुकात सुधरे नहीं।

फिर भी, इन छोटे-छोटे मामलों के संबध में संघर्ष खुद कोई बड़ा महत्व नहीं

रखता था। इसका महत्व यही था कि इससे एक दूसरे ही अधिक मौलिक संघर्ष के बढ़ने का पता लगता था। यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नही करता था, मगर वह हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था में असामञ्जस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नही था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों में अपनी उन्नति और बिकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गों में फैल गया, और देश में एक ताक़त बन गया; और फिर उसने देहात की जनता को भी उठाना शुरू किया, जिन्हें आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सके। पुराने ज़माने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे ज़मीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे। कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनो के व्यवसायो का मुकाबिला नही कर सके। ज़मीन का बोझ बढ़ने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानो की तरक्क़ी इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फ़र्क़ न कर सकी। और फिर ये गाँव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझों से लदे हुए थे, सहसा, संसार के बाज़ारों के मुकाबिले मे डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। बराबरी के नाते से वे विदेशों का मुक़ाबिला कर नही सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औज़ार पुराने ढंग के थे, और ज़मीन के बँटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग—ज़मीदार और काश्तकार दोनो ही—सिवा उन दिनो के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमीदारों ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे ज़मीन-मालिकों और काश्तकारों दोनो ही के, मुफ़लिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिंच आये। खेत-मज़दूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग जिनके पास ज़मीन नही थी और जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ़ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि ज़मीन के बँटवारे की प्रणाली में मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यम-वर्गीय नेताओं में किसीने भी उनकी इन इच्छाओं को साफ़ तौर पर प्रदर्शित नहीं किया।

१९३० का सविनय भंग-आन्दोलन उद्योग-धन्धो और कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी कांग्रेस और सविनय भंग की तरफ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नही था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर जमीदारी प्रदेश में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तबदीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि जमीदारी तरीका अब इस जमाने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाक़ी नही रही थी। मगर ब्रिटिश-सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति में, इस भूमि-प्रणाली में कोई बुनियादी तबदीली करने की हिम्मत नही दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुकर्रर किया था, तब भी उसके निर्देशों में जमीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय, संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे ही निहित था, और वह किसी प्रकार के मोहक शब्दो या समझौतों से दूर नही किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा जमीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह सघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फ़त निकले, इसकी कोई संभावना न थी। आरज़ी इलाजों से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इजहार करना बन्द कर दें, मगर दोनों बातो से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा ख़याल है कि, ज्यादातर सरकारों की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह विचार है कि हिन्दुस्तान में ज्यादा गड़बड़ 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही वाहियात विचार है। पिछले पन्द्रह बरसों से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसे अपने करोड़ो देशवासियों से स्नेह-श्रद्धा और पूजा तक प्राप्त है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे हैं जो उसके आदेशों को मानों आँख बन्द करके मानते रहे है। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हें आगे धकेलनेवाली, बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रेरणायें थीं, जिन्होंने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की बांसुरी सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओं के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हें कोई भी काम करने की स्फूर्ति नहीं दे सकते थे। गांधीजी में नेतृत्त्व का यही खास गुण था कि

वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगो की नब्ज़ पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और कार्य के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० मे हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियो के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताकत मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानों वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ़ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज़, कुछ अनिर्वचनीय-सा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद तो था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ झुके, और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलों ने कांग्रेस के बनाये इकरार-नामां पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उन-पर नाराज़ हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन मे बैठे पहली गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में अच्छे-अच्छे क़ानूनी मुद्दो पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताक़त जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा, किन्ही अभिमान-भरे भाषणो के कारण नही, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमे शक नही कि शायद कांग्रेस के नेताओ को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ और खतरे आनेवाले है, और इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होने पूरी फिक्र रक्खी।

देश में दो सस्थाओ के पास सत्ता होने की यह अस्पष्ट भावना क़ुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाली थी। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नही, क्योकि दृश्य सत्ता तो सोलहो आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी; फिर भी, लोगो के दिमाग़ो मे उसका अस्तित्व था, इसमें तो शक नही। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि ग्रामों के कुछ ऐसे-वैसे भाषणो या जुलूसो से, जिनकी कि उन्होंने बाद मे शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना अनिवार्य ही दीखने लगा। कांग्रेस अपनी खुशी से खुदकुशी नही कर सकती थी, और सरकार भी इस द्वैध-सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नही कर सकती थी, और कांग्रेस को कुचल डालने को तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी

गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिससे उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख़ सख़्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह ख़बर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख़्त और करारा आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, राजनीति के उसूलों की निगाह से न देखकर व्यक्तियों की निगाह से देखने की लिबरलों की तरह, आदत हो गई है। वे यह नहीं समझते कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्य-वादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, असल में यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को काँग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के संबंध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणायें इसके ख़िलाफ़ थीं। उनके दिमाग़ में यह ख़याल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके काँग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक़्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा गिराया जाय। यह ख़याल बड़ी बेवक़ूफ़ी का था, मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस में विचारों की मौलिकता तो कभी मानी ही नहीं गई है। ख़ैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख़्ती से तन गई और उसने अपना पंजा और भी मज़बूती से जमाया, और पुराने पैग़म्बर के शब्दों में मानों उसने हमसे कहा कि 'मेरी छोटी अंगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; जबकि उसने तुम्हें कोड़ों से तोबा कराई, तो मैं तुम्हें बिच्छू के डंकों से कराऊँगा।'

मगर अभी तोबा करने का वक़्त नहीं आया था। अभी तो यही ज़रूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो काँग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में ज़रूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय उपस्थित कई सवालों पर बातचीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज़्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, ख़ासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्त्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौक़े मिले। मैं सिर्फ़ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ़-साफ़ बातें हुईं, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थी उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया, कि फरवरी १९३१ मे ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ उसे चला भर देने की ज़रूरत थी, सिर्फ़ बटन दबा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और एक पल-भर मे दबाया जा सकता था। और इसमे यह भी इशारा मालूम होता था, कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी आजिज़ी से और साफ-साफ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहे या करें, संघर्ष होना तो लाज़िमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कॉंग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम ज्यादा व्यापक ग़ैर-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी, कॉंग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी ख़िदमत की है। हिन्दुस्तानियो के ख़िलाफ़ आम तौर पर यह इल्ज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठन-कर्ता नही है, मगर १९३० में कॉंग्रेस ने, भारी कठिनाइयो और विरोध के होते हुए भी, एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज-कान्फ्रेंस में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आख़िरी हफ्ते में हुई। जाने या न जाने का आख़िरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी, और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नही चाहते थे। अन्त में एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आख़िरी घड़ी किया गया, ताकि वह उस जहाज़ से जा सकें जिस-में गोलमेज़-कान्फ्रेंस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में, यह एक तरह से बिल्कुल ही

आखिरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी। शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और कालका से छूटनेवाली गाड़ी पकड़ने के लिए दूसरी गाड़ियाँ रोक दी गईं।

मैं उनके साथ शिमला से बम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हे बिदाई दी, और वह अरबी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ़ बढ चले। बस, अगले दो साल तक के लिए मुझे यही उनका अन्तिम दर्शन था।

३८
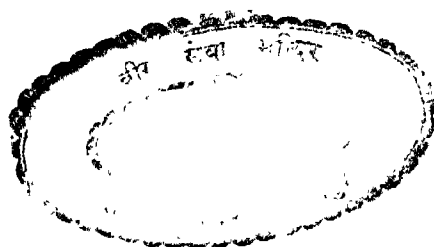
गोलमेज़-कान्फ्रेन्स

एक अंग्रेज अखबारनवीस ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गाँधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन मे गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे बहुत काफी देखा है। अपनी किताब मे उसने लिखा है:—

"मुलतान नाम के जहाज़ मे जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गाधीजी के खिलाफ़ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक्त आते ही कॉंग्रेस उन्हें निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गांधीजी को निकाल-कर ग़ालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरो को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी मे मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नही छिपाते थे। उन्हीके लफ्ज़ों में गांधीजी का दिमाग़ साफ नहीं है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमाग़वाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमागवाले अनुयायी आपको दे तो उसको अपनी तरफ करना अच्छा ही है।"[१]

मुझे पता नही कि इस उद्धरण में जो बातें कही गई हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के दूसरे मेम्बरो के विचारों को, जो सन् १९३१

१. ग्लोर्न बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उद्धरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौक़ा अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन शख्सों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गये हैं। खासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस विषयक वाक़यात। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को कॉंग्रेस की सदारत और उसके जरिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कॉंग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कॉंग्रेस के किसी भी सदर से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बार-बार सदर होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके

में लन्दन आ रहे थे, कहाँतक प्रकट करती है। लेकिन मुझे यह बात ज़रूर आश्चर्य-जनक मालूम होती है कि हिंदुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख्स, फिर चाहे वह अखबारनवीस हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है! मैं तो उसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि इससे पहले मैंने किसीको इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना। लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नही है जो समझ में न आये, क्योंकि तभी से मै ज्यादातर जेल मे ही रहा हूँ।

कुछ साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सदर महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभीतक कांग्रेस-कमिटियां गैर-क़ानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीकों पर काम नहीं कर सकती थीं। इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत तमाम कमिटी ने गांधीजी से अर्ज की कि वह सदारत मंजूर कर लें और इस तरह जहाँ वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ; ख़ासकर आगामी नाजुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि वल्लभभाई को सदारत मंजूर कर लेनी चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ ज़ाती-सा है, मैं ज़रूर कुछ कहना पसन्द करूँगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है,और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेज़ों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, क़तई ग़लत है। असली वाक़यात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हें यहाँ दिये देता हूँ। वकालत के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज़ बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायँ। उन्होंने कहा, मैं खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर खड़ा होगा, क्योंकि बहुत-से

ये साजिश करनेवाले शख्स कौन है और इनका मक़सद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों मे सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा खयाल है, इसलिए, साजिश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मजबूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं ज़रूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नज़दीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ साज़िश करने का खयाल ही राक्षसी है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरों के बारे में यही बात सही है। वह कमिटी वस्तुतः गांधीजी की बनाई हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह-मशवरे मे उन्होंने इस कमिटी को नामज़द किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमे सालों से रह चुके थे और करीब-क़रीब उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमे राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टि-

---

अंग्रेज़ मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से एतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ़ वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद्द करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना पसन्द नहीं करूँगा। इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मैं इलाहाबाद रक़बे की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम की ताईद करा दूंगा। लेकिन अखीर में यह खयाल छोड़ दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लब में नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ कर दी कि मैं बेइज्ज़ती का ख़तरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। इस घटना की बदौलत वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जान एज़ के एहसानमन्द बन गये और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेज़ों से उनको दोस्ती तथा मेल मुहब्बत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८६० से लेकर १८६६ के दर्म्यान, और पिताजी इसके कोई २५ वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तबदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के जंगी क़ानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ऐन मौके पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अंग्रेज़ों से मिलना-जुलना छोड़ने का, उनसे सब ताल्लुक़ात छोड़ने का, उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहाँ ज्यादातर अंग्रेज़ अफसर हों वहाँ असहयोग और सविनय भंग से लाज़िमी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है।

कोण का मतभेद था। और सालों तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे खतरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गये थे। उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'संयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमें से किसीकी बाबत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरों के खिलाफ़ साजिश करेगा। कमिटी में गांधीजी की चलती थी और सब लोग रहनुमाई के लिए उन्हींकी तरफ़ देखते थे। कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० में हमारी लड़ाई को जो बड़ी कामयाबी मिली थी उसके बाद सन् १९३१ में तो यह बात और भी ज्यादा बढ़ गई थी। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरों को उन्हें निकालने की कोशिश करने में क्या मकसद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हें जल्दी समझौता करने के लिए राजी हो जानेवाला और इसलिए एक किस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता? वह तो इस जीवित-आन्दोलन के अंग थे। बल्कि सच बात तो यह है कि वह खुद ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लड़ाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हींपर मुनहसिर था। बिलाशक कौमी लड़ाई उनकी पैदा की हुई नहीं थी, न वह किसी शख्स पर मुनहसिर थी। उसकी जड़े इससे ज्यादा गहरी थी। लेकिन लड़ाई का वह खास पहलू, जिसकी निशानी सविनय भंग थी, खास तौर पर उन्हींपर अवलम्बित था। उनसे अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बद करना और नई नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक्त काफी मुश्किल साबित होता; लेकिन १९३१ में तो कोई उसका खयाल भी नहीं कर सकता था।

यह खयाल बडा ही मज़ेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को कांग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको जरा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके खिलाफ साजिश करने की क्या जरूरत थी? ज्योंही गाँधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं काँग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योंही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क में तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गये थे कि हम इस खयाल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायँ। हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने से हिचकिचाते थे, क्योंकि उनकी गैरहाज़िरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं, उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी से

बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फ़ायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाक़ामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग़ साफ है या नहीं, इसका फ़ैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़े देते हैं। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यत्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख्स हैं जो अक्सर अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते हैं। और अगर 'दिमाग़ के साफ़ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते हैं, तो शायद वह उस अमली राजनीति के मुकाबिले मे बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा पुस्तकें पढने और चुने हुए हलकों में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियो का दिमाग साफ नहीं था। वे राजनीति और शासन-विधानो की बाबत कुछ नही जानते। वे तो सिर्फ़ अपनी इनसानी जरूरतो, खाना, घर, कपडों और ज़मीन की बाते ही सोच सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि इनसानी कुदरत को देखने की विद्या को भली-भांति सीखे हुए नामी विलायती अख़बारनवीस किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों में ग़लती खा जाते हैं। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि पूर्व तो कतई दूसरी चीज़ है और उसको आप मामूली पैमानो से नहीं नाप सकते ? या, अंग्रेजों के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आंखों को खराब कर देता है ? कोई चीज़ कैसी भी अनहोनी क्यो न हो, उसपर वे क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते है कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबे छापते हैं, जिनमें काफी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच मे विलक्षण गलतियाँ भी होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में योरप रवाना हुए तब, उसके बाद फ़ौरन ही, मैंने पैरिस के एक मशहूर संवाददाता का एक मज़मून पढ़ा। उन दिनों वह लन्दन के एक अख़बार का संवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का ज़िक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ में उस वक्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ़ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख में कहा गया था कि किसी जगह (ग़ालिबन वह देहली थी), महात्मा गांधी यकायक नाटकीय ढंग से, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने प्रकट हो गये और उन्होंने

अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये तथा ढाड़ मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गांधीजी ने भी, यह मजेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने खत लिखकर उस अखबारनवीस को यह बात बताई। उसने अपना अफ़सोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त-सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जाँच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो ज़ाहिर तौर पर बिलकुल गैर-मुमकिन थी और जिसका कोई भी शख़्स, जो गांधीजी, कॉंग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे मे कुछ भी जानता था, इत्मीनान नहीं कर सकता था। बदक़िस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से ऐसे अंग्रेज़ हैं जो यहाँ बहुत दिनो तक रहने के बाद भी कॉंग्रेस या गांधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नहीं जानते। कहानी क़तई इत्मीनान के क़ाबिल नहीं थी। वह बिलकुल बेहूदा थी। ऐसी बेहूदा जैसी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब यकायक मुसोलिनी के सामने प्रकट हो गये और सिर के बल खड़े होकर, हवा मे अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हालही मे एक अखबार मे जो रिपोर्ट छपी है उसमे एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गांधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तों के पास छिपी रक्खी है। कॉंग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कॉंग्रेस को डर है कि अगर गांधीजी कॉंग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी सरासर बेहूदा है, क्योंकि गांधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते हैं। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक संस्थाओं को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले मे उनमे बनियों की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होंने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

कॉंग्रेस ने सन् १९२१ में एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफवाह गालिबन उसीकी कहानी पर हसर रखती है। यह रक़म वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज्यादा नहीं मालूम होगी। इस रकम को इस्तैमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने, घरेलू धंधों को तरक्की देने और ख़ास तौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूत उद्धार के कार्यों में तथा ऐसे ही दूसरी किस्मों के रचनात्मक कार्यों में किया गया था। उसमें से काफ़ी तादाद खास-खास स्कीमों के लिए अंकित कर दी गई थी। फण्ड अबतक मौजूद हैं और जिन खास कार्यों के लिए वे अंकित किये गये थे उन्हींमें लगाये जा रहे

है। बाक़ी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुकामी कमिटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह कॉंग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों मे खर्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक कॉंग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गाधीजी ने और मुल्क की ग़रीबी ने हमें यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयो से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगों ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ़ उतना ही जितना पेट भरने को काफी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्ताओ को, जो विश्व-विद्यालयों के ग्रेज्युएट हैं और जिन्हे अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहे दी गई वे उस भत्ते से भी कम है जो इग्लैण्ड मे बेकारो को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालो के दौरान मे कॉंग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरो का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क में शायद ही चलाया गया हो। और कॉंग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होते रहे, उनका कोई हिस्सा गुप्त नही है। हाँ, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और कॉंग्रेस गैरक़ानूनी जमात थी।

गाधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए कॉंग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बडी लम्बी बहस के बाद हम लोगो ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की ज़रूरत नही। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान में ही रक्खे। उन दिनो हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज़-कान्फ्रेन्स होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत मे बनाये रक्खें। लेकिन सिर्फ़ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे, लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर ऐसा नही किया।

हम गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में इसलिए शामिल नही हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी खात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफ़सीलों में कोई दिलचस्पी नही थी। उनपर तो तभी

गौर किया जा सकता था जब कि ख़ास-ख़ास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौंपी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद राज़ीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफ़सीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातो पर कॉंग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौक़ा न था। हम लोगो को यह मालूम होता था कि हम लोगों के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ़ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी स्थिति को साफ़ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसंगत है और किस तरह उसको मजूर किये बिना गति नही है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करले कि वह कॉंग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत ही मुश्किल थी, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल मुमकिन नही थी, लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शो को ही छोड सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमे हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातो में राज़ीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बाते अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगो में आपस मे यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राज़ीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरो को फ़ौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सकें। हम लोगो को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था और ज़रूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाजो मे उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातो में शुरू-शुरू मे कोई राज़ीनामा नही होता, तो आगे और तफसील मे, समझौते की, बातें करने का सवाल ही नही पैदा होता। न कॉंग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियो को गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में जाने की कोई ज़रूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ़ गाधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे शामिल हुई, लेकिन वह वहाँ कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नही गई थी। उनको तो वहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हे इजाज़त दे दी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेंस में शामिल हो सकती है।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्ज़ी के मुताबिक काम करे। उसकी नीति तो यह थी कि असली सवालों का विचार करना तो मुल्तवी होता रहेगा; कान्फ्रेंस थोड़ी-बहुत छोटी-छोटी और बेमतलब की बातो पर बहस करके थक जाय। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर ग़ौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ़ इन्कार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तैमाल किया। कान्फ्रेंस में इसी सवाल का बोल-बाला था।

कान्फ्रेंस के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल में फँस गये। ज्यादा तो राज़ी-खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेंस क्या थी, भानमती का कुनबा था। उसमे शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क मे उनकी इज्ज़त भी थी, लेकिन बाकी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नही कही जा सकती। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी फिरकों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल जो हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूंक-फूंककर क़दम रखनेवाले माने जाते है, इनकी जमात में वही तरक्की के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो फिरकेवाराना झगड़ो के सिल-सिले मे जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियाँ थीं उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च वर्गवालो की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस मे कभी मिल ही नही सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे कतई हर किस्म की तरक्की के मुखालिफ थे और उनकी महज़ एक दिलचस्पी थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल करले, फिर चाहे ऐसा करने में हमे अपनी राजनैतिक तरक्की को भी छोड़ना पडे। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी फिरकेवाराना माँगें पूरी नहीं की जायँगी तबतक वे राजनैतिक आजादी लेने को राज़ी न होगे। यह एक ग़ैर-मामूली दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी कि एक गुलाम क़ौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियो के खेल में किस तरह शतरंज की

गोट बन सकती है। यह सही था कि हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े अलक़ाबवाले लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि हैं। गोलमेज-कान्फ्रेंस के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामजद थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज़ यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तैमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगो मे कितनी कमजोरियाँ हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम मे लगाये जा सकते हैं। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासको की विचार-धारा मे अभिभूत थे और वे उन्हींका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नही पाते थे ? या वे उसके असली मानो को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मंजूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान मे आज़ादी और लोकतन्त्र क़ायम होने से डर लगता था ?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी, धार्मिक और फिरकेवर लोगो के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मडल का नेतृत्व मामूल के मुताबिक आगाखां के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थो से स्वय सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी ताल्लुक़ रहा है। वह ज्यादातर इग्लैण्ड मे ही रहते है। इसलिए वह हमारे शासको के स्वार्थो और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते है और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज-कान्फ्रेंस मे साम्राज्यवादी इग्लैण्ड के वह बहुत काबिल प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे !

कान्फ्रेन्स में हमारे खिलाफ पलड़ा बुरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयों को पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोंचने की कैसे दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है ? कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशें हो रही है ? कैसी-कैसी चालें चली जा रही है ? हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा उन्नति-विरोधी लोगों से मिल गये हैं। टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बाते चलती थीं और सोभी खत्म ही न होती थी। जो असली बातें है उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। वे कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं

और कभी एक-साथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ़ करते हैं। शुरू से लेकर अख़ीर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, बड़े ओहदे, हिन्दुओं के लिए कितनी नौकरियाँ और मेम्बरियाँ हैं तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी? और एंग्लो-इन्डियनों तथा यूरोपियनों के लिए कितनी? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। मौक़ा-परस्ती का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फ़िराक मे भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आज़ादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने की शक्ल अख़्त्यार करली थी। इसे ये लोग "भारती-करण" के नाम से पुकारते थे। फौज में, मुल्की नौकरियो मे और दूसरी जगहो मे हिन्दुस्तानियो को ज्यादा नौकरियाँ मिले यही इनकी पुकार थी। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आजादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतंत्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगो के सामने जो भारी और ज़रूरी आर्थिक मसले मौजूद है उनके हल करने की भी कोई ज़रूरत है? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान मे इतनी मर्दानगी से लड़ाई लडी गई थी? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे?

उस सुनहले भवन मे और इतने लोगो की भीड़ मे गाधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक मे, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाक़ी सब लोगो मे उन्हे आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आस-पास अच्छे सजे-धजे लोगो की जो भीड बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण में तथा गांधीजी के खयाल और उनके दृष्टि-बिन्दु मे और भी ज्यादा फ़र्क था। उस कान्फ्रेन्स मे उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे है? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और राज़ीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लिए उन्होंने कई कोशिशें की। एक विलक्षण बात उन्होने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह फ़िरक़ेवाराना भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रक्खा था। मुसलमान प्रतिनिधियो की तरफ़ से कान्फ्रेन्स में जो फ़िरक़े-वाराना माँगें पेश की गई थीं उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही खयाल था, कि इनमें से कुछ माँगें तो आज़ादी और लोकतंत्र के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाली हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब माँगों को "बिना किसी ऐतराज़ के मानने

को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आज़ादी के मामले में मेरा तथा काँग्रेस का साथ दे।"

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमे काँग्रेस को वह किसी बात से नही बाँध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मै काँग्रेस में इस बात के लिए जोर दूँगा कि ये माँगें मान ली जायँ। और कोई भी शख्स जो काँग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात मे कोई शक नही कर सकता था कि वह काँग्रेस से उन माँगों को मनवाने मे कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मजूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना ज़रा मुश्किल है कि आगाखा साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी के हामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगड़ा फिरकेवाराना नही था, यद्यपि कान्फ्रेन्स में फिरकेवाराना सवाल की ही धूम थी। असल मे तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही थी और वही फिरक़ेवाराना सवाल की आड मे छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगो को वहाँ जमा किया था और कान्फ्रेन्स की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने फिरक़ेवाराना सवाल को अहम और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस में कभी न मिल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमे कभी कोई राज़ीनामा नही हो सकता था।

इस कोशिश मे ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस क़ामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमे न सिर्फ अपने साम्राज्य को क़ायम रखने की बाहरी ताक़त ही है, बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगो की ताकत का अन्दाज़ा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की ख़ास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए नाक़ामयाब हुए कि वे अपनेमें इतनी ताकत नही महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालो को धता बता दें जो उनकी तरक़्क़ी के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे नाकामयाब रहे, क्योंकि उनमें मज़हबीपन की अति थी और उनके फ़िरकेवाराना जज़बात आसानी से भड़काये जा सकते थे।

थोड़ेसे में वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज-कान्फ्रेन्स में तो कामयाबी या नाकामयाबी का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नही की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फर्क था। पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स थी तो अपने क़िस्म की सबसे पहली कान्फ़्रेन्स; लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही कम लोगों का ख़याल उसकी तरफ़ गया, और बाहर भी यही बात रही; क्योंकि उन दिनों सब लोगो का ध्यान सविनय भंग की लड़ाई की तरफ़ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामजद उम्मीदवार १९३० में कान्फ्रेन्स में शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गई थी। क्यों? इसलिए कि उसमे गांधीजी कॉंग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोड़ो लोग चलते है, उसमें शामिल हुए, इस बात से कान्फ्रेन्स की शान जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज़-बरोज़ उसकी कार्रवाइयो पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह जरूर है कि इस कान्फ्रेन्स मे जितनी नाकामयाबी हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगो की समझ मे यह बात साफ़-साफ़ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गाधीजी के उसमे शामिल होने को इतनी अहमियत क्यो देती थी?

जहॉतक कान्फ्रेन्स से ताल्लुक है वहातक वह, जिसमे वहाँ होनेवाली साज़िशें मौकापरस्ती और फिज़ूल की जाल-साजियां शामिल है, हिन्दुस्तान की विफलता नही कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिसमे नाक़ामयाब होती। उसकी नाक़ामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगो के मत्थे नही मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात मे जरूर कामयाबी हुई कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालो से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगों की आँखे खुल गई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी ज़िल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौक़ा दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो कामयाबी या नाक़ामयाबी खुद हिन्दुस्तान मे होनेवाली घटनाओ से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल हो रही थी वह लन्दन मे होनेवाली चालबाज़ियों से ठण्डी नही पड़ सकती थी। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक जरूरतों को दिखलाती थी। उसीके ज़रिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे; इसलिए उस हलचल की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम पूरा

कर देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगों को प्रगति और आज़ादी की सड़क पर और भी आगे ले जाती; दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे ज़बर्दस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेन्स के बाद फ़ौरन् हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर खत्म हो। दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड़ सका, लेकिन उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के खिलाफ आबोहवा जरूर बना दी।

३९

युक्तप्रान्त में किसानों-सम्बन्धी दिक्क़तें

कॉंग्रेस के एक प्रधानमंत्री और कार्यसमिनि के एक मेम्बर की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा ताल्लुक़ रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ता था, हालाँकि जहाँतक मुमकिन होता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और ज़िम्मेदारियाँ ज्यादा-ज्यादा बढ़ने लगी, वैसे-वैसे कार्य-समिति की बैठकें भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगीं, यहाँतक कि वे लगातार दो-दो हफ्ते तक होती थीं। अब सिर्फ़ नुक़ताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, मगर एक बड़ी भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोंवाली, संस्था के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों का नियत्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फ़ैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहां कि कॉंग्रेस का ध्यान किसानों की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी में डेढ़सौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह मेम्बर थे, बैठकें अक्सर होती रहती थी, और उसीके हाथ में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने एक खास किसान-सम्बन्धी कमिटी मुक़र्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी में कई ज़मीदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसीलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के पदेन अध्यक्ष भी थे) तसद्दुकअहमदखां शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मीदार खानदान के थे। प्रधानमंत्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर ज़मींदार थे, या ज़मीदार घराने के थे। बाक़ी मेम्बर ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी काश्तकार या ग़रीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी ज़िला-कमिटियों में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी, उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और ज़मींदारों का भी बहुत प्रभाव

था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी गरम नहीं कही जा सकती थी, और किमानों के सवाल पर तो निश्चय ही नहीं कही जा सकती थी।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ़ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नही। सलाह-मशविरों या दूसरे काम-काज में मैं खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी मे सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, किसीके भी बारे मे यह नही कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि मजमूई और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नही, संगठन पर ही हमेशा ज़ोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अख्त्यारात न थे।

मुकामी तौर पर मैं इलाहाबाद जिला कांग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस कमिटी ने, अपने सदर पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व मे, किसान-समस्या की प्रगति मे महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमिटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नही था कि इलाहाबाद जिले में किसानो की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी, क्योंकि अवध के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहाबाद जिले का संगठन अच्छा था, और इसमे राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आसपास के देहात मे बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के बाद फौरन ही हमने देहात में कार्यकर्त्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानो को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भग और यह आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हे सलाह भी दी कि वे अदा कर दें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी सस्ताई को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हे भारी छूट मिलनी चाहिए, और हमने यह सुझाया कि हमको एकसाथ मिलकर छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के ज़माने में तो पूरा लगान या पूरी के करीब रक़म देना तो बिलकुल ही गैर-मुमकिन था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरज़ी तजवीज़ की कि आम तौर पर छूट पचास फ़ीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानो के सवाल को सविनय-भंग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की

कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले दोनों का गहरा साथ हो गया था। और कांग्रेस-संगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चित रूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण ग़ैर-किसानों और जमीदारों तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय भंग फिर होने की सभावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनो साथ-साथ मिलकर चलेंगे।

इन ज़ाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नहीं कर दिया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगो को बिलकुछ साफ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतों में, मेरा ख़याल है, गांधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला दिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेंस मे न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठकें होती रहेंगी तबतक वह सविनय भंग फिर शुरू नहीं करेंगे; वह कांग्रेस से सिफ़ारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तज़ार करना चाहिए। मगर, तब भी गांधीजी ने यह साफ़ बता दिया था कि अगर किसी मुक़ामी आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों की समस्या उस वक़्त हम सबके सामने थी, क्योंकि वहाँ संगठित कार्य किया गया था। दर-असल तो सारे हिन्दुस्तानभर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बात-चीतों में भी गाधीजी ने इस बात को दुहराया था, और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[1] में भी इसका ज़िक्र किया गया था।

१. शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के ख़त भी शामिल थेः—

भारत-सरकार के होम-सेक्रेटरी इमरसन साहब के नाम गांधीजी का पत्र

शिमला

प्रिय इमरसन साहब, २७ अगस्त १९३१.

आपके आज की तारीख़ के ख़त के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपकी बताई तरमीमें भेजने की कृपा की है। मेरे

योरप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होंने साफ़ कर दिया था, कि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह ज़रूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयों में लोगों के, और ख़ासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फँसने की उनकी ख़्वाहिश नहीं है, वह उसे टालना चाहते हैं; मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नहीं छोड़ सकते थे। उनका मानना यह था कि दिल्ली के समझौते से, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भंग से ताल्लुक़ रखता था, इसकी रोक नहीं की गई है।

मैं इसका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी और उसके नेताओं पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया। आरोप करनेवालों के सुभीते की बात यह थी कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गये थे और हर अख़बार और प्रेस पर सख़्त सेन्सर बैठा हुआ था। इस हक़ीक़त के अलावा कि

साथियों ने व मैंने तरमीम-शुदा मसविदे पर ख़ूब ग़ौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ़ ४ में सरकार ने जो पोज़ीशन अख़्त्यार की है उसे कांग्रेस की तरफ़ से मंजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहाँ कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहाँ जाँच करना ज़रूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय भंग-आन्दोलन उसी वक़्त के लिए मुल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जांच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई एतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जाँच के लिए ज़ोर नहीं देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना ज़रूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय भंग-आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मैं सरकार को यह यक़ीन दिलाने की ज़रूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाना-बुझाना आदि उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की पोज़ीशन का ज़िक्र

युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, मैं इस बात को साफ़ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से अलग रहते हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। वह उसके कारणों को देखते हुए उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात थी; लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मजदूरो को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक़ होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यही पोज़ीशन रही, और सरकार ने इसे समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसने इसकी क़द्र भी की थी।

करना यहाँ इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई संभावित ग़लतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता-उल्लंघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के कामयाब होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक-साथ प्रकाशित कर दिये जायँगे।

आपका

मो० क० गांधी

गांधीजी के नाम इमरसन साहब का पत्र

शिमला,

प्रिय गांधीजी, २७ अगस्त, १९३१.

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ कम्यूनिक के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जाँच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहाँ आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाना-बुझाना आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर कराने की हमेशा कोशिश करेगी, वहाँ आप आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोज़ीशन भी साफ़ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयगा। जहाँतक सरकार की आम पोज़ीशन की बात है, मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त कम्यूनिक, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबलू० इमरसन

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ती हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊँचे की तरफ़ चढ़ते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाज़ार से बँध चुकी थी, इस चढ़ाव में हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारख़ानों और खेतों की तरक़्क़ी में कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-संबंधी चीज़ों के भाव चढ़ गये थे। हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे भाव बढ़ते गये, सरकार की मालगुज़ारी और जमींदार का लगान भी बढ़ता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फ़ायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसान लोगों की हालत, कुछ ख़ास तौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर, ख़राब ही हो गई। युक्तप्रान्त में लगान मालगुज़ारी की बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढ़ा; इन दोनों की सापेक्ष वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में, करीब-करीब (मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूँ) ५ . १ थी। इस तरह हालांकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफी बढ़ गई, लेकिन जमींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढ़ी, और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कहीं भाव गिर भी जाते थे, या कहीं मुक़ामी मुसीबतें, जैसे अवृष्टि, बाढ़, ओले, टिड्डी वग़ैरा, आ पड़ती, तब भी मालगुज़ारी और लगान की रकम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो, बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ़ उस फसल भर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलों के वक्त भी लगान की दर बहुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त में तो साहूकार से कर्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी ही होना मुश्किल था। फलतः किसानों का कर्ज़ा बढ़ता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी वर्ग, जमींदार, मालिक, किसान और काश्तकार, सभी बोहरों के, जो कि मौजूदा हालतों में गांवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फंदे में फँस गये। इस काम से साहूकारों ने ख़ूब निजी फ़ायदा उठाया, और उनका जाल ज़मीन पर और ज़मीन से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर बन्धन कोई नहीं थे। क़ानून उनकी मदद पर था, और अपने इक़रारनामे के एक-एक लफ़्ज़ को पकड़कर वे अपने आसामियों को ज़रा भी नहीं बख़्शते थे। धीरे-धीरे छोटे जमींदार और मालिक-किसान दोनों के पास से ज़मीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार, जमींदार-वर्गीय बन गये। मालिक-किसान, जो अभीतक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-जमींदारों या साहूकारों का करीब-क़रीब दास-किसान बन गया; जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी ख़राब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदख़ल किये हुए भूमि-हीन

मजदूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियों—का जो अब इस तरह जमीन-मालिक भी बन गये, जमीन से या काश्तकारों से कोई सजीव सम्पर्क नहीं था। वे आम तौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो उस काम को मशीनों की-सी संग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानों की बढ़ती हुई क़र्ज़दारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि भूमि-प्रणाली गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगों के पास किसी क़िस्म की बचत न थी, न जिस्मानी न माली, बरदाश्त करने की बिलकुल ताक़त न थी और वे हमेशा भूखे-नंगे ही रहते थे। प्रतिकूल-रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक नहीं सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखों मर जाते थे। १९२९ और १९३० में सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने अन्दाजा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्ज़ा ८६० करोड़ रुपया था। इस आंकड़े में ज़मींदारों, मालिक, किसानों और काश्तकारों का कर्ज़ा शामिल था, मगर मुख्यतः यह असली काश्तकारों का ही क़र्ज़ा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारों के ही हक़ में रही है, और इससे भी भारी कर्ज़े में और बढ़ती हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का ज़बरदस्त विरोध होते हुए भी, सोलह पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानों का कर्ज़ १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड़ बढ़ गया[1]।

लड़ाई के बाद के अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और खराब हो गई। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का संकट आ गया सो अलग।

१९३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीज़ों के भावों के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे, उस

१. हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्ज़दारी ८६० करोड़ है; यह भी संभवतः बहुत कम अन्दाज़ है। और, कम-से-कम, पिछले चार या पाँच वर्षों में यह काफ़ी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने, १९२९ में, पंजाब का आँकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में (जो १९३४ में पेश की गई थी) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज़ का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज़ लगावें तो क़रीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग जाँच कमिटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ की) कृषि-कर्ज़दारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।

वक्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, क़रीब १९०१ में थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नहीं था, क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, शिकमी वग़ैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ़ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का खर्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर कितनी रकम देने की ताक़त काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जाँचने पर जीवन-निर्वाह के खर्च कितने भी कम क्यों न माने जायँ, हिन्दुस्तान में बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफे हैं, और जैसा कि हमने १९३१ में युक्तप्रान्त में मिसालों से साबित किया था। कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नहीं सकते थे, जबतक कि वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचें या ऊँची दरों पर कर्ज न लें।

हमारी युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की पहली और आरजी तजवीज़ यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारों के लिए ५० फीसदी आम छूट हो जानी चाहिए, और जिन काश्तकारों की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गांधीजी युक्तप्रान्त में आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होंने युक्तप्रान्त के ज़मींदारों और काश्तकारों के नाम अपीलें निकाली थीं। पिछली अपील में उन्होंने काश्तकारों से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा करदें। उन्होंने एक आकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये ऑकड़े से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गांधीजी का ही आकड़ा मंजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नहीं, क्योंकि सरकार उसपर राजी न हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति में थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बड़ा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसे दिवालियापन का मुकाबिला करना पड़ता है। मगर, साथ ही उसे किसानों के उभड़ पड़ने का भी काफी अन्देशा था, और जहाँतक हो सके वह उन्हें काफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनों तरफ़ फ़ायदे में रहना आसान न था। सरकार और किसानों के बीच में ज़मींदारवर्ग खड़ा था, जो कि आर्थिक दृष्टि से बेकार और ग़ैर-ज़रूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुक़सान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनों को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राज-

नैतिक कारणो से उस वर्ग को नाराज नही कर सकती थी, क्योंकि जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें एक वह भी है।

आखिर प्रान्तीय-सरकार ने जमीदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ़ जाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफ़ी थी। इसके अलावा छूट चालू किस्त के लिए ही घोषित की गई, और किसानो के पिछले बकाया कर्ज के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई। यह तो जाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बकाया या क़र्जा चुकाने मे तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। हमेशा जमीदारों ही का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये मे जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका खतरनाक था। क्योंकि किस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके खिलाफ, चाहे जब, मुकदमा दायर किया जा सकता था, और उसकी जमीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कॉंग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति मे पड़ गई। हमे विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत बेजा बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की जिम्मेदारी नही लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करे। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आम तौर पर उनकी मुसीबतो मे उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हे हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी क़िस्त की रकम उनकी ताक़त के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और गैरक़ानूनी दोनो तरह से, चलने लगी। हजारो की तादाद में बेदखली के मुक़दमे दायर होने लगे; गाय, बैल और जाती मिल्कियत कुर्क होने लगी; जमीदारो के कारिन्दे मारपीट करने लगे। बहुतसे किसानो ने किस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया। उनकी राय में, उनकी इतना ही देने की ताक़त थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हो, लेकिन यह बिलकुल जाहिर था कि ज्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस आंशिक अदायगी के कारण वे बच नही सके। कानून का एंजिन तो आगे बढ़ता ही गया, और रास्ते में जो कुछ आया, उसे कुचलता ही गया। हालांकि क़िस्तों का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गई और पशुओ और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ

भी न देते तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से, उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बड़ी तादाद में हमारे पास जोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद ज़िले में ही कई हज़ार काश्तकार बेदखल कर दिये गये थे, और कई हज़ारों के खिलाफ़ कोई-न-कोई मुक़दमा दायर कर दिया गया था। ज़िला काँग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारों से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ और कहीं छिप जाऊँ, जहाँ यह भयंकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारों पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशानात थे, जो जमींदारों के कारिन्दों की मार के थे। हमने उनका इलाज अस्पताल में करवाया। वे क्या कर सकते थे? और, हम क्या कर सकते थे? हमने युक्त-प्रान्तीय सरकार के पास बड़े-बड़े पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रान्तीय सरकार से सम्पर्क रखने के लिए गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रान्तीय सदर, तसद्दुकअहमदखाँ शेरवानी भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता था।

जून-जुलाई की बारिश नजदीक आने से एक और कठिनाई सामने आई। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी ज़मीन खाली पड़ी देखते रहें? किसान के लिए यह बड़ा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के खिलाफ था। कई लोगों की बेदखली सिर्फ क़ानूनी लिहाज से हो गई थी, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया था। सिर्फ अदालत का फ़ैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नहीं हुआ था। इस हालत में क्या वे ज़मीन जोत डालें और इस तरह मदाखलत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी संभावना हो जाय? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह माँगने को आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे?

गर्मियों में जब मैं गांधीजी के साथ शिमला गया तो, मैंने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते? उनका जवाब आँखें खोल देनेवाला था। उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी जमीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूँगा।' हालाँकि ज़मीन पर से किसान का कब्जा

क़ानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी जमीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हे या नैनीताल के प्रान्तीय प्रभुओं को मनुष्यों से साबका नहीं पड़ता था, और न वे मनुष्यो की मुसीबतों को ही अपनी आँखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ़ एक ही सलाह दें कि उन्हें पूरी क़िस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देना चाहिए। हमें क़रीब-क़रीब जमींदारों के कारिन्दों के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी थी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बने उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नही बेचने चाहिएँ, या नया कर्ज़ा नही करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो-कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हमारे लिए बड़ी भयंकर थी। हिन्दुस्तान के किसानों मे मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा ज़रूरत से ज्यादा मुसीबते आती भी रही है--अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली दरिद्रता—और जब वे अधिक बरदाश्त नही कर सकते, तो चुपचाप, और मानो बग़ैर शिकायत किये, हज़ारों की सख्या मे, मर जाते हैं। यह उनका मुसीबतो से बचने का तरीका रहा है। १९३१ मे, समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतो से ज्यादा कोई बड़ी बात नही थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनाये उन्हे ऐसी न लगी कि जो कुदरत की तरफ़ से आ गई हो और जिन्हे चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होंने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई है, और इसलिए वे उन्हे बुरी लगी। जो नई राजनैतिक तालीम उन्हे मिली थी वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३१ की ये घटनाये ख़ास तौर पर दर्दनाक थी, क्योकि किसी हद तक हम अपने-आपको उनके लिए ज़िम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानों ने ज्यादातर हमारी सलाह नही मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर हमारी निरन्तर सहायता न होती तो किसानो की हालत और भी बदतर हुई होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी एक ताक़त हो गई थी, जिसका ख़याल रखना पड़ता था, और इसी कारण उन्हे इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और तरह उन्हे न मिलती। और इन अभागे लोगो पर जो मार-पीट और सख़्ती की गई, वह, हालांकि ख़राब थी, इनके लिए कोई नई बात न थी। हाँ, इस वक्त उसकी मात्रा में कुछ फ़र्क़ था (क्योंकि इस वक्त पहले से ज्यादा मात्रा में की गई थी), और कुछ

उसका प्रकाशन भी ज्यादा हुआ था। आम तौर पर, गाँवों में ज़मीदारों के कारिन्दों का काश्तकारों के साथ मार-पीट करना या उन्हे बहुत पीड़ा पहुँचाना भी मामूली बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत होजाने पर, सिवा वहाँ के, बाहर उसकी चर्चा भी नही होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नही हो सकता था, क्योंकि इससे किसान सब एक-साथ हो गये थे और हर बात की रिपोर्ट कॉंग्रेस के दफ्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पड़ने लगी। अब हमें बहु-सख्यक बेदखल किसानो की फिक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए ? हम सरकार पर ज़ोर डाल रहे थे कि वह उन्हे उनके खेत वापस दिलवाने में मदद करे, जो कि ज्यादातर खाली ही पड़े थे। इससे भी ज्यादा जरूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फ़सल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नही हुआ था। अक्तूबर से अगली किस्त की वसूली का वक़्त आ जायगा। तब क्या होगा ? क्या हमें इसी भयंकर घटना-चक्र में से फिर गुज़रना पड़ेगा ? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ ज़मींदार मेम्बर थे। उसमे किसानों की तरफ़ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जब कि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ़ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा। उन्होंने इतने अर्से बाद उसमें शामिल होने मे कुछ फायदा न देखा, जब कि ज़रूरी मामलों के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने भी किसानो के मुतल्लिक़ पिछली और मौजूदा कई हकीक़ते इकट्ठा करने और मौजूदा परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी बिठाई थी। इस कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट पेश की, जिसमें युक्तप्रान्त के देहात की हालत का बड़ा योग्यता-पूर्ण निरीक्षण किया गया था, और भावों की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उनकी सिफारिशें बड़ी व्यापक थी। उस रिपोर्ट पर, जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित की गई थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफ़ीअहमद क़िदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तखत थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गाधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बड़ी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक सबब युक्तप्रान्त के किसानो की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होने प्रायः यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन न गये, तो

वह यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे। सरकार के साथ शिमला में जो आख़िरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्तप्रान्त की बात भी शामिल थी। उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी उन्हें हम, जो-कुछ होता था उसकी, पूरी-पूरी इत्तिला देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हें हर हफ्ते, हवाई और मामूली, दोनों डाकों से पत्र लिखा करता था। बाद में हम इतने नियमित रूप से नही लिखते थे, क्योंकि हमें उम्मीद थी कि वह जल्दी ही आजायँगे। उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक्त, लौट आयँगे, और हमे उम्मीद थी कि उस वक्त तक हिन्दुस्तान में कोई संकट खड़ा न होगा। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी ग़ैर-हाज़िरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या संकट मोल लेना नही चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानों की समस्या तेज़ी से बढ़ती चली, तब हमने उन्हे एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ा-से-ताज़ा वाक़यात लिखे, और उन्हें इत्तिला की कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे है। उन्होंने तार से जवाब दिया कि इस मामले में मै लाचार हूँ और इस समय कुछ नही कर सकता, और यह भी कह दिया कि जैसा हम लोगो को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायँ।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही। मै खुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गंभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक शेरवानी, और इलाहाबाद ज़िला कमिटी के प्रसीडेंण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशे भी की, जो पेचीदा और गोल-मोल थी और उसमे बहुत बाते मुकामी अफ़सरों के ऊपर छोड़ दी गई थी। कुल मिलाकर उसमे जिस छूट की तजवीज़ की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमें मालूम हुआ कि यह छूट भी काफ़ी नही है। जिन आधारों पर उसमे सिफ़ारिशें की गई थी उनपर, और सिफ़ारिशो के स्वरूप पर भी, हमने ऐतराज़ किया। इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ़ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बक़ाया, कर्ज़ा, और बहुसंख्यक बेदख़ल कृषको के सवाल पर कुछ नही कहा गया था। अब, हम क्या करते? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख में किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानों को वही सलाह दें, और फिर वही नतीजे देखें? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा मूर्खता-पूर्ण थी, और फिर से नही दी जा सकती थी। या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें तो पूरी

रक़म अदा करें जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखें कि क्या होता है। रक़म का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारों का, जितना वह निकाल सकते हैं, सारा रुपया वगैरा भी चला जाता है, और उनकी ज़मीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर देर तक और गंभीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजें हालांकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा है लेकिन इतनी माफिक नही है कि उन्हे मौजूदा शकल में मंजूर कर लिया जाय। उनमें किसानो के हक में तबदीली होने की फिर भी सम्भावना थी, और इसके लिए हमने सरकार पर जोर दिया। मगर हमें मालूम होता था कि अब कोई उम्मीद नहीं है, और जिस संघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेज़ी से आ रहा है। प्रान्तीय सरकार और भारत-सरकार का कॉंग्रेस-संगठन की तरफ रुख़ लगातार बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बड़े-बड़े पत्रो के जवाब में हमे ज़रा-ज़रा सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमे बता दिया जाता था कि हम मुकामी अफसरो से लिखापढ़ी करे। यह जाहिर था कि सरकार की नीति हमे किसी तरह भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर किसानो को छूट देदी जाय तो कांग्रेस का रौब बढ़ जाने की संभावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ रौब के लिहाज से ही सोच सकती थी, और यह खयाल, कि शायद जनता छूट का जस कॉंग्रेस को देने लगेगी, उसे नागवार हो रहा था, और वह इसे जहाँतक हो सके बचाना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहो से ये रिपोर्टें आ रही थी कि भारत-सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक ज़बरदस्त आक्रमण शुरू करनेवाली है। अब छोटी अंगुली ज्यादा जोर से काम करनेवाली है, और बिच्छू के डंक हमसे तोबा करानेवाले है। कॉंग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज़ है, इसकी बहुत-सी तफसील भी हमें मिल गई। मेरा ख़याल है कि शायद नवम्बर में किसी वक्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास (और कॉंग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी, अलग) एक खबर भेजी, जिससे हमारी पिछली रिपोर्टों की ताईद होती थी, और जिसमे खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के प्रस्तावित आर्डिनेन्सो की तफ़सील भी थी। मेरा ख़याल है कि बंगाल को नये आर्डिनेन्स को सौग़ात मिल चुकी थी, या, शायद मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेन्स निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डॉक्टर अन्सारी की खबर की बहुत कुछ ताईद हो गई, और उसकी तफ़सील भी बहुत हद तक सही

निकली। आम तौर पर यही माना गया कि सरकार ने, गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के आशातीत लम्बा हो जाने से, अपना हमला रोक रक्खा था। उस समय जबकि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की कानाफूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गई, और हम सभीको महसूस हो रहा था कि हमारे जैसे छोटे-छोटे लोगों के रोकने पर भी घटनायें अपने-आप आगे बढ़ रही है, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुक़ाबिला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दुःखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से अपना हिस्सा ठीक तरह से अदा करने के लिए, अपने-आप को तैयार करलें। मगर हमें उम्मीद थी कि शक्तियो का यह संघर्ष शुरू होने से पहले गांधीजी लौट आयँगे, और वह लड़ाई या सुलह की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी गैरहाज़िरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममे से कोई भी तैयार नही था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलको में हलचल मच गई। काश्तकारों को छूट की चिट्ठियाँ बाँट दी गई, जिनमें छूट की रक़म बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमे दिखाई हुई रकम एक महीने में अदा न की जायगी (किसी-किसी चिट्ठी मे इससे भी कम वक्त दिया गया था), तो छूट रद कर दी जायगी, और पूरी रकम कानूनी तरीक़े से, जिसका मतलब होता है बेदख़ली, कुर्की, वग़ैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार अपनी लगान क़िस्तों में दो या तीन महीनो मे अदा कर देते हैं। अबकी यह मामूली मियाद भी नही दी गई। सारे देहात के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और चिट्ठियाँ हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके मुक़ामी अफ़सरों की तरफ़ से यह एक मूर्खता-पूर्ण धमकी थी, और बाद को हमसे कहा गया कि यह संजीदगी से नहीं दी गई थी। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौका बहुत कम रह गया, और क़दम-ब-क़दम लाज़िमी तौर पर संघर्ष नज़दीक आने लगा।

अब तो किसानों को और कांग्रेस को जल्दी ही फ़ैसला करना आवश्यक था। हम गाँधीजी के लौटने तक अपना फ़ैसला नही रोक सकते थे। हमें अब क्या करना चाहिए? क्या सलाह देनी चाहिए? क्या जबकि हम यह जानते थे कि कई किसान इस मिली हुई छोटी-सी मियाद में अपनी रक़म अदा नहीं कर सकते तो यह वाजिब बात होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रक़म अदा करदें? और

फिर जो बक़ाया उनकी तरफ था, उसके बारे में क्या होगा ? अगर उनसे माँगी हुई रकम का बड़ा हिस्सा भी वे अदा करदें, या हाल की पूरी रक़म भी अदा करदें, जो बक़ाये में जमा करली जायगी, तो भी क्या वे बेदख़ल किये जाने के ख़तरे से बच जायँगे ?

इलाहाबाद कांग्रेस कमिटी ने अपनी मजबूत किसान-सेना के साथ लड़ाई का जोर बाँधा। उसने फ़ैसला किया कि उसके लिए यह मुमकिन नहीं है कि वह किसानों को अदायगी कर देने की सलाह दे। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाक़ायदा मंज़ूरी के बग़ैर वह कोई आक्रामक कदम नहीं उठा सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक़ शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टंडन दोनों ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ़ इलाहाबाद ज़िले से ही ताल्लुक रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हमने महसूस किया कि उस वक्त जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमें उसका व्यापक परिणाम हो सकता था। क्या इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमिटी को यह इजाज़त दे दी जाय कि वह कुछ वक्त के लिए, जबतक कि आगे सुलह की बातचीत न होले और ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायँ तबतक के लिए, लगान या मालगुज़ारी अदा न करने की सलाह किसानों को दे दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसी तक महदूद भी रहना चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गांधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पड़ने की स्थिति को बचाने के लिए सारी ताक़त लगाकर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसे आर्थिक सवाल पर तो लड़ाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की संभावना थी। कमिटी हालांकि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढी हुई नही थी, और उसे किसान और ज़मींदारों का आपसी झगड़ा खड़ा होना पसन्द न था।

चूंकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलों में सलाह देने के लिए भरोसे लायक आदमी न समझा गया। मुझे खुद यह महसूस हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम और दाहिने बाज़ू के मेम्बर भी, संघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, वाक़यात से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं। इसलिए मैने हमारी कमिटी की मीटिंग में हमारे प्रान्त से शेरवानी और दूसरे लोगों के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योंकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी

प्रकार उग्र नहीं थे। राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह कांग्रेस में दाहिने बाजू के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनकी राय युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की किसानों-सम्बन्धी नीति के खिलाफ़ हो गई थी। मगर जब वह खुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हें खुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा चारा ही नहीं है। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो भी क़दम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर सदर की हैसियत से उन्हींकी मार्फ़त, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक शेरवानी की बहस से मेम्बरों पर बड़ा असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत सोच-विचार के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं, उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अख्त्यार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाके में लगान और मालगुज़ारी की अदायगी को मुल्तवी करने की इजाजत दे सकती है। मगर, साथ ही, उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर ज़ोर दिया कि हो सके तो वे इस कदम को न उठायँ, और प्रान्तीय सरकार से सुलह की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई गई, लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा ख़याल है कि इलाहाबाद जिले की छूट में थोड़ा-सा इज़ाफ़ा कर दिया गया। मामूली परिस्थिति में शायद यह मुमकिन होता कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता; अन्तर कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और कांग्रेस दोनों ही तरफ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाज़िमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ़ से जो-जो क़दम उठाया जाता था, उसमें ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की ख्वाहिश से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्त रूप से हो सकती थी, और दर-असल सोलहों आना हो भी गई थी। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के दम-खम पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने, और मैं भी उन्हीं कुसूरवारों में से था, तो आम भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आज़ादी की लड़ाई हरगिज़ खतम नहीं हुई है, और हमें निकट-भविष्य में कई आजमाइशों और मुश्किलों से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई जगानेवाला कहकर हमारी निन्दा की गई थी। दरहकीक़त मध्यम-वर्गीय कांग्रेसी-कार्यकर्त्ताओं के अन्दर हक़ीक़तों का मुकाबिला करने की साफ़ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें उम्मीद थी की

किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी के लन्दन में रहने से भी अखबार पढ़नेवाले वर्गों का ध्यान उधर बँट जाता था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनायें आगे ही बढ़ती गईं। खासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट नज़दीक आ ही रहा है।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनायें हो जायँ, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बड़ी किसान-कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमें एक आरज़ी ठहराव किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हें किसानों को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज हुई, और इसीको 'लड़ाई का काफी सबब' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कॉंग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आनेवाले तूफान का निशान समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियाँ करना शुरू किया। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेन्स हुई, जिसमें पहले से भी ज्यादा तेज़ और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस वक्त भी, और अख़ीर तक, हमारी लड़ाई का रुख यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय', मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'। और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त करते ही रहे, हालांकि दूसरा पक्ष ऐंठ में दूर हट गया था। इलाहाबाद का ठहराव जमींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू था, मगर हम जानते थे कि अमल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे जमींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के शुरू के क़रीब युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनायें हद तक पहुँच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकर रूप से व्यापक आर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के चिन्ह थे, न कि सुलह के, और सवाल उठता था कि: गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेंगे? या, क्या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू हो गई है? हमें मालूम हुआ कि वह इंग्लैंड से रवाना हो चुके हैं और साल के आखिरी हफ्ते में बम्बई आ पहुँचेंगे। हममें से हरेक, मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर-

प्रमुख कार्यकर्ता, उनके लौटने तक लड़ाई टालना चाहता था। और लड़ाई के लिहाज़ से भी हमारे लिए यह वाञ्छनीय था कि हम उनसे मिल लें, और उनकी सलाह और हिदायतें हासिल कर लें। वह एक इस तरह की दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसमें सूत्रपात ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

४०

सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त में मेरे मशगूल रहने के बावजूद बहुत अरसे से मेरी यह ख्वाहिश थी कि मैं दूसरे दोनों तूफ़ानी केन्द्रों, सीमाप्रान्त और बंगाल, में भी हो आऊँ। मैं उस जगह जाकर वहाँ कि परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियों से, जिनमें से अनेक को मैंने करीब दो साल से नही देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सबसे ज्यादा, मैं यह चाहता था कि मैं उन प्रान्तों के लोगो की स्पिरिट और हिम्मत के, और राष्ट्रीय संग्राम में उनकी कुर्बानियो के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान प्रकट करूं। सीमाप्रान्त में तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नही सकता था, क्योंकि भारत-सरकार यह पसन्द नही करती थी कि कोई प्रमुख काँग्रेसी वहाँ जाय, और उसके इस रुख को देखते हुए हम वहाँ जाने और अड़चन पैदा करने की कोई इच्छा नही रखते थे।

बंगाल में स्थिति बिगड़ती जा रही थी, और हालाँकि उस प्रान्त की तरफ़ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे बड़ी हिचकिचाहट हुई। मैं महसूस करता था कि मैं वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त में काँग्रेसी लोगों के दो दलों के शोचनीय और दीर्घकालीन झगड़ों के सबब से बाहरी कांग्रेसवाले बहुत अर्से से डर गये थे; और दूर-दूर रह रहे थे, क्योंकि उन्हे भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल मे शामिल समझ लिये जायँगे। यह बड़ी कमज़ोर और चिमगादड़ी नीति थी, और इससे बंगाल की समस्या के सरल होने या हल होने में मदद नही मिली। गाधीजी के लदन जाने के कुछ वक्त बाद ही दो घटनायें अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बंगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनों घटनाये हिजली और चटगाँव मे हुई थी।

हिजली नज़रबन्दो के लिए खास तौर पर बनाया हुआ एक डिटेन्शन-कैम्प जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दंगा हो गया और नज़रबन्दों ने जेल के मुलाजिमों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नज़रबन्द मारा गया और कई घायल हुए। एक मुकामी सरकारी तफतीश ने, जो उसके बाद ही फ़ौरन की गई थी, जेलवालो को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिलकुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुई, और कई तथ्य

ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जांच करने की ज़ोरदार और ज़बरदस्त माँग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बंगाल-सरकार ने एक ऐसी जाँच-कमिटी मुकर्रर कर दी, जिसमें सब ऊँचे-ऊँचे जुडीशियल अफ़सर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने शहादतें ली और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट डिटेन्शन-कैम्प-जेल के मुलाज़िमों के खिलाफ हुई। यह तसलीम किया गया कि क़ुसूर ज्यादातर जेल के मुलाज़िमों का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार के जो पहले कम्यूनिक निकले थे वे बिलकुल झूठे साबित हुए।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नही थी। बदक़िस्मती से ऐसी घटनायें हिन्दुस्तान में कम नही होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होने की और जेल में हथियार-बन्द वार्डरो और दूसरे लोगो द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियों के मर्दानगी से दबाये जाने की ख़बरें अक्सर पढ़ने को मिला करती है। हिजली में असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओं के बारे में सरकारी कम्यूनिकों के बिलकुल एक तर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गई, और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार के कम्यूनिकों का कोई भरोसा नही किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड़ ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल की घटनायें, जिनमें जेलवालों द्वारा कहीं गोली चलाई जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान-भर में बड़ी तादाद में होने लगीं। ताज्जुब की बात यह है कि इन जेल के दंगों में चोट सिर्फ़ कैदियो को ही लगती मालूम होती थी। क़रीब-करीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमे कैदियों पर कई बेजा हरकतो का इलज़ाम लगाया जाता था, और जेल के मुलाज़िमों को बचाया जाता था। बहुत ही कम मिसालों में जेलवालों को महकमे की तरफ से कोई सज़ा दी गई होगी। पूरी जाँच करने की तमाम मांगों के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ महकमे की एक तरफ की जाँच ही काफी समझी गई। साफ़ ज़ाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक सीख लिया था कि मुनासिब और निष्पक्ष जाँच कराने में खतरा रहता है और मुस्तगीस ही खुद अपने इलजाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमें भी क्या ताज्जुब है कि लोगों ने भी हिजली से सबक़ सीख लिया हो, कि सरकारी कम्यूनिकों में वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल घटित होती है?

चटगांव की घटना तो इससे भी बहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतंकवादी ने

किसी एक मुसलमान पुलिस-इन्स्पेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो जाहिर था कि मामला इससे कुछ बहुत ज्यादा था और वह मामूली दंगों से कुछ भिन्न था। यह स्पष्ट था कि आतंकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई ताल्लुक न था; वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न रखते हुए एक पुलिस-अफसर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद में हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगड़ा भी होगया। यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ़ नहीं बताया गया, हालांकि जिम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले में बहुत गंभीर-गभीर इलजाम लगाये है। इस दंगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमे दूसरी जातियों के निश्चित समुदायों ने, एंग्लो-इण्डियनों ने, खासकर रेलवे मुलाज़िमों ने और दूसरे सरकारी मुलाज़िमों ने भी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर लीडरों ने चटगांव के वाकयात के बारे में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जाँच करने या मान-हानि का मुकदमा चलाने तक की चुनौती दी, मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही अच्छा समझा।

चटगांव की इन कुछ असाधारण घटनाओ से दो खतरनाक संभावनाओं की तरफ़ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई लिहाज़ से निन्दा की गई थी; और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक नतीज़ा ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे खासकर भय लगता था। वह संभावना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डो का फैलना। हालाकि मैं हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूँ लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नही हूँ। मगर मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताकतें अभीतक भी बहुत बड़ी-बड़ी है, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताकतों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब के नाम पर या बहिश्त जाने के लिए क़त्ल करते है, तो ऐसे लोगो को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य दुनियवी है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर मजहबी खून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका ताल्लुक दूसरी दुनिया से है, और ऐसे मामलों में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नही कर

सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच में फ़र्क़ बहुत ही बारीक रहता है और क़रीब-क़रीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, अर्ध-धार्मिक बन जाती है।

किसी आतंकवादी द्वारा एक पुलिस-अफ़सर के क़त्ल किये जाने से और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ तौर पर यह महसूस होने लगा कि आतंककारी हलचल से बड़ी खतरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुक़सान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनायें हुईं उनसे भी हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फ़ासिस्ट तरीक़े पैदा हो चुके हैं, और फ़ासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल ही चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्ट-वाद यूरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों और कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का मुक़ाबिला करता है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और खानगी तौर पर व्यक्तियों और समुदायों से मिलने के अलावा मैंने कई आम सभाओं में भी भाषण दिये। इन तमाम सभाओं में मैंने आतंक-वाद के सवाल पर भी विचार किया और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना गलत और बेकार और नुक़सानदेह है। मैंने आतंक-वादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने उन्हें हमारे कुछ ऐसे देशवासियों की तरह 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी मर्दाना या खतरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को खतरे में डालता रहता है, कायर कहा जाय। और इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों से, जो दूर खड़े रहकर ही चीखते है लेकिन कुछ भी करने के क़ाबिल नहीं हैं, कुछ ज्यादा हिकारत करने लगता है।

एक दिन शाम को कलकत्ते में, वहाँ से रवाना होने के लिए मेरे स्टेशन पर जाने से थोड़े ही वक्त पहले, मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम-उम्र, क़रीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे पीले थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखें चमकदार थीं। मुझे मालूम न था कि वे कौन थे, लेकिन मैं अन्दाज़ से

समझ गया कि उनके ज़िम्मे क्या काम था। वे आतंक-वादी हिंसा के खिलाफ मेरे प्रचार के कारण मुझपर बहुत नाराज थे। उन्होंने कहा कि उससे नौजवानों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है, और इस तरह मेरा दखल देना वे पसन्द नहीं करते। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का वक्त नजदीक आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज़ और हमारा मिजाज तेज हो गया था, और मैंने उनसे कुछ सख्त बातें भी कह दी थीं; और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे आखिरी आगाही दी कि "अगर आगे भी आपका यही रवैया रहा तो हम आपके साथ भी वही सूलूक करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

इस तरह मैं कलकत्ते से चल दिया, और रात को गाड़ी में अपने बर्थ पर लेटे हुए, मेरे दिमाग उन्हीं दोनों लडकों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था; अगर वे ठीक रास्ते में लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे? मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश मुझे लम्बी बात-चीत करने का मौक़ा मिलता। शायद उन्हें दूसरी दिशाओं में हिन्दुस्तान की सेवा और आजादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौक़े भी की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने का विश्वास दिला सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा। मैं कई दफा सोचता हूँ कि क्या वे मर चुके हैं, या अण्डमान टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं?

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने एक पिछले वचन को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वयसेवक-शाखा थी। वह हमेशा काँग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल काँग्रेस में शामिल करने और उसे काँग्रेस का स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा ही हो भी गया, और हार्डीकर को और मुझे उसका चार्ज सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर में ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामों के लिए वहाँ बुलाया था। फिर वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। सब दूर लोगों का जबरदस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया। लौटते वक्त मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फ़ौजी क़ानून के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए बिदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण हंस के अन्तिम संगीत जैसे थे, जिसे वह अपने मरने से पहले गाया करता है, लेकिन उनमें तेजी ज्यादा थी और संगीत कम था। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और साफ़ थी। सरकार ने वार कर दिया था, और सख़्त किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते वक्त में कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज का इन्तजाम कर दिया। बम्बई में ही, और क़रीब-क़रीब हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुँचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास 'आर्डिनेन्स जारी कर दिया है। सरकार ने तय कर लिया था कि वह गाधीजी के आने का इन्तिज़ार न करेगी, हालाँकि गाँधीजी जहाज पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आनेवाले थे। समझा तो यह गया कि आर्डिनेन्स किसानो के आन्दोलन के ही लिए बनाया गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा व्यापक था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमे बच्चों या नाबालिगों के अपराधों के लिए वालदैन या सरपरस्तों को सजा देने का विधान भी किया गया। यह इंजील के ज़माने के रिवाज की खूब उलटी आवृति थी।

क़रीब-क़रीब इन्हीं दिनों हमने गाधीजी की उस बातचीत की रिपोर्ट पढ़ी, जो रोम में 'ग्योरनेल डि इटालिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढकर हम अचम्भे मे पड़ गये, क्योंकि इस तरह रोम मे राह चलते 'इटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा ग़ौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नहीं आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमें साफ हो गया कि जिस तरह की 'इटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नही हो सकती। हमारा ख़याल हुआ कि उन्होने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड़-मरोड़कर बनाया गया है। बाद मे तो गाधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला, और यह बयान भी निकला कि उन्होंने रोम मे कोई वक्तव्य ही नही दिया। हमे मालूम हो गया कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमें इस बात से आश्चर्य हुआ कि ब्रिटेन के अख़बारों और सार्वजनिक लोगों ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और नफ़रत-सी दिखाते हुए उन्हे झूठा बतलाया। इससे हमे चोट पहुँची और ग़ुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियो के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर में इतनी घटनायें हो रही हों तब उनसे बहुत दूर रहना एक कठोर.

परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने तय किया कि मैं कर्नाटक के कार्य-क्रम को पूरा ही कर डालूं। मेरे बम्बई आने पर कुछ दोस्तों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक, जो कि एक ही हफ्ते बाद आनेवाले हैं, ठहरा रहूँ। मगर यह नामुमकिन था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ्तारी की खबर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेन्स भी इटावा में उसी हफ्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आजाद रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की मीटिंग में शरीक होने को बम्बई लौट आऊँ। मैंने कमला को रोगशय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छौकी स्टेशन पर नये आर्डिनेन्स के मुताबिक़ एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की कोशिश की गई। और, मेरे मकान पर भी एक तीसरे शख्स ने ऐसी ही तीसरी कोशिश की। जाहिर था कि सरकार कोई भी जोखम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक मैं इलाहाबाद की म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी आम मीटिंग में या कार्य में शामिल न होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए, किसी अखबार या पत्रिका में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक शेरवानी भी शामिल थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत में आपसे हुक्म नहीं लेना चाहता; मैं अपना मामूली काम हस्बमामूल करूंगा, और अपने काम के सिलसिले में इस हफ्ते में मैं गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, मीटिंग में शरीक होने बम्बई जल्दी जानेवाला हूँ।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेन्स उसी हफ्ते में इटावे में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने की तजवीज पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी के आने के दिनों में ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे सदर शेरवानी साहब के पास एक ताक़ीदी खत आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेन्स में किसानों के सवाल पर भी विचार किया जायगा? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ़ेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ़ जाहिर था कि

कान्फ्रेन्स का ख़ास मकसद ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमें इस सवाल पर ग़ौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे सदर साहब को या और किसीको भी यह अख़्त्यार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बाँध दे। सरकार की धमकी के बग़ैर भी हम कुछ लोगों का यह इरादा तो था ही कि कान्फ़ेन्स स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हममे से कई लोग ऐसे मामलो मे कुछ-कुछ जिद्दी थे, और सरकार-द्वारा हमे ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त हमें अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ़ेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फ़ैसला इस-लिए किया कि हम गाँधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढाना नही चाहते थे। हम उन्हे ऐसी परिस्थिति के अन्दर नही डाल देना चाहते थे, जिसमे वह बागडोर अपने हाथ में न ले सके। हमारे प्रान्तीय कान्फ़ेन्स को मुल्तवी कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फ़ौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहाँ पहुँच गये थे, वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहाँ लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फ़ौज ने कब्जा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग मे यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए ख़ास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेन्स के मुताबिक़ यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़े। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे ज़िलों मे लगानबन्दी की हलचलों के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो आसान है कि सरकार हमारा इन देहाती हिस्सों मे जाना बन्द कर दे। मगर यह तो साफ़ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानो का आन्दोलन नही चला सकते थे, और अगर आर्डिनेन्स सिर्फ़ किसानो की परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए। आर्डिनेन्स के जारी हो जाने के वक़्त से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालाकि बाज-बाज़ लोगो ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहाँतक यू० पी० काँग्रेस का ताल्लुक था, यह बात साफ़ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल, सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे मुल्तवी करना चाहती थी। शेरवानी और मै बम्बई जा रहे थे, जहाँकि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर ग़ौर करते, और यह

किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नहीं था, कि उनके आखिरी फ़ैसले क्या होते !

इन सब विचारों से मुझे खयाल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नज़रबन्दी के क़ानूनी आज्ञा-भंग को सरकार बरदाश्त कर लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सुबह के अखबारों में नये सीमाप्रान्तीय आर्डिनेन्स और अब्दुलग़फ़्फ़ारखां तथा डाक्टर खानसाहब वग़ैरा की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहाँ आम तौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफसर आगये। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लैक मैरिया" गाड़ी खड़ी थी, और क़ैदियों की इस लारी में मैं और शेरवानी दाखिल हुए। वह तेज़ी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुँचे। वह 'बॉक्सिग-दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज था; वह दुःखी और उदास दिखाई दिया। मैं समझता हूँ, हमने उसके क्रिसमस त्योहार का मज़ा किरकिरा कर दिया था।

और इस तरह हम जेल मे आ पहुँचे—

> एक घड़ी भर अब तू सारा आल्हाद भुला दे;
> और, वेदना में ही अब तो कुछ काल बितादे।[1]

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"Absent the from felicity a while,
And for a season draw thay breath in pain."

४१

गिरफ़्तारियाँ, आर्डिनेन्स और मुमानियतें

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें नई और ताज़ी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेन्स की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दु.खी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सों की शकल में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० मे उनके कुछ सबसे गहरे साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पाँसा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूंढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय से मुलाक़ात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाक़ात कुछ ख़ास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थी कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताज़ी घटनाओं, और नये आर्डिनेन्सों और उनके मुताबिक़ हुई गिरफ्तारियों के बारे में बातचीत न करे। (यह बात मैं अपनी याददाश्त से लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नही है।) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह में इन विषयो के अलावा जो कि देश को विक्षुब्ध कर रहे थे, और जिनपर बात करने की मुमानियत कर दी गई थी, गाधीजी या काँग्रेस का कोई भी नेता किस विषय पर बातचीत कर सकता था। अब यह बिलकुल साफ जाहिर हो गया कि भारत-सरकार ने काँग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था, और वह उससे कोई ताल्लुक रखना नहीं चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालों को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशका हो गई थी, और अपनी वहाँ से रवानगी के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरज़ी तौर पर सविनय भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होने वाइसराय को बिला-शर्ती मुलाक़ात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाधीजी और काँग्रेस के सदर की गिरफ्तारी के रूप में मिला, और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे कि सारे देश में भयंकर दमन शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो उसके लिए बेचैन थी और पहले ही ज़रूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

निःसन्देह, हम तो जेल में ही थे, और ये सारी खबरें हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आईं। हमारा मुक़दमा नव-वर्ष के लिए मुल्तवी कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती क़ैदी की हैसियत से सज़ायाफ़्ता क़ैदियों की बनिस्बत ज्यादा मुलाक़ातें करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाक़ात मंजूर करनी चाहिए थी या न मंजूर करनी चाहिए थी, इसपर अखबारों में बहुत वादविवाद चल रहा है, मानों इससे कोई बड़ा फ़र्क़ पड़नेवाला था। यह मुलाक़ात का सवाल ही सबसे बड़ा हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड अर्विन होते तो वह मुलाक़ात ज़रूर मंजूर कर लेते, और अगर उनमें और गांधीजी में मुलाक़ात हुई होती तो ज़रूर सब कुछ-ठीक हो जाता। मुझे ताज्जुब हुआ कि परिस्थिति के बारे में हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते हैं, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नहीं देखते हैं। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की, जिनमें सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नहीं हो सकता, लाज़िमी लड़ाई किन्हीं व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर करती है? क्या दो तवारीखी ताकतों की भिड़न्त मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकती है? गांधीजी को एक खास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न ज़रूरी मामलों में विदेशी फरमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। और हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का मुकाबिला करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और इसमें इस बात से ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता था कि उस समय वाइसराय कौन था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंगडन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के साधक थे, और वे निर्दिष्ट दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फ़र्क़ कर सकते थे। वास्तव में, बाद में तो लॉर्ड अर्विन ब्रिटिश शासन-तन्त्र के मेम्बर हो गये, और हिन्दुस्तान में जो-जो सरकारी कार्रवाइयाँ की गईं उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते हैं।

४ जनवरी १९३२ एक महत्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का खात्मा कर दिया। उन दिनों सबेरे ही गांधीजी और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई

गिरफ्तार करके, बग़ैर मुक़दमा चलाये, शाही क़ैदी बना लिये गये। चार नये आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये, जिनके ज़रिये मजिस्ट्रेटों और पुलिस-अफ़सरों को व्यापक-से, व्यापक अख़्त्यारात दे दिये गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई, और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब कब्ज़ा कर सकते थे। सारे देश पर मानों क़ब्ज़ा कर लेने की हालत का ऐलान कर दिया गया, और इसको किस-किस पर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह मुक़ामी अफ़सरों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया।[१]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुक़दमा हुआ। शेरवानी को छः महीने की सख़्त क़ैद और १५० रुपये जुर्माने की सज़ा हुई; मुझे दो साल की सख़्त क़ैद और ५०० रुपये जुर्माना (या बदले में छः महीने की क़ैद) की सज़ा दी गई। दोनों के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनों को इलाहाबाद शहर मे नज़रबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनों ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भंग किया था। हम दोनों को एक ही दफ़ा में गिरफ्तार किया गया, और दोनो का एकसाथ ही मुक़दमा चला। फिर भी हमारी सज़ाओं में बड़ा फ़र्क़ था। लेकिन दोनों में एक फ़र्क जरूर था। मैंने ज़िला-मजिस्ट्रेट को लिखकर इत्तिला दी थी कि मैं हुक्म की ख़िलाफ़-वर्ज़ी करके बम्बई जाना चाहता हूँ; शेरवानी ने ऐसा कोई बाक़ायदा नोटिस नहीं दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात समान-रूप से प्रसिद्ध थी, और अख़बारों मे भी छपी थी। सज़ा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से पूछा, कि मुसलमान होने के ख़याल से तो मुझे कम सज़ा नही दी गई है ? उनके इस सवाल से वहाँ मौजूद लोगो को बड़ा लुत्फ रहा और मजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देशभर मे बहुत-सी घटनायें हुई। इलाहाबाद शहर में, हमारे मुक़ाम के नज़दीक, बड़ी-बड़ी भीड़ो की पुलिस और फौज़ से मुठभेड़ हो गई, और हस्बमामूल लाठी-प्रहार हुआ, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय भंग के क़ैदियो से जेलें भरने लगी। पहले तो ये क़ैदी ज़िला-जेलो में भेजे गये, और जब वहाँ जगह न रहती तब ही कैंदी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलो में आते थे। बाद में सभी जेलें भर गई, और बड़ी-बडी आरज़ी कैम्प-जेले क़ायम करनी पड़ीं।

१. भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मंजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख़्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते में बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजीत पंडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक नं० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली में लंका के एक युवक-मित्र बर्नार्ड एलुविहारे भी अचानक आ गये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इंग्लैण्ड से हाल में ही लौटे थे। मेरी बहन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस वग़ैरा में शामिल न हों। लेकिन जोश में आकर वह कांग्रेस के एक जुलूस में शरीक हो ही गये, और एक ब्लैक मैरिया लारी उन्हे जेल में ले आई।

कांग्रेस, जिसमें सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमीटियाँ और बेशुमार मुक़ामी कमीटियां शामिल थी, ग़ैर-क़ानूनी करार दे दी गई थी। कांग्रेस के साथ-साथ सब तरह की सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील संगठन जैसे, किसान-सभायें, किसान-संघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-संगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकानें, पुस्तकालय, आदि भी —ग़ैर-कानूनी करार दे दिये गये। इनकी फेहरिस्तें बड़ी लम्बी-लम्बी थी, प्रत्येक बडे प्रान्त के सैकड़ो नाम इनमे शामिल थे। सारे हिन्दुस्तान भर का योग कई हज़ार तक पहुँच गया होगा। इन गैर-क़ानूनी घोषित संस्थाओ की यह संख्या ही मानों कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई मे मेरी पत्नी बीमार पड़ी थी, और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माताजी और दोनों बहनें जोश-खरोश के साथ आन्दोलन में कूद पड़ी। मेरी दोनों बहनों को जल्दी ही एक-एक साल की सज़ा मिल गई और वे जेल पहुँच गईं। नये आनेवालों के ज़रिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हम कुछ अनोखी ख़बरें मिल जाया करती थी। जो-कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सब दूर सेन्सर की बड़ी सख़्ती थी, और समाचारपत्रों और समाचार-एजेन्सियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों मे तो गिरफ्तारशुदा या सज़ायाब व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल में बाहर के झगड़ो से अलग पड़े हुए, फिर भी उनमें सैकड़ों तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपनेको कातने, पढ़ने या दूसरे कामों में मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलों पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार-दीवारी के बाहर क्या हो रहा है। उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी तो किसी बात की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम

के बिगड़ जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तबीयत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढंग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब विशाल शक्तियां अपना काम कर रही हैं और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तब व्यक्तियों की छोटी-छोटी ग़लतियां या कमज़ोरियां कोई महत्व नहीं रखतीं। हम सोचा करते थे कि इस झगड़े और शोर-गुल का, और इस मर्दाने उत्साह और निर्दय दमन और घृणित कायरता का, भविष्य क्या होनेवाला है ? इसका क्या नतीजा होगा ? हम किस तरफ जा रहे हैं ? भविष्य हमारी आंखों से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था; और जहांतक हमसे ताल्लुक था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, संघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध हां, हो जायेगा,
झेन्थस सारा अहो रक्त से रंग जायेगा;
हेक्टर तथा अजेक्स पुनः होंगे समुपस्थित,
हेलन भी खुद दृश्य लखेगी हो उच्चस्थित।

तब हम या परदे मे होंगे या चमकेंगे रण में,
अन्धी आश-निराशाओ में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।[१]

१. मेथ्यू एरनॉल्ड का मूल पद्य इस प्रकार है :—

"Men will renew the battle in the plain
To-morrow; red with blood will Xanthus be;
Hector and Ajax will be there again;
Helen will come upon the wall to see.

Then we shall rust in shade, or shine in strife,
And fluctuate 'tween blind hopes and blind despairs,
And fancy that we put forth all our life,
And never know how with the soul it fares."

४२

ब्रिटिश शासकों की हू-हू

१९३२ के शुरू के उन महीनों में, और बातों के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमों ने मारे खुशी के खूब हा-हा हू-हू की। छोटे और बड़े सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू हैं। हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि कांग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कांग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में ये हाकिम आर्डिनेन्सों, तमाम आजादी के दमन, अखबारों और छापेखानों की मुँहबन्दी, बिना मुक़दमा चलाये लोगों की जेलबन्दी, जायदाद और रुपयों की जब्ती और रोज-ब-रोज होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीज़ों-जैसी न-कुछ बातों को भूल गये थे। इसके अलावा वे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज की जो बुनियादी खसलत है उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों में बन्द कांग्रेसी किस तरह अपना मतलब गाँठ रहे हैं जबकि हम कुछ हज़ार रुपये महीनों की नाचीज़ मजदूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सजायें तो देते ही थे, लेकिन सज़ा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशों के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कांग्रेस में काम करनेवाले शख्सों को गालियाँ भी देते थे। भारत-मंत्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठा के पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, हाँ, कुत्ते भौंक रहे हैं, मगर हमारा कारवां चला जा रहा है। उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहाँ से वे आसानी से भौंक नहीं सकते थे, और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुँह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष कांग्रेस के मत्थे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही बीभत्स था, लेकिन उसकी बीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि इसकी बीभत्सता के लिए कांग्रेस जिम्मेदार थी, जबकि असली बात जो हुई वह यह थी कि उस दंगे में कांग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहाँ तक कि कांग्रेस का एक सर्वश्रेष्ठ पुरुष उसमें काम आया, जिसकी मौत पर कानपुर के हर फ़िरके और दल ने रंज मनाया। दंगों की ख़बर पाते ही कांग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन में फ़ौरन

ही एक जाँच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जाँच की। कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फ़ौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियाँ उठा ली गईं, और मेरा खयाल है कि उन्हें बरबाद कर दिया गया। जाँच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे हुक्काम आलोचक और व अखबार जिनके मालिक अंग्रेज हैं हर वक्त यह बात दुहराते नही थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस मामले में ही नहीं, दूसरे और मामलों में भी, अखीर में सचाई की जीत होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दों मः—

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान्, उसी की जग में विजय अंत मे होगी;
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[१]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल कुदरती था और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नही कर सकता था कि सच्चाई से या संयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उसमें आशातीत झूट और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और छूट को देखकर हैरत होती थी। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल का मिज़ाज कैसा था और पिछले दिनों में वे अपनेको कितना दबाये रखते थे। सम्भवतः उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि यह महसूस करके आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासकों को अपनी ताक़त का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नही हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति मे और उधर दूसरी तरफ की तस्वीर मे ज़मीन-आस्मान का फर्क था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ़ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी संयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नही थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाकी के लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नही कि अगर कांग्रेसवालों का मुंह इस तरह मजबूरी से

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार हैः—

"When all its work is done, the lie shall rot;
The truth is great and shall prevail,
When none cares whether it prevails or not."

बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियां देने में शासकों को मात करते। मगर, हां, कांग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था ग़ैर-क़ानूनी अखबारों का, जो कई शहरों में समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान में अधगोरों के जो अखबार निकलते हैं और जिनके मालिक अंग्रेज हैं वे भी बड़े रस के साथ इस हा-हा, हू-हू में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत-से खयालात जाहिर किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आम तौर पर उन्हे अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारों के ग्राहक हैं; लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह सब संयम बह गया और हमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान में अधगोरे अखबार बहुत कम रह गये हैं, वे एक-एक करके बन्द हो गये हैं, लेकिन जो बाकी बचे हैं; उनमें कई ऊँचे दरजे के हैं—खबरों के लिहाज से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। दुनिया के मामलों पर उनके जो अग्रलेख होते हैं, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगों के दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं फिर भी, उनमें लिखनेवालों की लियाकत झलकती है, तथा इस बात का पता चलता है कि उन्हे अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा क़ाबू है। इसमे कोई शक नहीं कि अखबारों की दृष्टि से ग़ालिबन वे सबसे अच्छे हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने दरजे से गिर जाते हैं। उनकी इकतरफा रायों को देखकर हैरत होती है, और जब कभी कोई आन-बान का मौक़ा आता है तब तो उनकी वह हिमायत अकसर बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सच्चाई के साथ भारत सरकार की राय को प्रकट करते हैं और इस सरकार के हक़ में वे लगातार जो प्रचार करते हैं उसमें अपनी बात किसीपर जबरदस्ती न थोपने का गुण नही होता।

इन कुछ इने-गिने अधगोरे अखबारों के मुकाबिले मे हिन्दुस्तानी अखबार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते हैं और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते हैं। वे अपनी रोजमर्रा की ज़िन्दगी मुश्किल से चला पाते है और ग़रीब सम्पादकीय-विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्ति-जनक होते हैं और क्या राजनीति तथा क्या सामान्य जीवन दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूँ कि कुछ हद तक तो इसकी वजह यह है कि हम लोगों की जाति ही भावुकतामय है, और कुछ हद तक इसलिए कि जिस ज़बान

में यानी अँग्रेज़ी में वे निकलते हैं वह विलायती ज़बान है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई क़िस्म के ऊँचे-नीचे ख़यालों के शिकार हैं जो बहुत दिनों के दमन और गुलामी की वजह से पैदा हुए हैं, इसलिए इन भावों को बाहर निकालने की हमारी हरेक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेज़ी में निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अखबारों में जहाँतक उसके बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से ताल्लुक़ है, मदरास का 'हिन्दू' ग़ालिबन सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी वृद्ध कुमारिका की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरफ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अखबार ख़ास तौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अखबार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। ज़िन्दगी के नक़ली या ऊपरी पहलुओं से जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की से, उसका कोई सरोकार नहीं। नरम-दल के और भी कई अखबारो का स्टैंडर्ड यही वृद्ध कुमारियों का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते, लेकिन उनमे वह ख़ूबी नही आ पाती जो 'हिन्दू' मे है और इसलिए वे हर लिहाज़ से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह ज़ाहिर था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सों से सम्हाले। उन दिनों वार में पहल हमेशा कांग्रेस की तरफ़ से होती थी, लेकिन १९३२ के तरीके बिलकुल दूसरे थे। १९३२ मे सरकार ने सब तरफ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेन्सों के द्वारा हाकिमों को जितने अख़्त्यार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थायें ग़ैरक़ानूनी करार दे दीं गईं। इमारतों पर, जायदाद पर, सवारियों, मोटर वग़ैरा पर और बैंकों में जमा रुपयों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आम जलसो और जुलूसों की मनादी करदी गई और अखबारों और छापेखानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ़, १९३० के बिलकुल खिलाफ़, गांधीजी निश्चित रूप से यह चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरो की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करें लेकिन लड़ाई हुए बिना न रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा संयुक्त-प्रान्त में और सरहदी सूबे में जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी

लड़ाई की तरफ़ लग रहा था । लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालांकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे । किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गांधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और ज़ाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके दिलों में यह उम्मीद पैदा की थी ।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ़ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी । आर्डिनेन्सों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनायें यकायक हो गईं उनकी वजह से कई जगह के मुकामी नेता तो भौचक्के रह गये । लेकिन ये सब बातें होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था । सत्याग्रहियों की कमी नहीं रही । बल्कि सच बात तो यह है और मेरे ख़याल में इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुकाबिला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुक़ाबिले से बहुत कड़ा और भारी था । यद्यपि १९३० में खास तौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूम-धाम व शोरोगुल ज्यादा था, परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, फिर भी इन बातों के बावजूद स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का ज़ोर १९३० से बहुत कम था । ऐसा मालूम होता था मानों हम बेमन से लड़ाई में शामिल हुए थे । १९३० में हमारी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव अनुभव करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुर्झा गया था । सरकार ने उसके पास जितनी ताक़त थी सब लगाकर कांग्रेस का मुकाबिला किया । उन दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फ़ौजी कानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली । वह पहली ही चपेट में बेहोश हो गई । उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से जो पिछले दिनों में उसके ख़ास मददगार रहे थे, ज्यादातर इस बार घबरा गये । उनके धन-माल पर आ बनी । यह बात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ उनकी आज़ादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी तमाम जायदाद भी छीन ली जासकती थी । इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रान्त में तो कोई खास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहाँ तो कांग्रेस गरीबों ही की थी । लेकिन बम्बई जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा । व्यापारियों के लिए तो इसके मानी थे पूरा सत्यानाश । पेशेवर लोगों को भी उससे भारी नुकसान पहुँचता था । इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के

लोगों को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक लेकिन मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी कि तुम्हें लम्बी सज़ा देने के साथ पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातों की धमकियाँ ही न थीं; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगों को हर रोज़ इन धमकियों के पूरे होने की मिसालें मिलती रहती थीं।

मेरा ख़याल है कि किसी कॉंग्रेसी को इस बात का हक नही है कि सरकार ने जो तरीका अख्त्यार किया उसपर ऐतराज़ करे—यद्यपि एक सोलह आने अहिंसात्मक आन्दोलन के ख़िलाफ़ सरकार ने जिस जोर-ज़बरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत ऐतराज़ के काबिल थी। अगर हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी तरीको से काम लेते है तो हमें हर तरह के मुकाबिले के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे तरीक़े कितने भी अहिंसात्मक क्यों न हों? हम लोग अपने बैठकखाने में बैठे-बैठे क्रान्ति के साथ खिलवाड़ नही कर सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनों का फ़ायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते है। अगर कोई क्रान्ति की ओर कदम बढ़ाना चाहते है, तो उन्हें उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगों में से तो बिरले ही क्रान्तिकारी हो सकते है। हाँ, उन व्यक्तियों की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते हैं।

लेकिन आम लोगों के पास न तो मोटरे थी, न बैंकों में उनका कोई हिसाब था, न ज़ब्त करने लायक़ जायदाद; और उन्हीं लोगों पर लड़ाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनका मुकाबिला करने के लिए दूसरे तरीके अख्त्यार किये गये। सरकार ने चारों तरफ़ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीज़ा यह हुआ कि उन लोगों की जमात उठ खड़ी हुई, जिनको हाल ही में छपी एक किताब में लिखे एक शब्द के मुताबिक़ 'सरकार-पक्षी' (Governmentarians) के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगों को यह तो पता नही था कि भविष्य में क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग कॉंग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफ़ी नही समझती थी। ग़दर के सिलसिले में मशहूर फ्रेडरिक कूपर के लफ्ज़ों में शासक लोग, "पूरी, क्रियाशील और निश्चित वफ़ादारी से कम किसी बात को बरदाश्त नहीं कर सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नही हो सकती थी कि वह अपनी

रिआया के महज सद्भाव पर क़ायम रहे।" ब्रिटिश लिबरल दल के जो नेता राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, अपने इन पुराने साथियो की बाबत एक साल पहले मिस्टर लायड जार्ज ने यह कहा था कि "वे उन गिरगिटों के नमूने है जो अपनी देश-कालावस्था के मुताबिक अपना रंग बना लेते है।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था में न्यारे रंगों के लिए गुंजाइश नही थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के निहायत चमकीले रंग में रंगकर बाहर निकले और दावतें खाते तथा गीत गाते हुए उन्होंने शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित किया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो मनाहियाँ और रोकें थी उनसे, और दिन छिपे बाद घरों से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हें डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि सरकार की तरफ़ से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अराजभक्तो ही के लिए हैं, राजभक्तों के लिए उनसे डरने की कोई वजह नही है। इसीलिए जिस डर ने हमारे बहुत-से देशभाइयों को जकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नही फटका और वे अपने चारों तरफ होनेवाली लड़ाई व कशमकश को समदृष्टि से देखते थे। The Faithful Shepherdess नाम की कविता म शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि :—

"भय क्यो हो, सर्वथा मुक्त हूँ मै तो भय से,
बलात्कार क्यो, जब खुद ही राज़ी हूँ मन से।'[1]

न जाने कैसे सरकार को यह ख़याल हो गया कि कॉंग्रेस जेलों को औरतो से भर-कर अपनी लड़ाई में उनका इस्तेमाल करना चाहती है। क्योंकि कॉंग्रेसवाले समझते होगे कि औरतो के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोडी सज़ा दी जायगी। यह ख़याल बिलकुल बे-बुनियाद था। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में धकेली जायँ ? मामूली तौर पर लड़कियो और औरतों ने हमारी लड़ाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियो की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत में उन्हे अपने घर के मर्दों का पूरा सहयोग नही मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सजाये देकर और जेलों में बुरा बर्ताव करके स्त्रियो को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनों की गिरफ्तारी के बाद फौरन ही कुछ नौजवान लड़कियाँ, जिनमे से ज्यादातर पन्द्रह या सोलह बरस

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"For from one cause of fear I am most free,
It is impossible to ravish me,
I am so willing."

की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर ग़ौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई तजुर्बा तो था नहीं। हाँ, उनमें जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थी कि हम क्या करें। लेकिन जब कि वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रहीं थीं, गिरफ्तार करली गई और हरेक को दो-दो साल की सख्त क़ैद की सजा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी जो उन दिनों रोज़-ब-रोज़ हिन्दुस्तान-भर में हो रही थीं। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सजा मिली उनमें से ज्यादातर को बहुत तकलीफ़ें बरदाश्त करनी पड़ी। उन्हें मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफ़ें भुगतनी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदाई मिसाले सुनीं, लेकिन मीरा बहन ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी क़ैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों के साथ होनेवाले व्यवहार का जो वर्णन किया वह उन सब को मात करने वाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती रकबों में ही रहा। किसानो के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार ज़ोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफ़ी छूट देने का वादा किया, लेकिन हम उसे भी काफ़ी नही समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फ़ौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। यह एक विचित्र बात थी कि इस छूट का ऐलान पहले नही किया गया; क्योंकि अगर यह ऐलान पहले हो जाता तो हालत में काफ़ी फर्क पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरादे। लेकिन उस वक़्त तो सरकार को यह फिकर थी कि इस छूट की नामवरी कॉंग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ तो वह काँग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ़ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात साफ़ तौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ कॉंग्रेस का ज़ोर ज्यादा था वही-वही ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटे ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानों का सवाल हल न हुआ। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ संभल ज़रूर गई। इन छूटों ने किसानों की लड़ाई की तेज़ी कम करदी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटो ने उस वक़्त हमें कमज़ोर कर दिया। उस लड़ाई से युक्तप्रान्त में बीसियों हज़ार किसानो को दुख झेलने पड़े। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद होगये। लेकिन उस लड़ाई के ज़ोर से लाखों किसानों को मौजूदा प्रणाली में ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट मुमकिन हो सकती थी क़रीब-क़रीब उतनी मिल गई और उस लड़ाई ने तरह-तरह की तंगियों से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह संग्राम या उसके पुछल्लों की वजह से बहुतों को जो तकलीफ़ उठानी पड़ी वह अलग ही। किसानों को कभी-कभी जो ये

थोड़े से फ़ायदे होगये वे ऐसे कुछ हैं नहीं लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि वे जैसे भी थे वैसे ज्यादातर उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानो की तरफ़ से की थी। आम किसानों को उस लड़ाई से कुछ दिनों के लिए फ़ायदा ही हुआ, लेकिन उनमें जो सबसे अधिक बहादुर थे वे उस लड़ाई में काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्त प्रान्त का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डीनैंसों के साथ-साथ जो बयान निकाले गये उनमे बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बातें भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट ग़लतियो के खंडन करने का कोई मौक़ा नही मिला। शेरवानी के मत्थे खास तौर पर एक झूठा इलज़ाम मढने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ़-साफ़ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफ़ाइयाँ बड़ी अजीब होती थी। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बर्राती थी और कितनी हड़बडा गई थी। उस दिन मै वह हुक्मनामा पढ़ रहा था जो स्पेन के तीसरे बोरबन चार्ल्स, तृतीय, ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था। उसे पढ़ते ही मुझे उन हुक्मनामो और आर्डिनेंसो की तथा उन्हे निकालने के दिये गये कारणों की याद आये बिना न रही, जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान मे प्रकाशित किये थे। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ ईसवी को दिया गया था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी हुकूमत, अमन और अपनी प्रजा मे न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो फर्ज है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर वजूहात हैं और इन वजूहात के अलावा दूसरे बहुत ज़रूरी, ठीक और आवश्यक कारण भी है जिन्हे मै अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूँ।"

इसलिए आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वायसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलो के ताले मे ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ़-साफ़ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेन्सो को निकालने के लिए जो कारण बताये गये उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौक़ा मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में कमाल पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ नीम सरकारी परचे व पैम्फलेट हज़ारो की तादाद में सब गाँवों में बाटे जा रहे हैं, और जिनमें ग़लत बातो की तादाद काफ़ी आश्चर्य-जनक है और

जिनमें खास तौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानो को नाज की जिस मंदी से नुक़सान पहुँचा है वह कॉंग्रेस ने ही कराई है। कॉंग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ़ और क्या हो सकती है कि वह संसार व्यापी संकट पैदा कर सकती लेकिन यहां झूठ लगातार काफ़ी होशियारी के साथ इस उम्मीद से फैलाई गई कि उससे कॉंग्रेस की धाक को धक्का लगेगा ।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास जिलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था वह तारीफ़ के लायक़ है। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाजमी तौर पर माक़ूल लगान और छूट की लड़ाई में मिल गई थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कहीं ज्यादा तादाद में और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ चुहलबाज़ी भी हुई। हम लोगों को एक मज़ेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली ज़िले के बाकुलिया गांव मे गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुड़क करने के लिए गये थे। इस गाँव के लोग दूसरे लोगों को देखते हुए कुछ खुश हाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने महक़मे माल व पुलिस के अफसरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरो के किवाड खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगों ने मवेशी वगैरा कुड़क किये। इसके बाद गाववालों ने पुलिस और महक़मे माल के हाकिमों को पान-सुपारी नज़र की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक बिरली और ग़ैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फ़ौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मेहरबानी कही भी न दिखाई दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गांव उस सज़ा से नहीं बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

कई खास-खास ज़िलों में कई महीनों तक किसानो ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी ग़ालिबन गरमी के शुरू में शुरू हुई। इसमें कोई शक नही कि बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के ख़िलाफ़ करनी पड़ी। आम तौर पर गिरफ्तारियां खास-खास कार्यकर्त्ताओं तथा गाँवों के नेताओं की ही की जाती थीं। दूसरों को तो महज़ मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मारपीट का यह तरीक़ा जेल में ले जाने और गोली मारने के तरीक़े से बेहतर पाया गया। क्योंकि लोगों को जहाँ जी चाहे वही मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात में होनेवाली मार-पीट की तरफ वहाँसे बाहर के लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इसके अलावा उससे क़ैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती। जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हाँ बेदखलियाँ, कुड़कियाँ और जानवर तथा जायदाद बहुत

कसरत से नीलाम हुईं। किसान तकलीफ़ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना क़ब्ज़ा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन में ही कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी क़ीमती सामान व माल सरकार के कब्ज़े में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया लेकिन उसके बाद पड़ौस के एक पार्क में ही एक खुला दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल या दवाखाना स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान मे रक्खा गया और वही वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द भवन' की बाबत भी कुछ चर्चा चली थी कि सरकार उसपर भी अपना कब्ज़ा कर लेना चाहती है। क्योंकि मैंने हमारे इनकमटैक्स की जो एक बड़ी रकम बकाया थी उसके अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० मे पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होंने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उस साल उसे अदा नही किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ मे उस टैक्स के बारे में इनकमटैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अखीर मे मैं उसे देने को राज़ी होगया और उसकी एक किस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुआ और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नही दूँगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यो अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानो से तो यह कहूँ कि तुम लगान और मालगुजारी देने से रुक जाओ और खुद अपना इनकमटैक्स अदा करदूँ। इसलिए मैं यह उम्मीद करता था कि सरकार हमारे मकान को कुड़क कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुड़की की बात बहुत ही बुरी लगती थी क्योंकि उसके मानी यह थे कि मेरी माताजी उससे निकाल दी जाती और हमारी किताबें, व कागजात, वे चीजे तथा जानवर और बहुत-सी जिसे जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि मे, महत्व था, अजनवी लोगों के हाथों में चली जाती और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जाती, हमारा राष्ट्रीय झण्डा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनीयन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का खयाल मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता था। क्योंकि में महसूस करता था कि मेरा मकान कुड़क हो जाने पर मैं उन किसानो के ज्यादा नजदीक आजाऊँगा जो अपनी चीज़े खो बैठे है और इससे उनके दिल भी बढेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान

पर हाथ नहीं डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माता का खयाल था। या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुड़क करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेज़ी बढ़ जायगी। कई महीनों बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरों का पता लगाकर इनकमटैक्स वसूल करने के लिए उन्हें कुड़क कर लिया गया। मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुड़क करके बेच दी गई थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा तकलीफ़ हुई। यह बात थी कई म्यूनिसिपैलिटियों और सार्वजनिक सस्थाओं द्वारा हमारे राष्ट्रीय झंडे का उतारा जाना। खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरों में कांग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योंकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयगी! यह सख्ती गालिबन म्यूनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरों को सज़ा देने के रूप में होती। जो जमातें स्थापित स्वार्थ रखती हैं वे अक्सर डरपोक होती हैं और शायद उनके लिए यह लाज़िमी था कि वे झंडे उतार डालतीं। फिर भी इस बात से हमें बड़ा दुख हुआ। वह झंडा हमारे लिए, जिन बातों को हम बहुत प्यार करते हैं उनका, चिन्ह हो गया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञायें ली हैं। खुद अपने ही हाथों से उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ़ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोड़ना ही नहीं बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक बल के मुक़ाबिले में झूठ को क़ुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होंने क़ौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्ज़त को नुक़सान पहुँचाया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग में कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली क़तार में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी क़िस्म की तकलीफ़ें या नुकसान नहीं बरदाश्त करता है, ग़लत और फ़िज़ूल है। हरेक को बहुत से फ़र्ज़ अदा करने पड़ते हैं और कई क़िस्म की ज़िम्मेदारियाँ उठानी पड़ती हैं। और दूसरों को इस बात का कोई हक़ नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सच्चाई से या जिसे हम सच्चाई समझते हैं उससे इन्कार करना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितों के खिलाफ़ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे देते। मगर,

इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। थॉमस मूर ने कहा है:—

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद किसीकी उस काम के लिए नुक्ताचीनी करना नाइन्साफ़ी है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला संसारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में टाइटैनिक जहाज संबन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नहीं किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज़ के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में मॉरो कैसिल जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही संकट आने पर जबकि सहज-स्फूर्ति बुद्धि और संयम को दबा लेती है। तब वे खुद क्या करें। इसलिए हमें किसीको दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हम इस बात पर ग़ौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नहीं था और भविष्य में इस बात का खयाल रक्खें कि क़ौम की नैया का पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दिया जाय जो ऐसे वक़्त पर जब सबसे ज्यादा धीरज की ज़रूरत होती है तब कांपने लगें और बेकार हो जायें। अपनी इस नाकामयाबी को ठीक ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बड़ा अपराध है।

लड़नेवाली ताक़तों की हर एक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर मुनहसिर होती है। खूनी-से-खूनी लड़ाई भी इन्हीं दो गुणों पर अवलम्बित रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"आखीर में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस सत्व को हानि पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुँचाता है।

महीने गुज़रते गये, और हमें हर रोज़ कुछ अच्छी खबरें मिलतीं और कुछ बुरी। हम लोग अपनी-अपनी जेलों की अपनी नीरस और एकसी जिन्दगी के आदी हो गये।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"But bees, on flowers alighting, cease their hum—
So, settling upon places, Whigs grow dumb!"

६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत सी नई-नई बातें देखने को मिलेंगी। सचमुच उस हफ्ते में बहुत सी बातें हुईं भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाक़ी सब बातें फ़ीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी मां उस जुलूस में थीं जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक़्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी लादी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुईं थीं। कुछ लोग, जिनमें मेरे सैक्रेटरी वग़ैरा शामिल थे और जो ख़ास तौर पर उनकी देख-भाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मां को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर मे घाव हो गया और खून आने लगा और वह बेहोश हो कर सड़क पर गिर गईं। सड़क से उस वक़्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफसर ने उन्हें उठाया और वह उन्हें अपनी मोटर मे बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद में एक गलत अफ़वाह उड़गई कि मेरी मां का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगो की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगो पर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बतो की खबर मेरे पास पहुँची— हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अखबार मिलता था—तो अपनी कमजोर बूढ़ी मा को सड़क की धूल मे खून से लथपथ पड़ने का खयाल मुझे रह रहकर आने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा किस हदतक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज्यादा हदतक मेरा साथ नही देती। क्योंकि वह दृश्य मुझे उस सबक़ को क़तई भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा वक़्त से की थी और मैं ज़ाती या क़ौमी नतीजों की रत्ती भर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गई और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल में मुझसे मिलने आई तब उनके सर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी भारी खुशी और गर्व था कि वह अपने स्वयं सेवक लड़के और लड़कियों के साथ बेंतों और लाठियों की मार खाने के विशेष लाभ से महरूम न रहीं। लेकिन उनका चंगापन उतना असली नहीं था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बड़ी उमर में इन्हें जो भारी झकझोरे झेलने पड़े उनसे उनका शरीर अस्तव्यस्त हो गया और उसने उन गहरी तकलीफ़ों को उभाड़ दिया जिन्होंने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

स्वरूपरानी नेहरू

४३

बरेली और देहरादून जेल में

छः हफ्ते नैनी जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली ज़िला जेल को कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज़ बुख़ार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली में बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख़्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली के मुकाबले में एक ठंडी जगह, हिमालय के पैरों तले, देहरादून जेल में भेजा गया। मैं वहाँ कोई साढ़े चौदह महीने, क़रीब-क़रीब अपनी दो साल की सज़ा के अख़ीर तक रहा। इस बीच में मेरा तबादला किसी दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और ख़तों के तथा उन चुने हुए अख़बारों के ज़रिये से, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास ख़बरें पहुँच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और ख़ास-ख़ास घटनाओं के बारे में मेरी धारणायें बहुत धुंधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने ज़ाती मामलों में और उस राजनैतिक स्थिति को ठीक करने में, जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की आज़ादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अब तक यहीं हूँ। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज्यादातर जेल में ही—और इसीलिए वाक़यात से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच में जो कुछ हुआ उस सबकी तफसीलवर जानकारी हासिल करने का मुझे बहुत ही कम, नही के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में गांधीजी शरीक हुए थे उसमे परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अब तक बहुत ही धुंधली है। इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अब तक मुझे कोई मौका ही नही मिला और न इसी बात का मौक़ा मिला कि अब तक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार करलूं।

१९३२ और १९३३ के उन सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफ़ी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय-संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूं। लेकिन चूंकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुई उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय

क़ायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के क़रीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफ़ी ज़ोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लड़ाई क्रान्ति की पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, वह या तो तेज़ होगी या नीचे गिरेगी। शुरू के जोश के बाद सत्याग्रह-संग्राम धीरे-धीरे ढीला पड़ता गया लेकिन उस हालत में भी वह बहुत वक्त तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गई थी फिर भी अ० भा० कांग्रेस का संगठन काफ़ी कामयाबी के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने सूबे के कार्यकर्ताओं के साथ उसका ताल्लुक़ बना रहा। वह अपनी हिदायतें भेजता रहा, सूबों से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबों को आर्थिक मदद भी दी।

कम-ज्यादा कामयाबी के साथ सूबे के संगठन भी अपना काम चलाते रहे। जिन सालों में मैं जेल में बन्द था उनमें दूसरे सूबों में क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नहीं लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गई। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ में पूरे साल भर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली मर्तबा सत्याग्रह को मुल्तवी किया। इस डेढ़ साल में ज़िलों को अक्सर हिदायतें भेजी जाती रहीं। छपी हुई या साइक्लोस्टायल से लिखी हुई पत्रिकायें बाक़ायदा जारी होती रहीं। समय-समय पर ज़िलों के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-संघ के कार्यकर्त्ताओं को भत्ता मिलता रहा। यह काम ज्यादातर जरूरतन छिपे तौर पर किया गया। लेकिन सूबा कांग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर के चार्ज में थे वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे जबतक उन्हें गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उसके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने तजुर्बे से हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान-भर में छिपे-छिपे खबरे लेने-देने के लिए संगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ मुखालिफ़त होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा नतीजा निकला। लेकिन हममें से बहुतों को इस बात का भी खयाल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नहीं खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका बुरा असर पड़ता है। बड़े और खुले जनता-आन्दोलन के एक छोटे-से जुज़ के तौर पर यह काम फ़ायदे का था लेकिन उसमें हर वक्त यह

खतरा बना रहता था कि कहीं छोटे-से और प्रायः बेकार के गुप्त काम ही जनता-आन्दोलन की जगह न ले लें। यह खतरा उस वक़्त खास तौर पर बढ़ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ में गांधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ वक्त तक गुजरात और कर्नाटक में भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनों सूबों में ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होंने अपनी ज़मीन का मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफ़ी नुक़सान उठाया। बेदखलियों और जायदाद की ज़ब्तियो से किसानों को जो तकलीफ़ पहुँची उसे कम करने और पीड़ितों की मदद करने के लिए कांग्रेस की तरफ़ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह लाज़िमी तौर पर नाकाफ़ी थी। युक्तप्रान्त मे तो यहाँ की कांग्रेस-कमिटी ने इस तरह मुसीबतज़दा किसानों की मदद करने के लिए कोई कोशिश नहीं की। यहाँ का सवाल वहाँ से कहीं ज्यादा बड़ा था। आसामी किसानों की तादाद किसान-ज़मींदारों की तादाद से कही ज्यादा है, यहाँ का रक़बा भी बहुत बड़ा था, और सूबे की कमिटी के माली साधन भी दूसरे सूबों के मुकाबले में बहुत ही महदूद थे। लड़ाई की वजह से जिन बीसियों हज़ार किसानों को नुक़सान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल ग़ैर-मुमकिन था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्ही लोगों की मदद क्यों करें और इन लोगों में तथा उन लाखों लोगों में भेद-भाव कैसे करें जिन्हें हमेशा भूखों मरने का डर बना रहता है। सिर्फ़ कुछ हज़ार लोगों को मदद करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खड़ी हो जाती। इसलिए हम लोगों ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या ऐतराज किये बिना उन्होंने जितनी तकलीफें सही उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियों की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्ताओ की बीबियों और बच्चों की जो जेल गये थे। इस दुःखी मुल्क की ग़रीबी का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगों के लिए ईश्वरीय देन थी।

युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ग़ैर क़ानूनी क़रार देदी गई थी। फिर भी वह लड़ाई के दौरान में अपने वैतनिक कार्यकर्ताओं को जो थोड़ा बहुत भत्ता देती थी बराबर देती रही। और जब वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी-अपनी बारी आने पर

सभी गये थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का खर्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई कापियाँ निकालने का खर्च था। यह खर्च भी बहुत बड़ा था। सफ़र खर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले ज्यादा ग़रीब थे उन्हे भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोर्चाबन्द सरकार के खिलाफ़ जनता की घमासान लड़ाई के इस वक्त मे इन सब खर्चों के और दूसरे खर्चों के बावजूद युक्त-प्रान्त की कांग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अखीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ़ ६३०००) था; यानी क़रीब-क़रीब ३१५०) रुपया महीना। इस रकम में वह खर्च शामिल नही है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर लखनऊ जैसी ज्यादा आसूदा और ज्यादा मज़बूत ज़िलों की कमिटीयो ने अलग किया। सूबे की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरा खयाल है कि हमने जो कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि उसने कितना कम खर्च किया। इस छोटी सी रकम का मुकाबला उस रकम से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए खासतौर पर खर्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा खयाल है कि कांग्रेस के कुछ दूसरे बडे-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कहीं ज्यादा खर्च किया। लेकिन बिहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ौसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा गरीब सूबा था; फिर भी लड़ाई मे उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

इस तरह धीरे-धीरे सत्याग्रह की लड़ाई कमज़ोर होती गई; लेकिन फिर भी वह चलती रही, मगर बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह आम लोगों की लड़ाई नही रही। सरकारी दमन की सख्ती के अलावा इस लड़ाई को सबसे पहली ज़बरदस्त चोट उस वक्त लगी जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनो के सवाल पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जाग्रति ज़रूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई मुल्तवी की गई तब तो वह व्यावहारिक रूप में आखिरी तौर पर मर गई। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि अगर वह मुल्तवी न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे खतम हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता से सुन्न हो गया था। कम-से कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य खत्म हो गया था और नया उत्साह नहीं आ रहा था। वैयक्तिक रूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते

थे लेकिन उन लोगों को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण में काम करना पड़ता था।

हम लोगों को जेल में रहते हुए यह बात अच्छी नहीं लगती थी कि हमारा महान आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी मिल जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आम लोग इस तरह उठ खड़े हों कि उन्हें कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक कामयाबी हो जाती। लेकिन हम ऐसे इत्तफ़ाक पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज़ होती, कभी मद्दी पड़ती और बीच-बीच में कई भुलावों में पड़ जाती। इस लड़ाई से जनता को अनुशासन सिखाने में तथा एक विचार धारा का लगातार प्रचार करने में ज्यादा कामयाबी मिली। १९३२ के उन शुरू के दिनों में तो मैं कभी-कभी इस ख़याल से डर जाता था कि कहीं हमें फौरन ही दिखावटी कामयाबी न मिल जाय क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसमें लाज़िमी तौर पर कोई राज़ीनामा होता जिसकी बदौलत राज की बागडोर सरकार-परस्त और मौक़ा परस्त लोगों के हाथ में पहुँच जाती। १९३१ के तजुरुबे ने हमारी आँखें खोल दी थीं। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग आमतौर पर उसका फायदा उठाने के लिए काफ़ी मज़बूत हों और उसके बारे में उनके विचार साफ हों। यदि ऐसा न होगा तो आम लोग तो लड़ेंगे और कुर्बानी करेंगे और जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन वक्त पर दूसरे लोग बड़ी ख़ूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी ख़तरा था क्योंकि ख़ुद कांग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज क़ायम करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ-साफ़ कुछ सूझता ही था। सच-मुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो महज़ यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंश को निकाल कर उसकी जगह स्वदेशी छाप दे दी जाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-परस्त' लोगों से तो हमें कुछ डर नहीं था क्योंकि उनके मज़हब की सबसे पहली बात यह थी कि राज की ताकत जिस किसी के हाथ में हो उसीके सामने सर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलों और प्रतिसहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार धारा को करीब-करीब सोलहों आने मंजूर कर लिया था। समय समय पर वे जो थोड़ी-बहुत नुक्ताचीनी कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कौड़ी की होती थी। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में कानून के पाबन्द थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का

स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज्यादा आगे बढ़ गये और बहुत-कुछ सरकार की तरफ़ जा खड़े हुए। हिन्दुस्तान में सब किस्म की नागरिक आज़ादी का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए और कुछ-कुछ डरे हुए दूर से तमाशबीनों की तरह देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज़ सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुक़ाबला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलों को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ़ शायद ही किसीने कोई आवाज़ उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर इन आज़ादियों के हामी थे वे सबके सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगों ने राज की ज़बरदस्ती के सामने सर झुकाने से इन्कार करके उसकी सज़ा भोगी। लेकिन बाक़ी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी में चुं तक नही की। जब कभी उन्होने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहज़े से मानो अपने कुसूर की माफ़ी मांग रहे हो और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगों की, जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, बड़ी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशों में नागरिकों की आज़ादी के पक्ष में मज़बूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहाँ ज्योंही इनमें कमी की जाती है त्योंही लोग बिगड़कर उसकी मुखालिफ़त करते हैं। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात हो गई है।) उन मुल्कों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत काफ़ी है जो खुद तो कड़ी और सीधी लड़ाई में हिस्सा लेने को तैयार नही होते लेकिन इस बात का बहुत काफ़ी खयाल रखते हैं कि बोलने और लिखने की आज़ादी मे, जल्सा करने और संगठन क़ायम करने की आज़ादी में, व्यक्तिगत और छापेखानो की आज़ादी में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते है और इस तरह सरकार द्वारा उनके भंग किये जाने की कोशिशों को रोकने में मदद करते है। हिन्दुस्तान के लिबरलों का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलों की परम्परा पर चल रहे हैं हालांकि इन दोनो में नाम के अलावा और कोई बात एकसी नही है। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जासकती थी कि इन आज़ादियो के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध ज़रूर करेंगे क्योंकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसी कोई बात नही की। उन्होंने वॉल्टेअर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मै क़तई सहमत नहीं हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक़ है और आपके इस हक़ को मै अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नहीं है क्योंकि उन लोगों मे

आजादी या लोकतंत्र के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिससे एक लफ्ज इधर-उधर होजाने पर वे मुसीबत में फँस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का आजादी के उन पुराने आशिक़ों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मजदूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ होरहा था वह काफ़ी तकलीफ़देह था। लेकिन वे उस सबको काफ़ी मजे के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" नामके अखबार के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी खुशी जाहिर हो जाती थी। हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने राजद्रोह का एक बिल पास करने की कोशिश की है। खास तौर पर लिबरलों और मजदूर दलवालों ने इस बिल के खिलाफ़ और बातों के साथ इस बिना पर बहुत वावैला मचाया है कि वह बोलने की आजादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटों को यह अख्त्यार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मै इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ हमदर्दी करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहां तो वाक़ई में जो क़ानून जारी है वे क़रीब-क़रीब उस क़ानून से सौगुने ज्यादा बुरे है जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिनके गले में इंग्लैंड में मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चूं-चपड़ किये ऊँट को किस तरह निगल जाते है। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगो की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है जिससे कि वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते है और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन सबमें उन्हें धर्म-ही-धर्म दिखाई देता है। आजादी और लोकतंत्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे है उसपर उन्हे बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निंदा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आजादी का छीना जाना जरूरी समझते है और इस बात के लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आजादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ क़तई नहीं है। जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ आग लग रही थी और मर्दों तथा औरतों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहां से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुने हजरात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज-कान्फ़्रेन्स हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनी। यहाँ की असेम्बली के बहुत से मेम्बरों ने इन कमिटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे

वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन करसकें। सार्वजनिक खर्चे पर हिन्दुस्तान से लन्दन को काफ़ी भीड़ गई। बाद को १९३३ में वह ज्वाइण्ट कमिटी हुई जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरों की तरह काम किया और इस मर्तबा भी जो लोग गवाह के तौर पर गये उनको मेहरबान सरकार ने सफ़र खर्च अपने खजाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावों से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज्यादा सफर खर्च मिलने के लिए कश्मकश भी की।

हिन्दुस्तान के जनता-आन्दोलन का अमली-रूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया मे, लन्दन में इकट्ठा होते देखकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर जरूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की जिन्दगी और मौत की लड़ाई में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममें से बहुतो को यह मालूम हुआ कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसने हिन्दुस्तान में प्रतिगामी लोगो को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस वक्त हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह खयाल ग़लत था।) इस छँटनी मे जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलती और सब लोगों के लिए यह बात और भी साफ हो जाती कि सिर्फ़ आजादी के जरिये से ही हम सामाजिक मसलों को हल कर सकते है और जनता के सर का बोझ हटा सकते है।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोज-मर्रा की ज़िन्दगी में ही नही, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपनेको हिन्दुस्तान की जनता मे कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उनकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हे कुर्बानी करने और तकलीफे झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियों की राय में असलियत सिर्फ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताकत जिससे लड़कर उसे हराना ग़ैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमें खुशी से या बेबसी से अपना सर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिये बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल ग़ैर-मुमकिन था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में "हमारे समय का संक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस

आइरिश ज्वाइण्ट कान्फ्रेंस की नाकामयाबी की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक संकट को खतम करने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता संकटकाल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते है उनकी दशा उन लोगों की सी होती है जो जब मकान में आग लगी हुई है तब उसका बीमा कराने की कोशिश करते है। १९३२ और १९३३ में हिन्दुस्तान में जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कही ज्यादा थी जो आयर्लेण्ड में १९१० में लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाये भलेही बुझ जायँ फिर भी उसके सुलगते हुए शोले बहुत दिन तक रहेंगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के संकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होगे।

हिन्दुस्तान की शासक-मण्डली में हिसा-भाव की जो बढ़ती दिखाई देती थी वह चकित कर देनेवाली थी। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योंकि ब्रिटिश लोगों ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। मुल्की हाकिमों का भी सबसे जबर्दस्त दृष्टिकोण फ़ौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत मे यह बात प्राय: हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्जा करके पड़ी हुई गैर-मुखालिफ फौज की हुकूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गई। बगाल मे और दूसरी जगह आतंकवादियों ने जो काण्ड किये उनसे इस हिसा को और भी खुराक मिली और शासकों को अपने हिसात्मक कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सों ने सरकारी अफसरो और पुलिस को इतने बेहिसाब अख्त्यार दे दिये कि हिन्दुस्तान असल मे एक पुलिस राज ही हो गया, जिसमे पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोड़ा या बहुत मात्रा मे हिन्दुस्तान के सभी सूबो को इस भीषण दमन की आग में होकर गुजरना पड़ा, लेकिन सरहदी सूबे और बंगाल को सबसे ज्यादा तकलीफें झेलनी पड़ी। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यत. फौजी सूबा रहा है। उसका इन्तजाम अर्ध-फ़ौजी कायदों के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य के लिहाज से यों उसका बहुत महत्व पहले ही से था। अब लाल कुर्ती के आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबड़ा गई। इस सूबे में 'अमन क़ायम करने के लिए' और 'झगड़ालू गांवों को' दुरुस्त करने के लिए फ़ौजों की टुकड़ियां छोड़ी गई थी। हिन्दुस्तानभर मे यह आम रिवाज हो गया था कि सरकार गाँव-के-गाँवों पर जुर्माना ठोक देती थी और कभी-कभी (खास तौर पर बंगाल में) क़स्बों पर भी। सजा के तौर पर पुलिस अक्सर गाँवो मे डाल दी जाती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अख्त्यार हासिल थे और उन्हें रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियाँ होना लाजिमी था। हम लोगों

को क़ानून और व्यवस्था के भंग और अव्यवस्था के नमूने खूब देखने को मिले।

बंगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही ग़ैर मामूली बातें दिखाई देती थीं। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पच्चीस बरस तक के हर शख्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की शनाख्त का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश निकाला दिया जाता था या नज़र बन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी। जब सरकार चाहती स्कूलों को बन्द कर देती। साइकिलो पर चढ़ने की मनाही थी और कही आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पड़ती थी। इसके अलावा दिन छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातों के लिए क़ायदे और क़ानूनों की भरमार थी। फ़ौजें पेट्रोल करती थी, ताज़ीरी पुलिस तैनात करदी जाती थी और गाँव भर पर जुर्माने होते थे। बडे-बड़े रक़बे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल लिया गया हो। इन क़सबों में रहनेवाले औरत-मर्दों की ऐसी कड़ी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगों से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नही सकते। इस बात का फ़ैसला करना मेरा काम नही है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत क़ायदे क़ानून जरूरी थे या नही। अगर वे ज़रूरी नही थे तो सरकार पर यह भारी इलज़ाम आता है कि उसने सारे इलाक़े की आज़ादी को बेइज्ज़त करने, उनपर ज़ुल्म करने और उन्हें भारी नुक़सान पहुँचने का भारी क़ुसूर किया। अगर वे ज़रूरी थे तो बेशक हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बाबत यह आखिरी फ़ैसला है जिससे उसकी बुनियाद का पता लग जाता है।

सरकार के हिंसा के इस भाव ने जेलों में भी हमारे लोगों का पीछा किया। क़ैदियों का अलग-अलग श्रेणियों मे बँटवारा एक फ़ार्स था और अक्सर उन लोगो को बेहद तकलीफ़ होती थी जो ऊँचे दर्जों में रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगों को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के मर्दों और औरतों को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्सपैक्टर जनरल ने तो यहां तक किया कि सब जेलों का नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमें यह कहा गया कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ कड़ाई का बर्ताव होना चहिए।[1]

१. इस गश्ती चिट्ठी पर ३० जून १९३३ तारीख़ पड़ी थी और उसमें यह लिखा

बेंतों की सज़ा जेल की आम सज़ा हो गई। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से ताल्लुक़ रखनेवाले जुर्मों के सिलसिले में कोई पाँचसौ शख्सों के बेंत लगे हैं।" इसमें यह बात साफ़ नहीं है कि आया उसमें वे लोग भी शामिल हैं जिनको जेलों में जेल के क़ायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सज़ा दी गई। १९३२ में जेलों में बेंत लगने की खबरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं तब मुझे याद आई कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सज़ा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक़्त इस सज़ा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीसें उठती थी लेकिन मुझे यह नहीं सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपने को पहले से कहीं ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड़-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

हमारे आदमियों को जेल मे कड़ी से कड़ी मशक्कत दी गई जैसे—चक्की, कोल्हू वग़ैरा। और उनसे माफ़ी मंगवाकर तथा सरकार के सामने यह अहद कराकर, कि हम आइन्दा ऐसा नहीं करेंगे, उन्हे छुड़वाने के लिए, जहाँ तक हो सका वहाँ तक उनकी ज़िन्दगी हराम करने की, कोशिश की गई। क़ैदियों से इस तरह माफ़ी मंगवाना जेल के हाकिमों के लिए बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। जेल मे ज्यादातर सज़ायें उन लड़कों और नौजवानों को भोगनी पड़ी जो धौंस, दबाव और बेइज्ज़ती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, ज़िन्दादिली तथा साहसी वृत्ति से भरे हुए इंगलैंड के पब्लिक स्कूलों में इस तरह के लड़कों की बेहद तारीफें होती, उन्हें हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हथकड़ियाँ पड़वाईं, उन्हें काल-कोठरियों मे बन्द करवाया और उनके बेंत लगवाये।

जेलों में हमारी महिलाओं की ज़िन्दगी तो ख़ास तौर पर दुःखमय थी। ऐसी

हुआ था:—"जेल के सुपरिन्टेन्डेन्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ उनके महज़ सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के क़ैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"

दु:खमय कि उसका खयाल करने में भी तकलीफ़ होती है। ये स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यम श्रेणी की थी जो छत्रछाया के जीवन में रहने की आदी थी और उन तरह-तरह के दमनो और रिवाजों से सताई हुई, जो मर्दों ने अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फ़ायदे के लिए बनाये है। इन स्त्रियो के लिए आज़ादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात मे कोई शक नहीं कि जिस जोश और जिस ताक़त के साथ वे आज़ादी की लड़ाई मे कूदी उनका स्रोत उस धुंधली और लगभग अज्ञात लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा मे था जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को बचाने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कम को छोड़कर बाक़ी सबको मामूली क़ैदियों के दर्जे मे रक्खा गया और उनको बहुत ही पतित साथियो के साथ और अक्सर उन्हीकी सी घिनौनी हालत मे रक्खा गया। एक मर्तबा मै एक ऐसी बैरक मे रक्खा गया जो औरतो की बैरक से सटी हुई थी। दोनो के बीच मे एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते मे, दूसरी क़ैदिनो के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिनें भी थी और इनमें एक स्त्री वह थी जिसके घर मे मै एक मर्तबा ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमें एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातो और गालियो को सुनने से नही रोक पाती थी जो हमारी साथिनों को कैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थी। इन्हे सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक कैदियो के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कही ज्यादा बुरा था जो दो बरस पहले सन् १९३० मे किया गया था। यह बात महज़ जेल हाकिमो की सनको की वजह से नहीं हो सकती थी। इसलिए उसकी बाबत एक मात्र माकूल नतीजा यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक क़ैदियों के अलावा भी, युक्त प्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ़ थी कि वह क़ैदियों के साथ इन्सानो का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ़ होने के लिए मशहूर था। इस बात की ऐसी हमें एक मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नही सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल निरीक्षक हम लोगो के पास जेल में आये। यह महाशय बागी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि वह 'सर' थे। उनको सरकार ने खुश होकर खिताब दिया था। उन्होने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल निरीक्षण किया था; और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योंकि सरकार की मण्डली मे इन्सानियत अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती।

लेकिन मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, क्योंकि मैं कभी यह क़यास ही नहीं कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुँच सकता है। नतीजा यह हुआ कि फौरन ही एक बहुत दूर कहीं कोने में पड़ी हुई एक जेल में जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक क़िस्म की सजा ही थी।"

कुछ जेलर खास तौर पर खूंखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताब दिये गये तथा उनकी तरक्की की गई। जेलों में बेईमानी और रिश्वत-खोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ़ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत-से दोस्तों का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियों में वही लोग सब-से ज्यादा बेईमान और रिश्वतखोर होते हैं जो आम तौर पर हुकूमत के बहुत जबरदस्त और सख्त हामी बनते हैं।

जेलों में और जेल से बाहर मैं खुशकिस्मत रहा हूँ और करीब-क़रीब जितने लोगो से मेरा वास्ता पड़ा उन सबने मेरे साथ इज्जत व शराफ़त का बर्ताव किया, उस हालत में भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे परिवारवालों को सख्त तक़लीफ हुई। मेरी मां, कमला और मेरी लड़की इंदिरा इलाहाबाद ज़िला जेल मे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गई और वहाँ बिना क़ुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हे जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बड़ा रंज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख भी इस मामले मे अच्छा नही है तब मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मा को जेल-अधिकारियो द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैने तय कर लिया था कि मै किसीसे मुलाकात नही करूंगा। करीब-क़रीब सात महीने तक, जब मै देहरादून जेल में था, मैने किसीसे मुलाक़ात नही की।

४४

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पाये, इस बात का बचाव करने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक रास्ते के स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाड़ी में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर मे लेजाये गये। कई महीने तक अलग जेल मे बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर के सफर से हमें अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटा-सा वाकया हुआ, जिसने उस वक्त तो मेरे दिल पर असर डाला ही लेकिन अबतक भी वह मेरी याद में तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिन्टेन्डेंट जो कि एक अंग्रेज था, वहाँ मौजूद था और ज्योंही मै कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमे, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रो की कापियाँ थी। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे है इसलिए मै ये मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी-उसकी मुलाकात कभी नही हुई थी और न उस दिन के बाद मे आजतक उससे कभी मिला। मै उसका नाम भी नही जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन मे मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी रात के उस लंबे सफर मे मै अंग्रेजो और हिन्दुस्तानियों, शासको और शासितों, सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगो, सत्ताधारियों और उन लोगो के कि जिन्हे उनके हुक्म मानने पड़ते है, आपसी ताल्लुकात के बारे मे तरह-तरह की बातें सोचता रहा। इन दोनो वर्गों के बीच मे कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे है तथा एक-दूसरे को कितना नापसद करते है ? लेकिन इस अविश्वास और नापसंदी से भी ज्यादा बडी बात एक दूसरे की बाबत नाजानकारी है। इसी नाजानकारी की वजह से दोनो एक-दूसरे से डरते है और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक्त चौकन्ने रहते हैं। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिंचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनों में एक भी यह नहीं महसूस करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अंग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते हैं

और लोगों को सहायता तथा सहारा देने के साधनों की उन्हें कमी नहीं हैं। इसलिए उनके पास मौक़ापरस्त और नौकरियों की तलाश में गिड़गिड़ाते फिरनेवाले लोगों की भीड़ पहुँचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनों से बनाते हैं। हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेजों को सिर्फ़ हाकिमों की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमें सोलहों आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालों में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते वक्त होते हैं। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी मौज के मुताबिक काम करनेवाले शख्स के बर्ताव में और उस बर्ताव में, जिसे एक शख्स हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से करता है, कितना फ़र्क होता है ? फौजी जवान तो अकड़कर अटेन्शन होते वक्त अपनी इन्सानियत को फेंक देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगों पर निशाना ताककर उन्हें मार गिराता है, जिन्होंने उसका कभी कोई नुकसान नहीं किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन बेकुसूर लोगों पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपनेको एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता और न वह उस भीड़ को ही व्यक्तियों की शक्ल में देखता है जिन्हें वह डंडों से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई शख्स दूसरे पक्ष को भीड़ या समूह के रूप में देखने लगता है, त्योंही दोनों को मिलानेवाली इन्सानियत की कड़ी ग़ायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड़ में वही शख्स, मर्द और औरत और बच्चे होते हैं, जिनमें मुहब्बत और नफ़रत के भाव होते हैं तथा जो तकलीफ महसूस करते हैं। एक औसत अंग्रेज अगर साफ-साफ़ बात कहे तो यह मंजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियों में कुछ आदमी काफ़ी भले भी हैं; लेकिन ये लोग तो अपवाद-स्वरूप हैं, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घिनौने लोगो की भीड़ भर हैं। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मंजूर करेगा कि कुछ अंग्रेज जिन्हें वह जानता है तारीफ के क़ाबिल हैं, लेकिन इन थोड़े-से लोगों को छोड़कर बाकी के अंग्रेज बड़े ही घमंडी, पाशविक और सोलहों आने बुरे आदमी हैं। यह बात कैसी अजीब है कि हर शख्स दूसरी क़ौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है ? उन लोगो के आधार पर नहीं जिनके वह संसर्ग में आता है, बल्कि उन दूसरे लोगों के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नहीं जानता या कुछ नहीं के बराबर ही जानता है।

ज़ाती तौर पर तो मैं बड़ा खुशकिस्मत रहा हूँ और क़रीब-क़रीब हमेशा ही मेरे साथ सब लोग शराफ़त से पेश आये हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज हों या मेरे अपने

देश-भाई। मेरे जेलरों और उन पुलिसमैनों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया या जो मुझे क़ैदी की हैसियत से एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेजों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, सिर्फ़ भीड़ का एक हिस्सा ही नहीं। मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी तालीम इंग्लैण्ड में पाई और खास तौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नज़दीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का शाइस्ता आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव का मुक़ाबिला उस ज़िन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और ज़िल्लत-सी महसूस होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होने हुए भी जेल जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका पीड़क वातावरण प्रायः असह्य हो जाता था। उसकी हवा खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरी हुई थी। वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिड़गिडाता था। तुनक-मिज़ाजवाले हर शख्स को लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी ज़रा-ज़रासी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई खराब खबर आ जाती या अखबार में ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फ़िक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखों को भूल जाते थे। वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन की समतौलता क़ायम रहती थी। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानों हम बोतल में बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिये गये हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाज़िमी तौर पर हमारी राय इकतरफा और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी खास तौर से दुःखदायी होती है।

फिर भी मैंने अपनेको जेल की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपनेको ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी क़ीमत हो, जेल में तो वे लाज़िमी थे। क्योंकि उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को क़ायम नहीं रख

सकता। मैंने अपना एक टाइम-टेबल बना लिया था, जिसका मैं सख्ती के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपनेको बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज़ हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सैफ्टी रेजर मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आम तौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गये थे। दिनभर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मज़े से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिनों के बाद दिन, हफ्तों के बाद हफ्ते और महीनों के बाद महीने गुज़र गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज़ और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्मा करता, सबसे खीज उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगों पर भी इसलिए खीज उठता था कि उन्होंने यह काम क्यों किया या यह काम क्यों नहीं किया? ब्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीजा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरों के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीज उठता था। इन दिनों मैं बहुत चिड़चिड़ा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी में होनेवाली ज़रा-ज़रा-सी बातों पर बिगड़ उठता था। खुशक़िस्मती यह थी कि मेरा मिज़ाज ज्यादा दिनों तक ऐसा नहीं रहता था।

जेल में मुलाकात का दिन बड़ी खुशी का दिन होता था। हम लोग मुलाक़ात के दिनों की कैसी ख्वाहिश करते थे? उनके लिए कैसा इन्तज़ार करते थे तथा उनके लिए दिन गिना करते थे। लेकिन मुलाक़ात की खुशी के बाद उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल में छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नहीं हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुःखी हो जाता था। हाँ, मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में कागज़ और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के क़रीब-क़रीब हरेक हरफ़ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। यह बात मुझे बहुत ही नागवार मालूम हुई और ये मुलाकातें बिलकुल बेकार गईं।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो बर्ताव हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकातें करना बन्द कर दिया था। क़रीब-क़रीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाक़ात नहीं

की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस था और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाक़ात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटा-सा बच्चा मेरे कन्धों पर चढ़ने का आदी था। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बांध टूट गया। मानवी संसर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाक़ात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले खत (क्योंकि मेरी दोनों बहनें जेल में थी) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे और भी क़ीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बड़ी उत्सुकता से देखा करता था। आम मुकर्रर तारीख़ को कोई खत न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं खत में कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में खतो का आना या जेल में खत लिखना दोनों ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन में खलल डालते थे। वह मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करता था और उसके बाद एक या दो दिन तक मन दुचित्ता हो जाता और उसे रोजमर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ़ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गये, क्योंकि उनकी छ. महीने की सज़ा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अख़ीर में जेल से छूटने तक, करीब-क़रीब आठ महीने तक, देहरादून-जेल में मैं बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज़ कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मैं बात-चीत भी कर लिया करता। क़ानून की रू से यह तनहाई न थी। लेकिन वह उससे मिलती-जुलती थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। खुश-क़िस्मती से इन दिनों मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी जो मुझे बाहर से भेजे हुए ताज़े फूल लेने की और कुछ फ़ोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातों से मुझे काफ़ी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर क़ैदियों को फूल या

फ़ोटो रखने की इजाजत नही है। कई मौकों पर मुझे वे फूल नहीं दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियों को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थीं। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पड़ौस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कंघे वग़ैरा चीज़ों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने ऐतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासिता-पूर्ण' नहीं बना सकते। विलासता की ये चीज़ें थी—दाँतों का एक ब्रश, दाँतों का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की बोतल, एक ब्रश और कंघी, और शायद एक या दो छोटी-छोटी चीज़ें और।

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीज़ों की कीमत को समझने लगे थे। वहाँ तो हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीज़े ही मगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीज़ों को बटोर कर रखते थे जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास मिलकियत रखने को कोई चीज नही होती तब भी तो जायदाद और मिलकियत का खयाल हमारा पीछा नही छोड़ता!

कभी-कभी जिन्दगी की मुलायम चीज़ों के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अड़ौस-पड़ौस, दोस्तो के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा ज़ोर पकड जाती थी। किसी अखबार में किसी तस्वीर या फ़ोटो को देखकर पुराना ज़माना सदेह सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें जब जवानी में किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक़्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता!

मैं हर रोज़ थोड़ा-बहुत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढ़ना ही था। मैं जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पाती थी, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थीं। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पेंगलर की Decline of the West नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम होता था। लेकिन मुझे इस सिलसिले में किसी क़िस्म की शिकायत नही करनी चाहिए। क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी क़िस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योंकि मेरे बहुत से साथियों को, जो ए०

क्लास में रक्खे गये थे, प्रचलित विषयों पर किताबें मँगाने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल में तो सरकार का श्वेत-पत्र (White Paper) भी नहीं दिया गया, जिसमें खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी तजवीजें थी, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातें थीं। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तकों और उपन्यासों की तहेदिल से सिफ़ारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर क़िस्म के मजहब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ाती है!

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतंत्रता भी छीन ली गई हो तब क़ैदियों के हकों की बात करना बिलकुल बे-मौजूँ मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह हैं कि उसके शरीर ही नहीं उसका मन भी जेल में ठूस दिया जाय? चाहे कैदियों के शरीर भले ही आज़ाद न रहें पर क्या वजह है कि उनका दिमाग आजाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलों का इन्तजाम जिन लोगों के हाथ मे है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेंगे, क्योंकि नये खयालातों को हासिल करने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति मामूली तौर पर महदूद हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपात-पूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढ़े हुए पत्र-पत्रिकाओं मे हमें वंचित रखता है। ज़ब्त की हुई किताबों की फेहरिस्त बहुत बड़ी है और वह दिन-पर-दिन बढती ही जा रही है। इस सबके अलावा क़ैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबे तथा अखबार भी नहीं पहुँच पाते जिन्हें वह क़ानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह सवाल संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले मे उठा था। वहाँ कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग मे कम्यूनिस्टों के खिलाफ़ बहुत ज़ोर के भाव है, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की जेल के अधिकारी इस बात के लिए राजी हो गये कि जेल के बाशिन्दे जिस किताब व अख़बार को चाहें मंगाकर पढ़ सकते हैं, फिर चाहे ये अख़बार व पत्रिकायें कम्यूनिस्ट मत की ही क्यों न हों? वहाँकी जेल के वार्डन ने सिर्फ कार्टूनों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में दिमागी आजादी पर ग़ौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर क़ैदियों को कोई भी

अखबार या लिखने का सामान नहीं दिया जाता। यहाँ तो सवाल सेन्सरशिप या देख-भाल का नहीं है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। क़ायदों के मुताबिक़ तो सिर्फ़ ए० क्लास के और बंगाल में अव्वल डिवीज़न के क़ैदियों को ही लिखने का सामान दिया जाता है। इनमें से भी सबको रोज़ाना अखबार नहीं दिया जाता। जो रोज़ाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। बी० और सी० क्लास के कैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या ग़ैर-राजनैतिक। बी० क्लासवालों को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत के तौर पर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। ग़ालिबन दूसरे कैदियों के मुक़ाबिले में ए० क्लास के कैदियों की तादाद हज़ार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान में कैदियों की तकलीफ़ों पर ग़ौर करते हुए उनका ख़याल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नहीं। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन खास रिआयतवाले ए० क्लास के कैदियों को भी किताबों और अखबारों के मामले में उतने हक नहीं हासिल है जितने कि ज्यादातर सभ्य देशों में मामूली कैदियों को हासिल हैं।

बाकी लोगों को—एक हजार में ९९९ को—एक वक्त में दो या तीन किताबें ही दी जाती हैं, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसका नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हें हरगिज न करना चाहिए। दिमाग़ी तरक्क़ी का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी क़ैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के ख़याल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ़ लगाना उचित है। पढ़ा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमों को यह बात सूझी ही नहीं। और युक्तप्रान्त में तो उसका खास तौर पर अभाव ही दिखाई देता है। हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानों को थोड़ा लिखना-पढ़ना सिखाने की कुछ कोशिशें की गई हैं। लेकिन वे बिलकुल बेकार है और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि क़ैदी लोग लिखना-पढ़ना पसन्द नहीं करते। लेकिन मेरा अपना तजुर्बा इसके बिलकुल खिलाफ़ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढ़ने की गरज से आते थे उनमें मैंने पढ़ने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो क़ैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढ़ाते थे। वे लोग बड़ी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जग पड़ता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने सबक़ को याद कर रहे हैं।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक क़िस्म की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे क़िस्म की। लेकिन आम तौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग़ में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नही पढ़े। जब-कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता, तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सज़ा के दो सालों में तो मै उस ऐतिहासिक पत्रमाला के लिखने में लगा रहा, जो मैंने अपनी लड़की के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग़ को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मै उस पुराने ज़माने में रहने लगा, जिसकी बाबत मे लिख रहा था और इसलिए इन दिनों क़रीब-क़रीब यह भूल-सा गया कि मै जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मै हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियो के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनसांग, मार्को पोलो और इब्न बतूता वग़ैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओ का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडिन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफ़र किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं उनका वर्णन। चित्रो की पुस्तके भी—खासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें भी अच्छी लगती थी, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लेंक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोवाली पुस्तके थी और अक्सर मै उन्हे देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गर्मी एकसौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मै हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी—उन जगहों की याद जहां हम हो आये है और उन जगहों की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन मे यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों में जिन जगहों को हम देख आये है उन्हे फिर देखे। एटलस में बड़े-बड़े शहरों को बतानेवाले जितने निशान है वे मानों हमको बुला रहे हो और हमें वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ों को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हों को देखकर भी उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के संघर्षों और संग्रामो को देखने की, और खुद भी इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करती और हमारा पल्ला पकड़ लेती और हम बड़े दुःख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थीं, और जो नीरस ढर्रा हमें रोजमर्रा पूरा करना पड़ता था उसमें जुत जाते।

४५

जेल में पशु-पक्षी

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूं। उसके जर्रे-जर्रे से मैं वाक़िफ़ हो गया। उसकी सफेद दीवारों पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फ़र्श, हरेक खरोंच और दबोंच को और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों को मैं जान गया था। बाहर के छोटे-से आंगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मुझे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी मे अकेला था सो बात नही। क्योंकि वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के उपनिवेश थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती। यदि विचार और भावना भौतिक चीजों पर अपने चिन्ह छोड़ सकती है, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस सैकड़ो जगह मे जो-जो भी चीजे थी उन सबपर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलो में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रक्खे गये थे। लेकिन थी वह अहाते में ही। यह जगह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने को कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतो और कुछ दूर की आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विषेश लाभ खास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक ए० क्लास के कैदी को मिलता था। इसी तरह, जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वतश्रेणियों और बाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन क़ैदी या दूसरे लोग रक्खे जाते थे उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाजत थी।

वही क़ैदी, जो लंबे अर्से तक इन ऊंची दीवारों के अन्दर क़ैद रहे हों, इन बाहर सैर करने और खुले दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते

हैं। मै इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़ रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि ज़ोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी हर्ष-वर्द्धक था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशक़िस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाक़ात नही की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मैं इस गिरि-राज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान आता था और वह हमेशा नज़दीक मालूम होता था और जान पड़ता था मानों अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

> पक्षि-पुंज ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गये हैं कितनी दूर !
> जलद-खँड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन;
> एकाकी मैं, सन्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शान्त—
> मैं उसको, वह मुझे, देखते दोनो ही हम थके कभी न।[१]

मैं समझता हूँ कि कवि ली ताई पो की तरह मैं यह नही कह सकता कि मै इस नगाधिराज से कभी नही थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था; और आम तौर पर तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढ़ता और स्थिरता मानों लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती है और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती है।

देहरादून में वसन्त-ऋतु बड़ी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों का पतझड़ कर दिया है और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये हे। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ हैं, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-क़रीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये हैं और खंखड़ और उदास बनकर वे वहाँ खड़े हे। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उसकी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

> "Flocks of birds have flown high and away;
> A solitary drift of cloud, too, has gone, wandering on.
> And I sit alone with Ching-ting Peak, towering beyond.
> We never grow tired of each-other, the mountain and I."

जीवनमय बयार उन्हें उत्साहित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक ज़र्रे को जीवन का संदेश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हल-चल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखाई पड़ता है, जैसे कोई परदे के अंदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मै तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंखुओं और कोंपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बड़ा ही हर्ष-पूर्ण और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेज़ी के साथ लाखों पत्ते उमड़ आते, सूर्य की किरणों में चमकते और हवा के साथ अठखेलियां करते। एक अंखुए से लेकर पत्तेतक यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्य-जनक !

मैने इससे पहले कभी नही देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुँवा रँग के होते हैं, ठीक वैसे कि जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद् ऋतु मे हलके रँग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रँग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानों इन्द्र महाराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बारिश शुरू होते ही पांच-छः हफ्तो तक ऐसी झडी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता है और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछारो से अपनेको बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़कर कुप्पा बने बैठे रहना अच्छा नही लगता।

हाँ, शरद्ऋतु मे फिर आनन्द आने लगता है और इसी तरह जाड़ों में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ बारिश हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठंडी हवा आ रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतो पर से गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानों दनादन तोपें छूट रही हो।

एक दिन मुझे खास तौर पर याद है। वह २४ दिसंबर १९३२ का दिन था। बड़ी ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिनभर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े है। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ों पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है

तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गई । दूसरा दिन क्रिसमस-डे था, बहुत साफ और सुन्दर । और बरफ का जामा पहने पर्वत-श्रेणियां बहुत ही मनोहर दिखाई देती थीं ।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के अवलोकन की ओर ज्यादा गया । जो-जो जानवर या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम गौर से देखने लगे । ज्यों-ज्यों मैं ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यों-त्यों मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं । मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमडा पड़ता है । ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले पशु-पक्षी मेरे काम में जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पडी थी कि मैं उनके जीवन मे खलल पहुँचाता ? लेकिन हाँ, खटमलो, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियो से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बरों को तो मैं सह लेता था । मेरी कोठरी मे वे हजारों की तादाद में थे । हाँ, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था । मैंने गुस्से मे आकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया । छत्तों मे शायद इनके अंडे थे । आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़े तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा । कोई एक साल तक उसके बाद मैं उसी कोठरी में उन बरों और ततैयो के बीच रहा । मगर उन्होने फिर कभी मुझपर हमला नही किया और हम दोनो एक-दूसरे का लिहाज रखने रहे।

हाँ, चमगादड़ों को मैं पसद नही करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था । वे शाम के अधेरे में चुपचाप उड़ती और आसमान की अधेरी नीलिमा में उड़ती दिखाई पड़ती । वे बड़े मनहूस जीव थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा लगता था । वे मेरे चहरे के एक इंच दूरी से उड़ जाती और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें । ऊपर आकाश में दूर बड़ी-बड़ी चमगादड़ें उड़ा करती थी ।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घण्टों देखता रहता था । छिपकलियों को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम को एक अजीब हँसी आने लायक ढँग से हिलती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं । मामूली तौर पर वे

ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और अहतियात से मुँह की तरफ से उसको चुपके से झपटकर पकड़ा। मै नही कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक इत्तिफ़ाक था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास में पेड़ हों तो, झुण्ड के झुण्ड गिलहरियाँ होती थीं। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ-जेल में मैं बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढ़ा करता था। एक गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखा करती। फिर वह मेरी आँखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नही हूँ। एक लहमे के लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मा उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर महफ़ूज़ जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर में ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा को छोड़कर और सब जेलों में जहाँ-जहाँ मै गया कबूतर खूब थे—हजारो की तादाद में, और शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हा, मैनायें भी थी। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोसला बनाया था। मै उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थी और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जातीं और ज़ोर से ची-ची करके खाना माँगती। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखे और सुने ही बनती थी।

नैनी में हजारो तोते थे। उनमे से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणयोपासना और प्रणयो-लीला देखने के लायक होती थी। वह देखनेवाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतो में एक तोती के लिए बड़े ज़ोर की लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तजार करती और विजेता पर अपनी प्रणय-वृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके गाने और ज़ोर-ज़ोर से चिचियाने, चहचहाने और टें-टें करने की तो एक अजीब क़वायद होती थी। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश मे और उसके ठीक पहले

पपीहा आता । सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दंग रह जाना पड़ता था । चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे बारिश, उसकी रटन नहीं टूटती थी । इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी; क्योंकि हमारे छोटे से आँगन में कोई पेड़ नही था लेकिन उक़ाब और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊँची उड़ती और उन्हें मै देख सकता था । वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आते और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जाते । कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे । बरेली-जेल में बंदरों की आबादी खासी थी । उनकी कूद-फाद, मुह बनाना वग़ैरा हरकतें देखने लायक होती थी । एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है । एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया । वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नही सकता था । वार्डर, कुछ नंबरदारों और दूसरे कैदियो ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाध दी । दीवार पर से उसके (मै समझता हूँ) मां-बाप ने यह देखा और वे ग़ुस्से से लाल हो गये । अचानक उनमें से एक बडा बंदर नीचे कूदा और सीधा भीड़ मे उस जगह गिरा जहां कि वह बच्चा था । निस्संदेह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योकि वार्डर वग़ैरा सबके पास डंडे और लाठिया थी । वे उन्हे चारो तरफ घुमा भी रहे थे और वे काफी तादाद में थे । लेकिन बेधड़क साहस की फतह हुई और मनुष्यो की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली । उनके डडे और लाठियाँ वही पडी रह गई । बच्चा उनसे छुड़ा लिया गया ।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे । बिच्छू हमारी कोठरियों मे बहुत आँया-जाया करते थे । खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती । ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नही काटा । क्योकि वे अक्सर बेढ़ब जगह मिल जाया करते थे । मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उसपर भी । मैंने एक खास तौर पर काले और ज़हरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियाँ वग़ैरा उसको खिलाया करता था । फिर मैने उसे एक रस्सी से बांधकर दीवार पर लटका दिया । लेकिन वह किसी तरह भाग निकला । मुझे यह ख्वाहिश नही थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय । इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूँढा । मगर कुछ पता न चला ।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी में या उसके पास निकले थे । एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारो में बड़ी-बड़ी सुर्खी लगाकर छापी गई । मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था । जेल-जीवन योंही काफ़ी रूखा

और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसके एकसाँ-पन को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपनेको बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डर-कर भागता ही हूँ। हाँ, कानखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर अपने-आप उसे देखकर नफ़रत होती है। अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कानखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे ज़ोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयँ-स्फूर्त क्रियायें क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा, या यों कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए नया था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमडी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जिन्दा था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल बना लिया था और लानेवाला उसे एक बाँस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने ज़ोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेंगे। वह जंगली आदमी था। बाद को एफ० डबल्यू० चेपियन की 'दी जंगल इन सनलाइट एण्ड शेडो' पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई खुराक नहीं मिलती। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज नहीं करते। आम तौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, तरग़ीब दी जाती है। एक छोटी पुसिया ने मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफ़सर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता

रहा। हालांकि जेल में कुत्तो की इजाजत नही है, लेकिन देहरादून में इत्तिफ़ाक़ से कुत्तों के साथ मेरा नाता हो गया था। जेल-अफ़सर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वहीं छोड़ गये। बेचारी बेघर होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलो और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मै उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मै उन्हें खाना देता रहा। इनमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी, जिससे मुझे बड़ी तकलीफ रही। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की बनिस्बत जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक़ रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आम तौर पर घर में जानवर नही पालते। यह ध्यान देने लायक़ बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हे। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्त्ताव नहीं होता। मानो पूज्यभाव और दयाभाव दोनो का साथ नहीं हो सकता।

जुदा-जुदा देशवालो ने अपनी महत्त्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य के लिए जुदा-जुदा पशु-पक्षियों को अपना प्रतीक बनाया है। उक़ाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ़्रास का और भालू पुराने रूस का प्रतीक हे। सवाल यह है कि ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ़ ले जायँगे? इनमे से ज्यादातर तो हमलाई और लड़ाका जानवर हैं और शिकारी पशु हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन निर्माण करते है वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाले हैं, हमलाई रुख अख्त्यार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

४६

संघर्ष

बाहर लड़ाई चलती रही, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्तमान में या निकट-भविष्य में सफलता पाना उनकी क़िस्मत में नहीं है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाबिला करते रहे। निरन्तर तथा अधिक-अधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमें कोई धोखा-धड़ी नहीं थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ तसल्ली की बात थी। संगीनें कामयाब हुईं, लेकिन एक बड़े योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनों से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके ऊपर (आधार पर) बैठ नहीं सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओं को बेचें और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करें। जेल में हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य की सेवा ही कर रहे हैं और बाहर रहनेवाले कई लोगों से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे हैं। तो क्या हमें, अपनी कमज़ोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताक़त और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर गये; मगर इन बाधाओं के होते हुए भी कार्य आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो नाकामयाबी नहीं हो सकती थी। असली नाकामयाबी तो है अपने उसूलों को छोड़ देना, अपने हक़ से इन्कार कर देना, और बेइज्ज़ती के साथ बे-इन्साफ़ी के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए ज़ख्म दुश्मन के लगाये हुए ज़ख्मों से ज्यादा देर में अच्छे होते हैं।

कभी-कभी अपनी कमज़ोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी उसीपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर जमाने में हम भी शामिल है, इस ख़याल से जी को भला मालूम होता था।

सविनय भंग के उन बरसों में कांग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई, एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह ज़ाहिर था, कि ग़ैरकानूनी संस्था

मामूली ढँग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, जबरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत लोग गिरफ्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन ग़ैरक़ानूनी मजमों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सो से हजारों की तादाद में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दोनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माताजी ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में मालवीयजी और दूसरे लोगो के साथ गिरफ्तार कर ली गई और आसनसोल में कुछ दिनो तक जेल में बन्द रक्खी गई। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलाई उसे देखकर मै दंग रह गया, क्योंकि वह कमजोर और बीमार थी। वह जेल की परवा नही करती थी, वह तो उससे भी ज्यादा कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुजर चुकी थी। उनका लड़का, उनकी दोनों लड़कियाँ, और दूसरे भी कई लोग जिन्हे वह बहुत चाहती थी, जेल मे लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर, जिसमें वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी। जैसे-जैसे हमारी लड़ाई मन्दी पड़ने लगी, और उसकी चालू रफ्तार हलकी हो गई, वैसे-वैसे उसमे जोश और उत्साह की कमी आती गई—हाँ, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्को की तरफ ज्यादा जाने लगे, और जेल में जितना भी मुमकिन था, मै विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। मुझे इस विषय की जितनी भी किताबें मिली उन्हे मै पढ़ता गया, और मै जितना-जितना पढ़ता जाता था उतना-उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि, हिन्दुस्तान तो अपनी खास समस्याओ और संघर्षो को रखते हुए भी इस जबरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का जो कि आज सब राष्ट्रो के अन्दर और सब राष्ट्रों के आपस में हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। इस लड़ाई मे मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म की तरफ़ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ़ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसन्द भी है—जैसे सब तरह की विरोधी राय का बेदर्दी से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल मे लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना। मगर पूँजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नही

है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह महसूस होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी मिल्कियत का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बग़ैर वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने के भी वास्तव में कुछ मानी नहीं हैं।

दोनों व्यवस्थाओं में बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर आधारित और जनता को असली आज़ादी देनेवाली नई व्यवस्था क़ायम हो जाय। सोविएट रूस ने कितनी भी भयंकर भूले की हों, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयो पर फतह पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ़ लम्बी-लम्बी डग रखता हुआ बहुत आगे बढ़ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकडे हुए है, कई तरह से पीछे को तरफ जा रहे है, तब सोविएट देश में, हमारी आंखो के सामने, एक नई ही दुनिया तामीर हो रही है। महान् लेनिन के पदचिन्हो पर चलकर रूस भविष्य की तरफ़ निगाह रखता है, और केवल इसी बात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पड़े है, और गुजरे हुए युग के अनुपयोगी स्मारकों को बचाने में ही अपनी ताक़त लगा रहे है। अपने अध्ययन मे मुझपर उन विवरणों का बड़ा असर पड़ा, जिनमें सोविएट शासन के पिछड़े हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों की बड़ी भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह रूस के हक़ में ही रही; और मुझे सोविएट-तन्त्रों की मौजूदगी और मिसाल, अंधेरी और दुःखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह-दायी चीज मालूम हुई।

हालांकि कम्यूनिस्ट राज्य क़ायम करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में सोविएट रूस की कामयाबी या नाकामयाबी का बहुत बड़ा महत्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नहीं पडता। राष्ट्रीय या अन्तर-राष्ट्रीय कारणों से बोलशेविक लोग बड़ी-बडी गलतियाँ कर सकते है, या असफल भी हो सकते हैं, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है, उसकी अन्धे की तरह नक़ल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योंकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी ख़ास परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की सीमा पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविकों की कामयाबियों से और अनिवार्य ग़लतियों से भी सबक़

ले सकता है। शायद बोलशेविकों ने जरूरत से ज्यादा तेज रफ्तार से जाने की कोशिश की, क्योंकि उनके चारों तरफ़ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी हमले का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो देहात में हुई बहुत-सी तकलीफ़ें बच सकती थीं। लेकिन यह सवाल उठता था, कि क्या परिवर्तन की रफ्तार कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नहीं! किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत ढांचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधार-वाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला क़दम तो ऐसा उठना चाहिए जिससे कि मौजूदा व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई वास्ता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश के हर बड़े सवाल का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में मि० लायड जार्ज कहते हैं—"किसी खाई को दो छलांगों में कूदने से बढ़कर कोई ग़लती नहीं हो सकती।"

रूस के अलावा भी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग़ को कई विषयों में प्रकाश दिया। मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। हालांकि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफें रही हैं और हैं, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही खतरे आते रहें। मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में मान्य कम्यूनिज्म में बहुत-से रूढ़-मत हैं, और अक्सर 'काफिरों' यानी मिथ्या-मत-वादियों पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह खेदजनक मालूम हुआ, हालांकि सोविएट प्रदेशों में भारी-भारी तबदीलियां बड़ी तेजी से हो रही हों और विरोधी लोगों के कारण से बड़ी मुसीबतों और नाकामयाबी के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थायें और सिद्धान्त सिर्फ़ अपनी अटकल लगा

रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ संतोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रक्खा।

जैसे-जैसे मुझमें यह विश्वास जमता गया, वैसे वैसे मैं नये उत्साह से परिपूर्ण होता गया, और सविनय भंग की असफलता की मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेजी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ़ नहीं जा रही है? हाँ, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े खतरे मौजूद हैं, लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ़ रहे हैं। हम एक ही जगह में पड़े हुए सड़ नहीं रहे। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बड़े सफ़र के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लड़ाइयों के लिए तैयार हो रहे हैं और उन विचारो पर गौर करने के लिए मजबूर हो रहे है जिनसे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमज़ोर लोगों के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मजबूत, ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायँगे। ज़माना हमारे पक्ष में है।

इस तरह मैंने, रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ़ांस, इटली, और मध्य-यूरोप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओ की गुत्थियों को समझने की कोशिश की। इस मुसीबत को पार करने के लिए हर-एक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे हैं, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढ़ा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने और निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ़्रेन्सों की बारबार नाकामयाबी से मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की—जोकि छोटी-सी लेकिन काफ़ी तकलीफ़-देह है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नहीं कर सके हैं; और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओ को सुलझाने में विफल होंगे तो एक संसार-व्यापी आपत्ति आ जायगी, वे उन्हें हल नही कर पाये हैं। दोनों उदाहरणों में समस्या को हल करने का तरीका ग़लत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे है।

संसार की मुसीबतों और संघर्षों का विचार करते हुए, मै किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बड़ी खुशी होती थी कि संसार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग में मैं भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने में, जहाँ मैं हूँ, मुझे भी उन आनेवाली तबदीलियों के लाने में कुछ थोड़ा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया में

संघर्ष और बल-प्रयोग का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी खराब यह दृश्य था कि पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और ग़ुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये है कि उनके दिमाग़ अब कष्ट-सहन, ग़रीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नही करते। दम घोंटनेवाले इस नैतिक वातावरण में शोरगुल मचानेवाला ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे हैं। हिटलर की विजय और उसके बादके 'भूरे आतंक-वाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुँचाया, हालांकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब चन्दरोज़ा ही हो सकता है। यह देखकर मन में ऐसी-सी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशें बेकार है। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहियें का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नही कर पाये है, और हमारे दिमाग़ों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी कूद पड़ें, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में ले, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो? संसार की घटनायें और हिन्दुस्तान के भी वाक़यात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे है, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आज़ादी उससे अलहदा नहीं रक्खी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आज़ादी के मुक़ाबिले में सामाजिक प्रतिगामी वर्ग खड़े हो गये हैं। यह लाज़िमी ही था, और हिन्दुस्तान में मुख़्तलिफ वर्गों और समुदायो के ज्यादा साफ़ तौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मैं सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते है? जाहिर है कि बहुत लोग नही। यह सही है कि कई बड़े शहरों मे मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग है, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी है और उसकी सख़्त नुक्ताचीनी करते हैं। ख़ासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संगठित मज़दूर भी समाजवादी हैं, मगर ढीले-ढाले ढंग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई है, और वे मन्दी से दुःख पा रहे है। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुंधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफ़सरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैज़िनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्यूनिज्म और रूस पर साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र-केस

ने लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसार-व्यापी संकट-काल ने इस तरफ़ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई स्पिरिट दिखाई देती है। मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ़ जाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका-सा झोंका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नहीं है। कुछ लोग फ़ासिस्ट विचारों के आसपास मँडराते हैं। लेकिन कोई भी साफ़ और निश्चित आदर्श नहीं है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहांकी प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ मालूम हुआ, कि जबतक किसी हद तक राजनैतिक आजादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरक-भावना रहेगी। इसी कारण कांग्रेस हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा ताकतवर संस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मजदूर दायरों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों मे, गांधीजी के नेतृत्व में, इसने जनता में आश्चर्यजनक जागृति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता खतम नहीं हुई है, और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाज-वादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कांग्रेस के द्वारा ही होगी, हालांकि दूसरे रास्तो मे भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कांग्रेस को छोड़ देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे ज़बरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक बेकार के साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कांग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायँगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्यायें ज्यादा साफ़ हो जायें, और कांग्रेस में एक दृढ़-संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाय।

लेकिन इस वक़्त तो कांग्रेस के मानी है गांधीजी। वह क्या करना चाहेंगे? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे है, लेकिन फिर भी काम और व्यवहार के खयाल से वह हिन्दुस्तान में इस वक्त के सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी रहे हैं। वह एक अनोखे व्यक्ति हैं, और उन्हें मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है। लेकिन चूँकि

वह तह में क्रान्तिकारी हैं और हिन्दुस्तान के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नहीं जाती तबतक तो वह इसमें अटल रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड-कार्य शक्ति को जगा देंगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ़ एक-एक कदम आगे बढ़ते चलेंगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसो से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं, और उन्होंने कांग्रेस-नेताओं पर सब तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये हैं। कांग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी, और बाद की घटनाओं से वह किसी हदतक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे मे कम्यूनिस्टों के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वह आम उसूलों को छोड़कर तफ़सीलों में आते हैं, और खासकर जब वह देश में कांग्रेस के महत्व पर विचार करते हैं, तो वे बुरी तरह भटक जाते हैं। हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टों की तादाद और असर कम होने का एक सबब यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगों के दिमाग़ों में उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बजाय उन्होंने दूसरों को गालियाँ देने में ही ज्यादातर अपनी ताक़त लगाई है। इसका उन्हीं-पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुक़सान पहुँचा है। इनमें से ज्यादातर लोग मजदूरों के हलकों में काम करने के आदी हैं, जहाँ कि मजदूरों को अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए सिर्फ़ थोड़े-से नारे ही काफ़ी होते हैं। लेकिन पढ़े-लिखे लोगों के लिए तो सिर्फ नारे ही काफ़ी नहीं हो सकते और उन्होंने इस बात को महसूस नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी शक्ति है। कट्टर कम्यूनिस्टों के प्रायः कोशिश न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ़ खिंच आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्यूनिस्टों की राय के मुताबिक़, कांग्रेस के नेताओं का लक्ष्य रहा है, सरकार पर आम लोगों का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूँजीवादियों और जमींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधायें हासिल कर लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निचले मध्यम-वर्ग और कारखानों के मजदूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असंतोष को बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालकों और लखपतियों की गाड़ी के सामने खड़ा कर देना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूँजीपति टट्टी की ओट में छिपे हुए कांग्रेस-कार्य-समिति को हुकम

देते है कि पहले तो वह आम तहरीक शुरू करे, और जब वह बहुत व्यापक और भयंकर हो जाय तब उसे मुल्तवी करदे, या किसी छोटी-मोटी बात पर खत्म करदे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजों का चला जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी ज़रूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने मे यह काम करने की क़ाबलियत नहीं मानता।

यह ताज्जुब की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर यक़ीन रखते है। लेकिन चूंकि ज़ाहिरा उनका विश्वास इसीपर है इसीलिए, आश्चर्य नही कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी ग़लती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरों के पैमानों से नापते हैं, और चूंकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मज़दूर-नेता मजदूर-आन्दोलन के साथ ग़द्दारी करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते है। हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन, ज़ाहिरा ही, कोई मजदूरों या श्रमिकों का आन्दोलन नही है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, वह एक मध्यम-वर्गी आन्दोलन है और अभीतक उसका मकसद समाज-व्यवस्था को बदलना नही बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह मक़सद काफ़ी बड़ा नहीं है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के ज़माने में पिछड़ा हुआ वाद कहला सकता है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी निज़ाम को उलट देने की कोशिश ही नही करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वास-घात करते है, क्योंकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नही किया। हां, कांग्रेस में कुछ लोग ऐसे जरूर हैं, और उनकी तादाद बढ़ती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूंजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते है, लेकिन वे कांग्रेस के नाम पर नहीं बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूजीवादी वर्गों ने (बड़े-बड़े जमींदारो या ताल्लुके-दारों ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढ़ावे के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बड़ा फ़ायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाज़िमी ही था; क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धंधों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल में, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय भंग के चालू रहने के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक नावाजिब तरीके से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दुःसाहस कर डाला था। कांग्रेस की निगाह में यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। असेम्बली में बम्बई के मिल-मालिकों के नुमाइन्दों ने,

जबकि हममें से ज्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और 'अति-वादी' यानी गरम दल के लोगों की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसों में कई पूंजीपति-दलों ने हिन्दुस्तान मे जो-जो काम किये हैं वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप है। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धंधों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूंजी और कारखानों की ज्यादा अधीनता मे आ गये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हज़ार लोग जेलों में थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी सख्त-से-सख्त शर्तें मनवा लीं, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानों उसमे अपनेको क़रीब-क़रीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनियों ने हिन्दुस्तान को नुक़सान में डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है।

और बड़े-बड़े ज़मीदार और ताल्लुक़ेदार तो गोलमेज़-कान्फ़ेन्स में कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ़ ही खड़े हो गये थे, और ठीक सविनय भंग के दर्म्यान उन्होने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार की तरफ़ घोषित कर दिया था। इन्ही लोगो की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे उन दमनकारी कानूनों को पास किया, जिनका समावेश आर्डिनेन्सों में हो जाता था। और युक्तप्रान्त की कौंसिल में ज्यादातर ज़मीदार मेम्बरों ने सविनय भंग के क़ैदियों की रिहाई के खिलाफ़ राय दी थी।

यह खयाल भी बिलकुल ग़लत है कि, गांधीजी ने १९२१ और १९३० में तेज़ दीखनेवाले आन्दोलन मजबूरन जनता का ज़ोर पड़ने से ही चालू किये थे। बेशक, आम जनता में हलचल थी, लेकिन दोनों आन्दोलनों में कदम गांधीजी ने ही आगे बढ़ाया था। १९२१ में वह क़रीब-क़रीब अकेले ही सारी कांग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के रास्ते चढ़ा ले गये थे। १९३० में भी अगर उन्होंने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी तेज़ और परिणामकारी सीधी लड़ाई का आन्दोलन हरगिज़ न उठ सकता था।

यह बड़ी बदक़िस्मती की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालों से दूसरी तरफ़ हट जाता है। गांधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुकसान होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त-रूप हैं, और उन्हें जो कोई पहचानते हैं वे जानते हैं कि वह हमेशा सही काम करने के लिए कितने व्याकुल रहते हैं।

हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टों का ताल्लुक बड़े शहरों के कारखानों के मजदूरों के साथ ही रहा है। देहाती हलकों की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। हालाकि कारखानों के मजदूरों का भी एक महत्व है, और भविष्य में और भी उनका ज्यादा महत्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानों की समस्या ही मुख्य है। इधर कांग्रेस-कार्यकर्त्ता इन देहाती हलकों में सब दूर फैल चुके है, और समय पर अपने-आप कांग्रेस किसानों का एक बड़ा सगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नही रहते और यह मुमकिन है कि भविष्य में किसी वक्त शहर बनाम देहात और कारखानों के मजदूर बनाम किसान की सामान्य समस्या हिन्दुस्तान में भी खड़ी हो जाय।

मुझे कांग्रेस के बहुत-से नेताओ और कार्यकर्त्ताओ के गहरे सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषो की मैं ख्वाहिश भी नही कर सकता था। लेकिन फिर भी जरूरी सवालों मे मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर उकता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ़-सी दिखाई देती है उसकी वे कद्र भी नही कर सकते या उसे समझ भी नही सकते। इसका सबब अक्ल की कमी नही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारो की अलग अलग पगडंडियो पर चल रहे है। मैंने महसूस किया कि इन सीमाओ को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इनमे जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है, और वह हमें धीरे-धीरे और अनजान में प्रभावित करता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना फ़जूल है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक खास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की जरूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियो के अज्ञात प्रभाव पर आधारित हैं। जीवन की कठिनाइयों और उसके कड़वे अनुभव ही हमें नये रास्तो से चलने को मजबूर करते है, और अन्त मे, जोकि इससे बहुत ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते है। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े सहायक हो सके और शायद—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी मार्ग से पहुँच जाता है जिसपर वह उससे बचने के लिए चलता है।"[१]

१. ला फोंतेन के निम्नलिखित फ्रेञ्च उद्धरण का यह अनुवाद है:—

:"On rencontre sa destine'e.

Souvent par les chemins q'on prend pour l'e'viter."

४७

मजहब क्या है ?

सितम्बर १९३२ के मध्य में एक अचानक और बड़ी चिन्ताजनक घटना से जेल के हमारे शान्तिपूर्ण और एक-ढर्रे के जीवन में खलबली मच गई। खबर आई कि मि० रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में दलित जातियों को जुदागाना चुनाव दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगों को अचानक आघात देने की उनमें कितनी क्षमता है ? सहसा सभी तरह के खयाल मेरे दिमाग़ में आने लगे; सब तरह की होनहार और सम्भावनायें मेरे सामने आने लगीं, और उन्होंने मेरे चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के काम के कुछ नतीजों का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना काफी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूंगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। आख़िरी दफ़ा क़रीब एक साल से कुछ ज्यादा पहले मैंने उन्हें इंग्लैण्ड जाते वक्त जहाज़ पर देखा था। क्या अब मैं उन्हें न देख सकूंगा ?

और फिर मुझे उनपर झुझलाहट भी आई कि उन्होंने अपनी आख़िरी क़ुरबानी के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ़ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आज़ादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोड़े वक्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नहीं पड़ जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायँगे, और दलित जातियों के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो हासिल कर ही लिया गया है, और थोड़े वक्त तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम के यह मानी नहीं हैं कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ को किसी हद तक मंज़ूर करते है ? क्या यह असहयोग और सविनय भंग से सुसंगत है ? इतने बलिदान और साहस-पूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस मामूली प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

उनके राजनैतिक सवाल को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण से देखने और उसके मुताबिक़ बारबार ईश्वर का नाम लेने से मुझे उनपर ग़ुस्सा भी आया।

उनके कहने से तो ऐसा मालूम पड़ता था कि शायद ईश्वर ने उन्हे अनशन की तारीख तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना खतरनाक होगा !

और अगर बापू मर गये ! तो, हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? मुझे भविष्य सूना और उदास दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह में लगातार विचारो ही विचारों में डूबता रहा। मेरे दिमाग़ में गड़बड़ी मच गई, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नही सूझता था कि मैं क्या करूँ, और सबसे ज्यादा अपने-आपके प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद-मिज़ाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब बात हुई। मुझपर भावनाओं का ऐसा दौर शुरू हुआ कि एक संकट-काल ही आ उपस्थित हुआ, पर अन्त मे जाकर मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नही दिया। बापू में ऐन मौक़े पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ थी, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल असमर्थनीय था—कोई बड़े नतीजे हो, और वह केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र मे नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गये, तो भी हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए तैयार और मुस्तैद रहना चाहिए। अपने दिमाग़ को गांधीजी की मृत्यु तक बरदाश्त करने के लिए बिना हिचकिचाहट के तैयार करके मैंने शान्ति और धैर्य धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश मे एक भयंकर उथल-पुथल मचने, हिन्दू-समाज में उत्साह की एक जादूभरी लहर आ जाने की खबरें आईं, और मालूम होने लगा कि अस्पृश्यता का अब खात्मा ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है, और लोगों के दिलों में खलबली मचा देनेवाली डोर हिलाना वह कितनी अच्छी तरह जानता है !

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही सदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका यह तार मिलने से मुझे लाभ ही हुआ। इस तार में उन्होंने लिखा :—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज़्यादा उत्सुक हूँ। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय

की कितनी क़द्र करता हूँ। मैंने इन्दु (और) सरूप के बच्चों को देखा। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहन के बच्चों के आने का ज़िक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगड़ी हो गई है। उस वक़्त मेरी बहन भी पूना की जेल म थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नहीं भूलते, जिनका वास्तव मे बड़ा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के सवाल पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने महरबानी करके मुझे गांधीजी को जवाब भेजने की इजाज़त दे दी, और मैंने उन्हें यह तार भेजा :—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई, पर आखिरमें आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। पद-दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर मुझे यह खतरा मालूम होता है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरे सवालात ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ। यह भी खतरा है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूँ? स्नेह।"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तखत किये, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके मुताबिक़ अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया, और अनशन तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इकरारनामों को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम में लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गांधीजी की प्रवृत्तियों की खबरें हमे मिलती रहती थीं। लेकिन उनसे मुझे खुशी नहीं होती थी। इसमें शक नहीं कि अछूतपन को मिटाने और दुःखी दलित जातियों को उठाने के आन्दोलन को उससे बड़े गजब का

कुमारी इन्दिरा नेहरू

बढ़ावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देशभर में जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी साफ़ ज़ाहिर था कि इससे सविनय भंग को नुक़सान पहुँचा। देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और कांग्रेस के कई कार्यकर्ता हरिजन-कार्य में लग गये। शायद उनमें से ज्यादातर लोग कम खतरे के कामों में लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज्यादा, लाठी खाने और सम्पत्ति ज़ब्त कराने का डर न हो। यह कुदरती ही था, और हमारे हजारों कार्यकर्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह गहरे कष्ट-सहन और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे ह्रास होना देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय भंग तो चलता ही रहा, और मौक़े-मौक़े पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवडा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के मुताबिक़ हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गई थीं। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने की तीक्ष्णता कम हो गई थी। इन सब बातों से मुझे बड़ी उदासी हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। इसकी खबर से भी पहले तो मुझे बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझल आई जो उनपर उपवास का निश्चय कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का जोर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं जोर से उसके खिलाफ़ राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह ग़लत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह हालांकि मैं खिन्न था, फिर भी उसको गवारा करता रहा।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने निम्नलिखित तार भेजा :—

"आपका खत मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो एक बेगाने देश में, जहाँ आप ही एक-

मात्र परिचित मीनार की तरह हैं, अपना कहीं पता ही नहीं पाता हूँ; अँधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूँ, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर उनके कार्य को मैं बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हें आघात न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस द्वन्द्व का मुझे सामना करना पड़ा था। मगर फिर भी मैंने महसूस किया कि मैंने उन्हें प्रसन्नता का संदेश नहीं भेजा, और अब जब कि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा में से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, गुजरने का निश्चय कर ही चुके हे, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मै उन्हें प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हें जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय तो उसे भी कड़े दिल से बरदाश्त कर लेना चाहिए। इसलिए मंने उन्हें दूसरा तार भेजा:—

"अब तो जब आपने अपना जोखों का काम शुरू कर ही दिया है, तो मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि अब मुझे यह ज्यादा साफ़ तौर पर दिखाई देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और कुछ भी नतीजा हो, आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छः हफ्तो के लिए सविनय भंग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश में भावना का फिर एक उभाड़ आया। मैं ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह सही तरीक़ा है? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका बिलकुल नही ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका ज्यादातर हिस्सा, सम्मान से महात्माजी की तरफ निगाह गड़ाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायें, अस्पृश्यता का नाश कर दें, और स्वराज्य हासिल करले, इत्यादि, और खुद कुछ भी न करें। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे, उनका ज़ोर पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालांकि मै गांधीजी पर बड़ी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। अक्सर वह

अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी सहज वृत्ति से, जो गलती नही करती थी, काम लेते थे । अच्छा और फायदेमन्द काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है; लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह फ़ायदेमन्द हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा ?

और मैं यह नहीं समझ सका कि वह वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी बुनियाद हिंसा और संघर्ष पर है, कैसे मंजूर कर लेते हैं, जैसाकि वह मंजूर करते हुए दीखते हैं ? मेरे अन्दर ओर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं की चक्की में पिसने लगा । मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूँगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी । मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और हड़बड़ाहट में डालनेवाला देश मालूम होने लगा । क्या यह मेरा क़ुसूर था कि मैं अपने मुल्कवालों की स्पिरिट और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियों के और मेरे बीच में एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दुःखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया । उन सब पर मानो पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओ, पुरानी आशाओ और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने अपना आवरण डाल रक्खा था । नई दुनिया का निर्माण होना तो अभी बहुत दूर था ।

दो लोकों के बीच भटकता,
आश्रय की कुछ आश नही;
मरी पड़ी है एक दूसरे में
उठने की शक्ति नही ।[1]

हिन्दुस्तान, सब बातो से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिख और दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सचाई का सुबूत देते है । हिन्दुस्तान में और दूसरे मुल्कों में मजहब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप में संगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य निम्नप्रकार है :—

"Wandering between two worlds, one dead,
The other powerless to be born
With nowhere yet to rest his head."

मिटा देने तक की ख्वाहिश की है। मुझे तो प्रायः-हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रतिगामिता, जड़ सिद्धान्त और कट्टरपन, मिथ्या-विचार और शोषण और स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम मजहब है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उसमें और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो इन्सानों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा को भी पूरा करती है। वरना उसका इतनी जबरदस्त ताक़त बनना जैसाकि वह बना हुआ है कैसे मुमकिन था, और उससे बेशुमार पीड़ित आत्माओं को शान्ति और विश्राम कैसे मिल सकते थे? क्या वह शान्ति सिर्फ़ अन्ध-विश्वास की छाया या शंका के अभाव का बहाना ही था? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफानों से बचकर किसी बन्दरगाह मे मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी? कुछ बातों में तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित मजहब तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तत्व नही है। श्री जी० के० चेस्टरटन ने इसके लिए (अपने खास तरह के मजहब के लिए नही, मगर दूसरो के लिए!) भूगर्भ मे पाये जानेवाले ऐसे 'फ़ॉसिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ़ ढाचामात्र है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गई है। और, अगर किसी मजहब में कोई महत्वपूर्ण चीज रह भी गई है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीजों का आवरण चढ़ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वी मजहबो मे, और पश्चिमी मजहबो मे भी, हुई है। चर्च आफ़ इंग्लैण्ड एक ऐसे मजहब की मिसाल है, जो किसी भी मानी में मजहब नहीं है। किसी हद तक, यही बात सारे संगठित प्रोटेस्टेण्ट मजहबो के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढ़ा हुआ चर्च आफ़ इंग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[1]

[1] हिन्दुस्तान में चर्च आफ़ इंग्लैण्ड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊंचे सरकारी मुलाज़िम साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह (हिन्दुस्तान के ख़ज़ाने से) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आम तौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आम तौर पर बिलकुल

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ग़रज़ को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस मजहब ने एशिया और अफीका में अंग्रेजों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों में एक गैरमामूली और रश्क करने योग्य भावना भरदी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर खुश-नसीब नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज मक्कार हैं—'परफ़ाईड एलबियन' ना-वाक़िफ़ होते हैं और वे यह जानने की ज़रा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे गैरईसाइयों के पापों और कमज़ोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्ड्रूज़ से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा दोस्त नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई है। पूना के क्राइस्ट सेवा संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज़ हैं जिनके मज़हब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बड़ी-बड़ी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज़ पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसंबर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल आता है कि यह बड़ी घोषणा कुछ जल्दबाज़ी से कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह ग़ौर करने लायक़ बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज़ भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफ़ी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनायें हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारतापूर्ण' प्रदर्शन कहते हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति पैदा किये बिना न रहता होगा।

यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलज़ाम तो अंग्रेजों की कामयाबी पर हसद के सबब से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरे मुल्क भी इंग्लैण्ड के दोष नहीं निकाल सकते, क्योंकि उनके भी कारनामे इतने ही खराब हैं। जो राष्ट्र जानता हुआ भी मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-संग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अंग्रेजों ने बार-बार दिखलाया है; और इसमें उसके खास तरह के 'मजहब' ने जहाँ अपना स्वार्थ सधता हो वहाँ नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना को भोंथरा करके उसे मदद दी है। दूसरी जातियों और राष्ट्रों ने अक्सर अंग्रेजों से भी बहुत खराब काम किये हैं, लेकिन अंग्रेजों की बराबर वे अपनी स्वार्थ-साधना को गुण बनाने में कामयाब नहीं हुए हैं। हम सभीके लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के तिल के बराबर दोष को ताड़ के बराबर बता दें, लेकिन शायद इस करतब में भी अंग्रेज ही सबसे ज्यादा बढ़कर हैं।'

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के मुताबिक बन जाने की कोशिश की, और दोनों दुनिया का ही ज्यादा-से-ज्यादा फ़ायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया का ताल्लुक था वहाँतक तो वह खूब ही कामयाब हुआ, लेकिन मजहब की दृष्टि से वह संगठित मजहब के रूप में न घर का रहा न घाट का। और धीरे-धीरे मजहब की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन केथोलिक मत इस नतीजे से बच गया। क्योंकि वह पुरानी जड़ को ही पकड़े रहा, और जबतक वह जड़ क़ायम रहेगी तबतक वह भी फलता-फूलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ में जिन्दा मजहब है। एक रोमन केथोलिक दोस्त ने जेल में मेरे पास केथोलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा था। उन्हें पढ़ने पर मुझे लगा कि अब भी बहुत लोगों पर उसका बड़ा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत

१. चर्च आफ़ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट् के राजभक्त रहें, जो कि हमारे 'धर्म के संरक्षक' हैं।" लाज़िमी तौर पर इसका मतलब है हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिससे उनके विचारानुसार हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन ख़तरे में पड़ सकते हैं, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति ज़ाहिर की थी।

मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरा खयाल है कि, इस तरह की सुरक्षितता चाहना मेरे लिए तो नामुमकिन है। मैं तो खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूँ, जिसमें चाहे जितनी आँधियाँ और तूफ़ान हों; न मुझे पर-लोक की या मौत के बाद क्या होता है इसके बारे में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्यायें ही मेरे दिमाग को भर देने के लिए काफ़ी मालूम होती हैं। चीनियों की परम्परागत जीवन-दृष्टि, जो कि मूलत: नैतिक है लेकिन फिर भी ग़ैर-मजहबी या नास्तिकता का रंग लिये हुए है, मुझे पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह अमल में लाई जा रही है वह मुझे पसन्द नहीं है। मुझे तो 'ताओ' यानी मार्ग या जीवन के पथ में दिलचस्पी है; मैं चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नहीं बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम मजहबी दृष्टिकोण इस दुनिया से ताल्लुक नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बुनियाद सिर्फ़ कुछ स्थिर और अपरिवर्तनीय मतों और सिद्धान्तों को बिना चूं-चपड़ किये स्वीकार कर लेने पर ही नहीं है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है। वह, मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूँ, उनसे बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद असलियत पूर्व-निर्धारित विचारों से मेल न खाय, असलियत से भी आँखें बन्द कर लेता है। वह संकुचित है, और दूसरी तरह की रायों या खयालात को बरदाश्त नहीं करता। वह आत्म-मर्यादित और अहंकारपूर्ण है, और अक्सर खुदगर्ज़ों और मौक़ा-परस्तों को अपनेसे बेजा फ़ायदा उठाने देता है।

इसके मानी यह नहीं है कि मजहब को माननेवाले अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और रूहानी ढंग के लोग नहीं हुए हैं, या अभी भी नहीं हैं। लेकिन इसके यह मानी जरूर हैं कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरी दुनिया के पैमाने से न नापकर इसी दुनिया के पैमाने से नापना हो तो मजहबी दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नहीं देता बल्कि बाधा तक डालता है। आम तौर पर, मजहब ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और मजहबी आदमी समाज की भलाई की बनिस्बत अपने-आपकी मुक्ति की ज्यादा फ़िक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहंकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश में अक्सर अहंकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानों का ताल्लुक समाज की जरूरतों से नहीं रहता,

लेकिन उनका आधार पाप के निहायत गूढ़ आध्यात्मिक उसूलों पर हो जाता है। और, संगठित मजहब तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाजिमी तौर पर परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी शक्ति बनता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनों में ईसाई मजहब ने गुलाम लोगों को अपना सामाजिक दर्जा सुधारने में मदद नहीं दी थी। ये गुलाम ही योरप के मध्यकालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियों के कारण, भू-स्वामियों के क्रीत-दास बन गये। मजहब का रुख, दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ में), क्या था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशों के दास-स्वामियों को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र पर से मालूम पड़ सकता है।[१]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धो से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों में जरा भी तबदीली नही आती; मगर इन मामलो में 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' मे रहते हैं जिस अवस्था में वे पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम', 'क्रोध' और तीव्र 'वासना' के प्रदेश से है। मगर, उनकी बाहरी हालत बपतिस्मा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आजाद थी उसमे वह किसी भी तरह की तबदीली नही करता।"

आज कोई भी संगठित मजहब इतने साफ ढंग से अपने खयालात जाहिर न करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख मुख्यतः यही होगा।

यह सभी जानते हैं कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनका भाव अक्सर बहुत जुदा-जुदा समझा जाता है। किसी भी भाषा में भिन्न-भिन्न लोग किसी भी दूसरे शब्द का इतना भिन्न-भिन्न भावार्थ नहीं समझते जितना कि मजहब का (या उन भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसके समान किसी शब्द का)। 'मजहब' शब्द को पढ़ने या सुनने से शायद किन्हीं भी दो मनुष्यों के मन में एक-से ही विचार या भाव-समूह पैदा नहीं होंगे। इन विचारों या भावों में, रिवाजों या रस्मों के, धर्म-ग्रन्थों के, मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तों के और नीति-नियमों, आदर, प्रेम, भय, घृणा, दान, त्याग, वैराग्य, उपवास, भोज, प्रार्थना,

१. यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) में दिया हुआ है। यह किताब बड़ी ही दिलचस्प और विचार-प्रेरक है।

पुराने इतिहास, शादी ग़मी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार के ख़यालों और अर्थों के कारण दिमाग़ में ज़बरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज़ भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'मज़हब' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था, तो) अब बिलकुल नहीं रहा है, और जब अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका इस्तैमाल होता है तब तो वह सिर्फ़ गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है और उससे बहस और बातचीत का कभी ख़ात्मा ही नहीं हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का इस्तैमाल ही क़तई छोड़ दिया जाय, और उसके बजाय ज्यादा महदूद मानी रखनेवाले लफ्ज़ इस्तैमाल किये जायँ; जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यों तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट हैं, लेकिन ये 'मज़हब' की बनिस्बत बहुत परिमित अर्थ रखते हैं। इनमें यह बड़ी सहूलियत है कि अभीतक इन शब्दों के साथ उतनी भावुकता और भावना नहीं लग पाई है जितनी कि 'मज़हब' के साथ लग चुकी है।

तो, मज़हब (इस लफ्ज़ की ज़ाहिरा हानियों के बावजूद इसीका इस्तैमाल करें, तो) क्या चीज़ है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक ख़ास दिशा में, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँतक मैं समझता हूँ, मज़हब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर ज़ोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अंग या रूप मानता है। इसमें शक नहीं हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है। मगर, इसके साथ ही यह भी ज़ाहिर है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्तरिक विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद ख़याल करते हैं, कि चूँकि हम कल-कारख़ानों में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक मिथ्या-विचार है जिससे हम अपनेको तसल्ली दे लेते हैं, और अपने छोटे-पन की भावना पर हावी होने की कोशिश करते हैं। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थिति और हालतों से ऊपर

उठ सकें, और ऊँचे आन्तरिक विकास पर पहुँच सकें। लेकिन बहुत लोगों और राष्ट्रों के लिए तो, आन्तरिक विकास होने से पहले, किसी हद तक बाहरी विकास के होने की जरूरत है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जो जीवन-संघर्ष की बंदिशों और रुकावटों से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊँचे दरजे की आत्म-चेतनता प्राप्त कर सके। जो वर्ग पददलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से दूसरे के पराधीन है और बन्धनों में पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में कामयाब नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आजादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आजादी के हासिल करने, और परिस्थिति को इस तरह बदलने के लिए कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें हट जायँ, यह वाञ्छनीय है कि साधन ऐसे इस्तेमाल किये जायँ जिनसे असली उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय। मै समझता हूँ कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिएं जो कि उस उद्देश्य तक पहुँचा दें, नहीं तो उनसे सारी शक्ति ही बरबाद होगी, और उससे शायद भीतरी और बाहरी दोनों तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के बग़ैर जिन्दा नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी अक्ल की शेखी में कहते हैं कि हमें धर्म से कोई ताल्लुक़ नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सांस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" फिर वह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी लगन ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बग़ैर किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई ताल्लुक़ नहीं है, यह समझते ही नहीं कि धर्म का क्या अर्थ है।" शायद अगर वह ऐसा कहते कि, ज्यादातर वे लोग जो जीवन और राजनीति में से मजहब को निकाल डालना चाहते हैं 'मजहब' शब्द से उसके अर्थ से बहुत भिन्न कोई दूसरा अर्थ निकालते हैं, तो यह ज्यादा सही होता। यह साफ़ जाहिर है कि वह 'मजहब' शब्द को उसके समालोचकों की बनिस्बत बहुत भिन्न भाव में—शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक—ग्रहण कर रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह इस्तैमाल करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

मजहब की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि मजहबी लोग

सहमत न होंगे, प्रोफ़ेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में मज़हब "वह चीज़ है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसंगों या घटनाओं को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है"; या दूसरी तरह से कहें तो, "जो प्रवृत्ति उसके व्यापक और स्थायी महत्व के विश्वास के कारण बाधाओं के विरोध में भी और व्यक्तिगत नुक़सान होने की आशंका होने पर भी एक आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जारी रक्खी जाती है, वह धार्मिक स्वरूप की है।" अगर मज़हब यही चीज़ है, तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी ऐतराज़ नहीं हो सकता।

रोम्याँ रोलाँ ने भी मज़हब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद संगठित मज़हब के कट्टर लोग खौफ खा जायँगे। परमहंस 'रामकृष्ण के जीवनचरित्र' में वह लिखते हैं :—

"......बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के मज़हबी विश्वास से बरी हैं, या उनका खयाल है कि वे बरी हैं, लेकिन दर-असल वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत में डूबे रहते हैं, जिसे वे समाजवाद, कम्यूनिज्म, जीव-दया-वाद, राष्ट्रीयता, या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार की वस्तु से नहीं, किन्तु विचार की उच्चता या गुण से उसका उद्गम निश्चित होता है। और हम यह तय कर सकते हैं कि वह मज़हब से उत्पन्न होता है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की मुसीबत सहकर, एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ़ निर्भयता-पूर्वक जाता है, तो मैं उसे मज़हबी ही कहूँगा। क्योंकि, मज़हब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि इन्सानी कोशिश का उद्देश्य मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सोलहों आना सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह कमज़ोरी का नहीं बल्कि ताक़त का एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के मार्च में शामिल हो जाती है।"

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोम्याँ रोलाँ की इन शर्तों को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक नम्र अनुयायी बनने को मैं तैयार हूँ।

४८

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी नीति'

यरवडा-जेल से, और बाद में बाहर से, गांधीजी के नेतृत्व में हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश की अड़चनें दूर करने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश-बिल के पक्ष में रायें माँग रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके ज़रिये असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय भंग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहां बच गये, और वे लोग जो खाली हुई जगहों में चुनकर आ गये थे, उन्होंने इस संकट-काल में कांग्रेस की मुखालिफत करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी क़ानून की शक्ल में पास कर देने में इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता मंजूर कर लिया था; और दिल्ली, शिमला और लन्दन में बड़े प्रभुओं के साथ दावतें उड़ाई थीं। वे हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की हुकूमत की प्रशंसा करने में शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान में 'दो-रुखी' नामक नीति की कामयाबी की प्रार्थना करते थे।

उस समय की परिस्थिति में गांधीजी के अपील निकालने से मैं हैरत में पड़ गया। और इससे भी ज्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ्ते पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों से सविनय भंग को नुक़सान पहुँचा, लेकिन मुझे तो इसके नैतिक पहलू से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह में गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुसंख्यक लोग जेल में थे या लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ क़रीब-क़रीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस वक़्त और बाद में मन्दिर-प्रवेश बिल की तरफ़ सरकार का रुख आंखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयां डालीं। वह उसको मुल्तवी करती चली गई, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गई,

और अख़ीर में उसपर अपना विरोध ज़ाहिर करके उसका ख़ात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार की सभी कोशिशों की तरफ़ किसी-न-किसी हद तक उसका यही रुख़ रहा है, और मज़हब में दख़ल न देने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक़्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करने से बाज़ नहीं आई। एक इत्तफ़ाक़ से ही शारदा का बाल-विवाह-निरोधक बिल क़ानून बन गया था, लेकिन इस बदक़िस्मत क़ानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह ज़ाहिर हो गया कि इस तरह के क़ानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमें एक के क़ुसूरों के लिए दूसरों को सज़ायें दी जा सकती थी और जिनके भंग करने के कारण वह हज़ारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार शारदा एक्ट सरीखे अपने नियमित क़ानून की पाबन्दी कराने के खयाल से स्पष्टतः दुबकने लगी। इस क़ानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गई। क्योंकि लोगो ने छः महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि क़ानून में बहुत ही बेवक़ूफ़ी से रख दी गई थी, फ़ायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर यह मालूम हो गया कि क़ानून तो बहुत कुछ एक मज़ाक़ ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ़ से उसके प्रचार की ज़रा भी कोशिश नही की गई, और देहात के ज्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह क़ानून क्या है। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो ख़ुद भी सही वाक़यात शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

ज़ाहिर है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति ब्रिटिश सरकार ने सहिष्णुता की यह जो असाधारण वृत्ति दिखाई है, वह उन बुराइयों के लिए किसी पक्षपात के कारण नहीं है। यह तो सही है कि वह इनको दूर करने की ज्यादा परवा नहीं करती, क्योंकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालतीं। लेकिन सुधारों की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज़ हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफ़ी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतों को और बढ़ाले। मगर इन पिछले दिनों से समाज-सुधारकों की दृष्टि से स्थिति और भी ख़राब होती जा रही है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग इन बुराइयों के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान

के सबसे प्रतिगामी लोगों के गहरे सम्बन्ध में आने के कारण हो रहा है। ज्यों-ज्यों उनकी हुकूमत के प्रति मुखालिफ़त बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उन्हें अजीब-अजीब साथी ढूंढने पड़ते हैं। आज हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के सबसे जबरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मजहबी प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग हैं। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही है। उसका मुक़ाबिला हिन्दू-महासभा करती है; लेकिन मुसलमानों को भी इस पीछे जाने की दौड़ में मात करनेवाले सनातनी हैं, जिनमें मजहबी दक़ियानूसीपन बहुत तेज है, और उसके साथ-ही-साथ दमकती हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज से चिल्लाई जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है।

अगर ब्रिटिश-सरकार सुस्त थी, और उसने शारदा-क़ानून का प्रचार करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई न की, तो कांग्रेस या दूसरी ग़ैरसरकारी संस्थाओं ने उसके पक्ष में प्रचार क्यों नहीं किया ? अंग्रेज और दूसरे समालोचकों ने अक्सर यह सवाल किया है। जहाँतक कांग्रेस का ताल्लुक़ है, वह तो पिछले पंद्रह साल से, खासकर १९३० से, ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लड़ाई लड़ रही है। दूसरी संस्थाओं में असली ताक़त या जनता तक पहुँच नहीं है। आदर्श और चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कांग्रेस में आ गये थे, और ब्रिटिश जेलखानों में जीवन बिता रहे थे।

दूसरी संस्थायें कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्रायः नहीं बढ़ीं। वे शरीफ़ाना तरीक़े से, या अखिल-भारतीय महिला-संघ की तरह जनाने तरीक़े से ही, काम करती थीं, और उनमें आक्रमक प्रचार की वृत्ति नहीं थी। इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सों और उनके बाद के क़ानूनों द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयंकर दमन से कुछ भी नहीं कर सकती थीं। फ़ौजी क़ानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सभ्यता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियों को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कांग्रेस और दूसरे ग़ैर-सरकारी संगठन क्यों ज्यादा सामाजिक सुधार नहीं कर सकते, इसका असली सबब और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीपर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमें राजनैतिक आजादी न मिलेगी तबतक वह उसीमें लगता भी रहेगा। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के बीमार की तरह होता है; वह और किसी बात का खयाल नहीं कर सकता······। वास्तव में किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं होता, क्योंकि दबाई हुई प्राकृतिक क्रिया का

एक दुःखदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ में अपना स्थान खो बैठते हैं, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला तजुर्बा भी हमें बताता है कि मौजूदा हालतों में चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में ज़ाहिरा तौर पर कुछ महकमों के बदल दिये जाने के बावजूद प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की जबरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगो की खुद काम करने की आदत को कुचल दिया है, और वह एक संत्री ढंग से, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मा-बाप की तरह से हुकूमत करती है। ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ताओं ने हालाँकि हर तरह एहतियात से काम लिया है, लेकिन फिर भी वे वक्तन-फ़वक्तन सरकारी कर्मचारियो के संघर्ष में आ ही गये हैं। मुझे यक़ीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरा खयाल है कि अगर शासन सामाजिक सुधार के मामले को हाथ में लेले, तो जनता को उसके माफ़िक़ बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज्यादा कामयाब नहीं हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायें, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

मगर जेल में हमारे दिमाग़ों में सामाजिक सुधार और शारदा-क़ानून और हरिजन-आन्दोलन के ही विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इस हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ्तों के लिए मुल्तवी कर दिया गया था, और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम रहे। इस मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आखिरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ उठक-बैठक का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मर्जी आवे तब चालू और जब मर्जी आवे तब बन्द की जा सकती है। मुल्तवी होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमज़ोरी और प्रभावहीनता आ गई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेन्सें हो रही थीं,

और तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थी, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी। कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट बड़े सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लड़ाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये है और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते हैं। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ़ ऊँचे हलकों में कुछ बेचैनी थी, लेकिन उसको संगठित रूप से जाहिर नही किया जा सकता था, क्योंकि सभी कांग्रेसी सस्थायें ग़ैर-क़ानूनी थी।

इसके बाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास, उनका जेल से छूटना, और छः हफ्ते तक सविनय भंग का मुल्तवी किया जाना यह सब हुआ। उपवास खत्म हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फ़िर तन्दुरुस्त हुए। जून के मध्य में सविनय भंग की मौक़ूफ़ी की मोहलत छ. हफ्ते के लिए और बढ़ा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान द्वीपों में राजनैतिक क़ैदी (बंगाल मे जिन्हें क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सजा दी जाती थी वे वहाँ भेजे जाते थे) जेल-बर्ताव के सवाल पर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और उनमें से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगों ने अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओ में भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें सजायें दे दी गई। भले ही क़ैदी, भूख-हड़ताल के सिवा विरोध जाहिर करने का दूसरा रास्ता न मिलने पर, भूख की भयंकर अग्नि-परीक्षा में से गुजरते हुए मर जायँ, लेकिन हमें सिर्फ़ तकलीफ़े ही बरदाश्त नही करना चाहिए था, बल्कि हमें शिकायत भी नही करनी चाहिए थी। कुछ महीने बाद सितम्बर १९३३ में (जबकि मैं जेल से बाहर था) बहुत-से दस्तखतों से एक अपील निकली थी, जिसमें अण्डमान के क़ैदियो के साथ ज्यादा मनुष्योचित्त बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान में बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ़० एण्डरूज और दूसरे कई मशहूर लोगों के भी दस्तखत थे, जिनमें ज्यादातर कांग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग थे। इस बयान पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बड़ी नाराजगी जाहिर की, और क़ैदियों के साथ हमदर्दी जाहिर करने के लिए उसपर दस्तखत करनेवालों की बड़ी सख्त समालोचना की। बाद में, जहाँतक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी जाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भंग की छः हफ्ते की मौक़ूफ़ी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल में, हमें खबर मिली कि गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेन्स बुलाई थी। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक

सविनय भंग बिलकुल मुल्तवी कर दिया गया, और व्यक्तिगत सविनय भंग की इजाज़त खुली रक्खी गई, और सब तरह के गुप्त तरीक़े बन्द कर दिये गये। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तिदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर ख़ास ऐतराज़ नहीं हुआ। सामूहिक सविनय भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योंकि वस्तुतः उन दिनों सामूहिक सविनय भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इसका एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह ज़रूरी भी था, लेकिन ख़ुद सविनय भंग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था?

मुझे जिस बात से ताज्जुब और दुःख हुआ, वह यह थी, कि पूना में मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई। कांग्रेसवाले क़रीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठा हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनायें हुई थीं, जिनमें 'व्हाइट पेपर' का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना दी हुई थी। इस अर्से में हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था, और दूसरी तरफ़ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार और झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ़ सरकार के हिमायतियों ने ही, बल्कि लिबरल और दूसरे लोगों ने भी, अक्सर यह कहा था कि कांग्रेस ने स्वाधीनता का अपना लक्ष्य छोड़ दिया है। मेरे ख़याल से हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर ज़ोर देते, हम उसे फिर साफ़ कर देते, और अगर मुमकिन होता तो उसमें सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी बढ़ा देते। इसके बजाय बहस शायद सिर्फ़ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भंग अच्छा है या व्यक्तिगत, और गुप्तता रखना ठीक है या नहीं। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहाँतक मुझे याद है, गांधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात मांगने के लिए एक तार भेजा, जिसका जवाब वाइसराय की तरफ़ से इन्कारी में आया, और फिर गांधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमें कि 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहाँ, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में कामयाब हो रही थी और अण्डमान में लोग भूखे रह-रहकर अपनी जानें दे रहे थे? लेकिन मैं जानता था कि, नतीजा कुछ भी हो, गांधीजी का यह तरीक़ा रहा है कि वह हमेशा अपनी तरफ़ से समझौते का पूरा मौक़ा देते हैं।

दमन पूरे जोरों पर था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियों को दबानेवाले सारे विशेष क़ानून लागू थे। फ़रवरी १९३३ में मेरे पिताजी की मृत्यु की सालाना यादगार में की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालांकि वह ग़ैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे अच्छे मॉडरेट। और मानो भविष्य में मिलनेवाले उपहारों की पूर्व-सूचना देने के लिए हमें 'व्हाइट पेपर' की सौग़ात दी जा रही थी।

वह एक अनोखा काग़ज़ था, जिसको पढ़कर चकित रह जाना पड़ता था। इसके मुताबिक़, हिन्दुस्तान एक बड़ी-बड़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी, और संघ में देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा। लेकिन खुद रियासतों में कोई भी बाहरी दखल बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कड़ियाँ, कर्ज़े की जंजीरें, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बाँधे रहेगी, और एक रिज़र्व बैंक के ज़रिये मुद्रा की और आर्थिक नीति भी बैंक आफ़ इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए अटूट दीवारें खड़ी हो जायँगी, और और भी नये स्थापित स्वार्थ पैदा कर दिये जायँगे। इन स्थापित स्वार्थों के फ़ायदे के लिए हमारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रक्खी गई थी। हमें स्व-शासन की अगली किस्तों की तालीम देने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदों पर, जिनको हम इतना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मर्ज़ी में आवे सो करने और जिस बात को चाहे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज़ शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूब स्तुति कर सकते हैं, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकते हैं।

ऐसा विधान तैयार करके, कि जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ-पैर पूरी तरह से बाँध दिये गये थे, उसमें कुछ ज़ायद हथकड़ियों के तौर पर 'खास जिम्मेदारियाँ' और संरक्षण भी रख दिये गये, जिससे कि यह बदक़िस्मत मुल्क एक ऐसे क़ैदी के मानिन्द हो गया कि जो ज़रा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री नेविल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होंने सारी ताक़त लगाकर योजना में ऐसे सब संरक्षण रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग़ में आ सकती थी।"

इसके बाद, हमें यह भी कहा गया कि इन उपहारों के लिए हमें भारी खर्चा

देना पड़ेगा—शुरू में एक-मुश्त कुछ करोड़, और फिर सालाना रक़म। स्वराज का वरदान हमें काफ़ी रक़म दिये बग़ैर नहीं मिल सकता था। हम तो इस धोखे में ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्रता-ग्रस्त देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आज़ादी की तलाश में थे। आज़ादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अब तो मालूम हुआ कि वह बोझा और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमें सच्ची अंग्रेज़ों जैसी ही वज़ादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे हाकिम कितने फ़य्याज़-दिल हैं। किसी भी साम्राजवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी रैयत के लिए अपनी ख़ुशी से ऐसे अख़्त्यारात और मौक़े नहीं दिये थे। और इंग्लैण्ड में इसके देनेवालों में और इस-पर ऐतराज़ करनेवालों में, जो इस भारी फ़य्याज़-दिली से ख़ौफ़ खा रहे थे, बड़ी भारी बहस-बाज़ी हुई। तीन साल में हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच बारबार बहुत लोगों के आने और जाने का, तीन गोलमेज़-कान्फ्रेन्सों का, और बेशुमार कमिटियों और मशविरों का यह नतीजा था।

मगर, इंग्लैण्ड की यात्रायें तो अब भी ख़त्म नहीं हुई थीं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फ़ैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें असेसरों या गवाहों की तरह से गये। लन्दन में और भी कई तरह की कमिटियाँ बैठ रही थीं, और इन कमिटियों की मेम्बरी, जिसके मानी थे इंग्लैण्ड जाने और लन्दन में ठहरने का मुफ़्त ख़र्चा मिलना, हासिल करने के लिए भीतर-भीतर बड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। बड़े-बड़े दिलेर लोगों ने, जिनके हौसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठण्डे नहीं पड़े थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लुभा लेने की शक्ति से 'व्हाइट-पेपर' की तजवीज़ों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा की मुसीबतों का और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज़्यादा ख़तरों का मुक़ाबिला करने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे और कहते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखाई नहीं देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले न थे, और चाहे उनकी कोई न सुने तो भी वह अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे। उनमें से एक व्यक्ति, जोकि प्रति-सहयोगियों का एक नेता था, सबके चले जाने पर भी ठेठ अन्त तक टिका ही रहा, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहता है, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाक़ात-पर-मुलाक़ात लेता रहा, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाता रहा। और आख़िरकार जब वह अपने देश में लौटा तब प्रतीक्षा करनेवाले लोगों से

उसने कहा कि मराठों की प्रसिद्ध दृढ़ता को क़ायम रखते हुए मैंने अपना काम-धंधा छोड़ दिया और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कहने के लिए मैं लन्दन में ठहरा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि प्रति-सहयोगी मित्रों में मज़ाक़ का गुण नहीं होता। अपनी कुछ मज़ाक़-भरी बातों से, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी, जोकि एक बड़ा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी बढ़िया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ़ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टूक-टूक भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल व्हाइट-पेपर को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-ब-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालांकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था; लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कांग्रेस और उसके मारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौक़े-बेमौक़े वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह किसी बड़े कांग्रेसी को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूंकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति बेजा काम करे तो सरकार उसको दुबारा गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक औचित्य-पूर्ण होगा। इग्लैण्ड में भी कुछ लोगों ने इसी दलील की बिना पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करने की मेहरबानी दिखाई थी। जब हम जेलों मे पड़े हुए थे। तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर ये भले आदमी हमें हमारे ही ऊपर छोड़ दें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था, और उनके और हमारे बीच बहुत अन्तर था।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के खिलाफ़ कोई भी कारगर क़दम उठाने का तो वे खयाल तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ़ अपने

समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और सक्रिय लोगों से दूर-दूर ही हटना पड़ा, उन्हें नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा में फ़र्क़ जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लड़ाई में कोई फ़र्क़ न पड़ सका। मगर उनमें कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी ज़ाती तौर पर इज्ज़त होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओं ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलों ने भी मजमुई तौर पर, सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन संकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अपार सेवा की। सरकार के बल-प्रयोगों को और क़ानून को बालायताक रख देने की कार्रवाई को भी लिबरलों के द्वारा कारगर समालोचना के आभाव में और मौक़े-ब-मौक़े उनकी तरफ़ से उसे दी गई मान्यता और समर्थन से फ़ायदा मिला। इस तरह ऐसे समय में जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व बलप्रयोग को मुनासिब बताना मुश्किल हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियों ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेताओं ने कहा कि व्हाइट-पेपर ख़राब है—बहुत ही ख़राब है; लेकिन अब उसके लिए करें क्या? अप्रैल १९३३ में कलकत्ता में लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमे श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलों के सबसे प्रख्यात नेता हैं, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असंतोष-जनक क्यों न हों, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि "यह ऐसा वक़्त नहीं है जबकि हम एक ओर खड़े रहें और अपने सामने सब कुछ योंही हो जाने दें।" ज़ाहिर है कि, उनके ख़याल में सिर्फ़ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममे समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की क़ुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममें ये गुण हैं, तो उन्हें पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बड़े "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री शास्त्री हमेशा लम्बे-चौड़े भाषण देते हैं, और वक्ताओं की तरह सुन्दर शब्दों के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हें शौक़ है। मगर वह अपने उत्साह में बह भी जाते हैं, और शब्दों का जो इन्द्रजाल वह खड़ा करते हैं वह उनका मतलब दूसरों के लिए और शायद ख़ुद उनके लिए भी धुंधला कर देता है। उन्होंने अप्रैल १९३३ में, कलकत्ता में, सविनय भंग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी ज़रा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी

उसमें दो बातें ग़ौर के क़ाबिल दिखाई देती हैं। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-शोषण क्यों न होता हो, हमें उसको मानना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज़ न जावें। एक ज़रा-सा कीड़ा भलेही एक बार मुक़ाबिला करने पर अमादा हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर चलें तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नहीं कर सकते। उनकी राय के मुताबिक़ इसके सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि जहांतक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फ़ैसले के सामने झुक जाना और उसे मंजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मै इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूं) हो गया है। और हम चाहें या न चाहें, हमारी क़िस्मत में उसको मान लेना ही बदा है

[यह ग़ौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नहीं दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालांकि सबको यह काफ़ी तौर पर मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "हालांकि 'व्हाइट-पेपर की तजवीज़ें' ख़राब हैं, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हींको क़ानून का रूप दे दिया जाय तो मैं उनको काम में लाने के हक़ में हूं," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा वाक़यात से संबद्ध तो होती। लेकिन श्री शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गये और उन्होंने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हों, फिर भी उनकी सलाह तो वही रहेगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज्यादा ज़रूरी बात थी, उसके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना ज़रा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल ख़ाली न हो और शासकों के फ़रमानों की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तब-तक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?]

दूसरी जिस बातकी तरफ़ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारों के क़ानून बनने की लम्बी मंज़िल में व्हाइट-पेपर तो सिर्फ़ एक सीढ़ी ही थी। सरकार की निगाह में वह एक ज़रूरी सीढ़ी थी, लेकिन अभी तो कई सीढ़ियां बाकी थीं, और मंज़िले-मक़सूद तक जाते-जाते मुमकिन था उसमें आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलियां हो जातीं। इन तबदीलियों का आधार ज़ाहिरा यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी में यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के फ़िक्रक़ों को

अपनी तरफ़ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पड़ता और उससे वह योजनाओं को ज़रा और उदार बनाती या कम-से-कम उसमें कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारों की मंजूरी या नामंजूरी, या उन्हें काम में लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की ज़ोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ़ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलों की परवा नहीं करनी चाहिए। अब उन्हें अपनी तरफ़ मिलाने का सवाल ही नहीं रहा। चाहे उन्हें धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोड़ेंगे। इस मामले में, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक था, और उससे लिबरल-पक्ष को भी नुक़सान पहुँचा।

✓ [मैंने श्री शास्त्री के पुराने भाषण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्ठता नहीं की है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा असल में कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मैं समझना चाहता हूँ कि लिबरल नेताओं की मनोवृत्ति और विचार कैसे हैं। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग हैं, फिर भी मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यों करते हैं। श्री शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैंने जेल में पढ़ा था, मुझपर बहुत असर पड़ा। जून १९३३ में वह पूना में भारत-सेवक-समिति के, जिसके वह अध्यक्ष हैं, सामने बोल रहे थे। कहा जाता है कि उन्होंने बतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अंग्रेजी प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलों की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सताये और उसपर जुल्म करे। लेकिन इसके बरखिलाफ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में हमेशा सहिष्णुता की खासियत रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान में सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री शास्त्री के भाषण का जो मुख्तसर हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्स-मैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त हैं, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी म भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहां बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।]

जब मैंने यह हाल पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों में तफ़सील के बारे में बेशक फ़र्क़ है। लेकिन मूलतः विचार-धारा एक ही

है। श्री विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों के साथ किसी-किस्म की ज्यादती न करते हुए ठीक ऐसी ही भाषा में अपने खयालात ज़ाहिर कर सकते थे। फिर भी, श्री शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज्यादा-योग्य नेता हैं !

श्री शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मैं सहमत नहीं हूँ, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मैं बिलकुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, जो अंग्रेज़ न होगा, उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज़ भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेज़ी शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, यह उन्हींकी खुश-क़िस्मती है। फिर भी, यह ग़ौर करने लायक बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो ग़ैर-मामूली वाक़यात हिन्दुस्तान में रोज़ाना हो रहे थे, और जो उनके भाषण के वक्त भी हो रहे थे, उनका उन्होंने इसमें ज़िक्र तक नहीं किया। उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयंकर दमन और स्वतन्त्रता का दलन हो रहा था उसका नाम तक नहीं लिया। मुमकिन है उन्हें वे सारे खौफ़नाक वाक़यात न मालूम हों जो सीमा-प्रान्त में हुए थे और बंगाल में हुए थे—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल में कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में 'बंग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योंकि सेन्सर के परदे ने सब वाक़यात को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हें भारत-भूमि का दुःख और ज़बरदस्त मुख़ालिफ़ के मुकाबिले में हिन्दुस्तान के लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बड़े-बड़े हिस्सों में छाया हुआ था, फौजी क़ानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सों, भूख-हड़तालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था? क्या उन्होंने यह महसूस न किया कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ़ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नहीं, इसकी परवा नहीं। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख़्त्यार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान दिखा रहे थे उसके प्रति उनके क्या विचार थे? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के हृदय पर कुल्हाड़ी चला रहे थे, तब क्या उन्हें दुःख और कष्ट नहीं मालूम होता था? हज़ारों आदमी एक मग़रूर साम्राज्य की हिंस्यानी ताक़त के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा को झुकाने के बजाय अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने परिवारों का बरबाद हो जाना, और प्यारों का

कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्व कुछ नहीं समझते थे ? हम जेलों में और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, और हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओं में से होकर निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज श्री वेरियर एल्विन हमें बताते हैं कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते है कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमाग़ी बन्धनो को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज्यादातर कांग्रेसी स्वयं-सेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ़ की है......"

श्री श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और भावुक आदमी हैं, जिनकी उनके देशवासी बड़ी इज्जत करते हैं, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में खुद जाते, इसलिए नहीं कि किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज्यादतियों को जाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं। लेकिन ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषों को पैरों-तले रौंद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आजादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनायें हो रही हैं, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होंने ठीक ऐसे वक्त में अंग्रेजों को सहिष्णुता और आजादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेजी शासन में ये दोनों गुण बिलकुल ही नहीं रह गये थे। उन्होंने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उनका हौसला बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यक़ीन है कि उसका यह तात्पर्य नहीं रहा होगा, या उन्हें यह खयाल नहीं रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा इसमें तो शक नहीं हो सकता। तो, इस तरह उन्हें विचार और कार्य क्यों करना चाहिए था ?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नहीं मिला है कि लिबरल

नेताओं ने अपने-आपको अपने देशवासियों और समस्त आधुनिक विचारों से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढंग की किताबों को वे पढ़ते हैं, उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियों पर मरने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियों में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग़ आज़ाद फिरते थे और हमारा हौसला दबा नहीं था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढंग का दिमाग़ी क़ैदखाना खुद ही बना लिया था, जहाँ वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नहीं सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' के ही ईश्वर की पूजा करते थे; और जब हालात बदल गये, जैसाकि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; दिमाग़ और जिस्म दोनों बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस गतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस पास के तूफ़ानों को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ़ सके; और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये; 'तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड़ गये'; हमेशा संदेह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।

अय ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहाँ अब;
लगा सदा मै रहा ठीक ही करने में सब ![1]

'सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया' नामक एक लिबरल अख़बार ने सविनय भंग-आन्दोलन के आख़िरी दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहाँ पहुँच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा कि यही एकमात्र कांग्रेस की नीति है। स्पष्टतः, इसके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियों की सेवा में इंग्लैण्ड डेप्यूटेशन भेजना, या इंग्लैण्ड में शासक-दलों के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उसके लिए दुआयें माँगना।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनों कांग्रेस की नीति ख़ासकर यही थी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"The time is out of joint O cursed spite !
That ever I was born to set it right."

कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी क़ानूनों को तोड़ा जाय, और इसकी सज़ा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र लम्बी लड़ाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नहीं डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नंगा बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासकों के लिए बड़ा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुःखदाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते हैं कि अन्त में इससे भी उनकी बुनियाद कमज़ोर पड़ जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके बनिस्बत वह यह बहुत ज्यादा पसन्द करते हैं कि अपने फ़ौलादी पंजे को छिपाने के लिए हाथ पर मखमली दस्ताना पहने रहे। जो लोग सरकार की इच्छाओं के सामने झुकना नहीं चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुक़ाबिला करने से बढ़कर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नहीं है। इसलिए दमनकारी क़ानूनों का कभी-कभी भंग होता रहना भी एक महत्व रखता था। उससे जनता की ताक़त बढ़ती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा ज़रूरी थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर थोरो ने लिखा है कि, "ऐसे समय में जबकि स्त्री और पुरुष अन्यायपूर्वक जेल में डाले जाते हों, तब न्यायी स्त्री-पुरुषों का स्थान भी जेल ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगों को न जँचे, लेकिन हममें से कई लोग ऐसा महसूस करते हैं कि मौजूदा हालत में, जब कि सविनय भंग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते हैं, और जबकि सरकार का बल-प्रयोजक तन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी बेइज्ज़ती कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसी के लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भवनीय नहीं है। अपने ही देश में हम संदिग्ध होकर आते-जाते हैं। हमपर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को इसलिए नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक क़ानून को तोड़ते तो नहीं हैं, हमारी खतो-क़िताबत खोली और पढ़ी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमें गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताक़त के मुक़ाबिले में हमारे सिर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उससे इन्कार कर दिया जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो; या

उसका मुक़ाबिला किया जाय, और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख्स यौंही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर, दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, "जीवन में असली दुःख की बात सिर्फ़ यही है कि जिन उद्देश्यों को तुम पतन-पूर्ण समझते हो उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ बदक़िस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का दोजख है।"

४६

लम्बी सजा का अन्त

मेरी रिहाई का वक़्त नजदीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की मामूली छूट मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति में, या जेल-जीवन से जो आम दिमाग़ी सुस्ती पैदा हो जाती है उसमें, रिहाई के सवाल ने खलल पैदा कर दिया। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी ख़ुशी कम करदी। लेकिन वह भी क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा करनेवाली ख़बर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई। हम दोनों कई साल से कार्य-समिति में सिर्फ़ गहरे साथी ही नहीं थे, बल्कि उनसे मुझे केम्ब्रिज के अपने शुरू के दिनों की भी याद आ जाया करती थी। हम दोनों सबसे पहले केम्ब्रिज में ही मिले थ—मैं तो नया दाख़िल हुआ था और उन्होंने उसी समय अपनी डिग्री हासिल की थी।

सेनगुप्त का देहान्त नज़रबन्दी की हालत में हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह योरप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज़ पर ही वह शाही क़ैदी बना लिये गये थे। तभीसे वह क़ैदी या नज़रबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो गई। सरकार ने उन्हें कई तरह की सहूलियतें दीं, लेकिन वह बीमारी की रफ़्तार को न रोक सकी। कलकत्ता में उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने ख़ूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया; ऐसा दिखाई देता था कि बंगाल की लम्बे अर्से से रुकी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोड़ी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही क़ैदी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसों नज़रबन्दी और क़ैद से बर्बाद हो गई थी, आख़िरकार सरकार ने इलाज के लिए योरप जाने की इजाज़त दे दी। लेकिन और भी कितने लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलों की शारीरिक थकावट को बरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे! और कितने लोगों के, हालां-

कि ऊपर से उनमें बड़ी तबदीली दिखाई न देती थी, दिमागों में उस ग़ैर-मामूली जिन्दगी के कारण जो उन्हें जेल में बितानी पड़ी थी गहरी मानसिक अव्यवस्था और विषमतायें पैदा हो गई थीं ।

सेनगुप्त की मृत्यु से बहुत साफ़ तौर पर मुझे मालूम होने लगा कि सारे देश-भर में कितना भयंकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा हो गया । यह सब किसलिए हो रहा है ? आख़िर किसलिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं खुशक़िस्मत था, और कांग्रेस की प्रवृत्तियों की मेहनत और अनियमित जीवन के होते हुए भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा । मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक रूप से ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैंने अपने शरीर की फिक्र रक्खी थी । बीमारी और कमज़ोरी और ज्यादा मुटापा मुझे बहुत भद्दा मालूम पड़ा, और कसरत, ताज़ा हवा और साधारण भोजन की मदद से मैं उनसे बच सका । मेरा अपना तजुर्बा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियाँ तो ग़लत भोजन से होती हैं । वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिक़दार में खाते हैं । (यह बात उन्हीं-पर लागू होती है जिनकी ऐसी फ़जूलखर्च आदतें रखने की हैसियत होती है ।) लाड़-प्यार करनेवाली मातायें बच्चे को मिठाइयाँ और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीज़ें ज्यादा खिला-खिलाकर ज़िन्दगीभर के लिए बदहज़मी की पक्की नींव डाल देती हैं । बच्चे को कपड़े भी बहुत-से पहना दिये जाते हैं । हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग भी बहुत ज्यादा खाते हैं, हालाँकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते । शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी से, जो गरम-गरम और तेज़ भोजन अधिक मात्रा में किया करते थे उसमें, अब कुछ सुधार कर लिया है ।

मैंने शौक़िया चीजें खाने की या भोजन-संबन्धी प्रयोग करने की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया, और सिर्फ ज्यादा मिक़दार और पकवानों से बचता रहा । क़रीब-क़रीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालाँकि मुझे उसका बहुत शौक़ कभी नहीं रहा । पर १९२० में असहयोग के वक़्त से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया । इसके छः साल बाद योरप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा । मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मैं शाकाहारी बन गया, और तबसे मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ । मांस-भोजन मुझे अच्छी तरह माफ़िक़ पड़ता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और तबीयत उसके खाने से कुछ कतराती है ।

मेरी बीमारियों के दौरान में, खासकर १९३२ में जेल में जबकि कई महीनों

तक रोजाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मुझे बड़ा गुस्सा-सा आता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति होने की अपनी सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली ही बार सोचने लगा, और मुझे खयाल आया, कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूँ, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से खास तौर पर डरता नहीं हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क से धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को क़ाबू में लाने में कामयाब हुआ। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटों और दुशालों में लिपटे हुए काँपा करते थे, मैं खुले बदन सूर्य-किरणों में बैठ जाया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ़ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

मेरी कसरतों में मुझे खासकर शीर्षासन बहुत पसन्द आता था। मैं दोनों हाथों के पंजों को जोड़कर उनपर सिर का पिछला हिस्सा रखकर और कोहनियों को जमीन पर टिकाकर बदन को सिर के बल उलटा करके खड़ा हो जाता था। मेरा खयाल है कि शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और मुझपर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मैं उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ बेतुके आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती थी, और मैं मनुष्य की ऐसी तरह-तरह की तरंगों के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया था।

उदासी के दौरों को, जोकि जेल-जीवन में लाज़िमी तौर पर आते ही हैं, पार करने के लिए मेरी आम तौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और अच्छा स्वास्थ्य होने की शारीरिक भावना ने बड़ी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे बरी हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आँख की कमजोरी से भी बच गया हूँ, हालाँकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी में भी आँखों का बहुत ज्यादा इस्तैमाल करता रहा। पिछले साल एक आँखों के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-

शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत ग़लत निकला, और मैं अब भी बग़ैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन बातों से मैं शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगो से बहुत खौफ़ खाता हूँ जो जब देखो तब हमेशा ही एक-से शान्त और गम्भीर बने रहते हैं।

जबकि मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तज़ार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फ़ैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानो में सविनय भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फ़ौरन गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें एक साल की सज़ा देदी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें माँगी जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हे देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी ज़बर्दस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नही कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेज़ी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुँचा दिये गये थे, लेकिन वह क़ैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में क़ायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नज़दीक दीखने लगा। उन्होंने लोगों से बिदाई लेली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजों को भी इस-उसको बाँट देने का इन्तज़ाम कर दिया, जिनमें से कुछ नर्सों के लिए रहीं। लेकिन सरकार यह नही चाहती थी कि उनकी मौत की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः सी० एफ० एण्ड्रूज को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आ गये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मैं देहरादून-जेल से बदल दिया गया, और दूसरी जेलों

में क़रीब-क़रीब डेढ़ साल रहने बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी मां की हालत खतरनाक समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

५०

गांधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी बीमार मा के पास लखनऊ पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफ़ी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूँ। मैंने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर पर होता ही है, कि जब मैं जेल में पड़ा-पड़ा सड़ रहा था, तो दुनिया आगे चली जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लड़कियाँ और लड़के बड़े होते जा रहे थे, शादियां, पैदाइशें और मौतें हो रही थीं। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब हो रहे थे। जीवन में दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो गई थीं, बातचीत के विषय नये हो गये थे, मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सबपर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोडकर दुनिया का जहाज़ आगे बढ गया था। यह भावना सब तरह सुखदायिनी नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के माफ़िक़ मैं अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती थी। मेरे दिल ने कहा कि जेल के बाहर सैर करने का मुझे यह तो थोडा-सा मौका मिला है और जल्दी फिर मुझे जेल में ही जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी चल ही देना है, उसके अनुकूल अपनेको बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय?

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान खामोश था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों पर ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारियां कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत मानी रखती थी। वह वैसी अशुभ खामोशी थी, जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; जो खामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करने-वाली सरकार नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। ज़ाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के माफिक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर में खुफ़िया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फ़ौज फैली हुई थी। लोगों में आम तौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, खासकर देहाती हलकों में हो तो, फ़ौरन कुचल दी

जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूंढ-ढूंढकर कांग्रेसवालों को निकालने की कोशिश कर रही थी। हर शख्स, जो सविनय कानून भंग करके जेल गया था, सरकार की राय में म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटी आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गई कि अगर कांग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी इमदाद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सबसे बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन मे हुई। आखिरकार, मेरा खयाल है, सरकार ने एक क़ानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियों को मुलाज़िम नहीं रख सकता, जो राजनैतिक अपराधो पर सज़ा पा चुके हो।

जर्मनी में नाज़ियो की ज्यादतियों की खबरो का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों और उनके अखबारो पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन ज्यादतियों से उन्हें हिन्दुस्तान में उन्होंने जो कुछ किया था उस सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होंने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमे बताया, कि अगर यहा नाज़ियों की हुकूमत होती, तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता। नाज़ियों ने तो बिलकुल नये पैमाने कायम कर दिये है, उन्होने नई व्यवस्था ही लिख डाली है और उनका मुकाबिला करना निश्चय ही आसान नही था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराब होता; लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योकि पिछले पाँच वर्षों मे हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाकयात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य मे विश्वास रखती है कि बाये हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज़ को नामंजूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जाँचो का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष मे ही भारी हुआ करता है। मेरे खयाल से, यही सच है कि औसत अंग्रेज बे-रहमी से नफ़रत करता है और मै ऐसे अंग्रेज़ों की कल्पना नही कर सकता, जो नाज़ियो की तरह से "ब्रूतैलितात" (पशुता या बेरहमी) लफ्ज़ को खुले तौर पर कहने और उसे प्रेमपूर्वक दोहराने में शान मानते हों। जब वे ऐसा काम कर भी डालते है, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते हैं। लेकिन चाहे हम जर्मन हों या अंग्रेज हों या हिन्दुस्तानी हों, मेरा ख़याल है कि सभ्यातापूर्ण व्यवहार का हमारा खोल इतना पतला है कि जब हमें रोष चढ़ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नहीं लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयंकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर द्वाराव-

रोध करके उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुल्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाक़यात हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ खतरे में पड़ जाते है, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और और सारी शराफ़त को भूल जाते है और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'कानून और व्यवस्था' की रक्षा बन जाती है।

यह किन्ही व्यक्तियों या किसी खास जाति का दोष नही है। वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क में, हुकूमत करनेवाली शक्ति के खिलाफ हमेशा एक सुप्त चुनौती खड़ी रहती है और वक्तन-फ़वक्तन वह ज्यादा प्रकट और तेज़ भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फ़ौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते है। पिछले कुछ सालो मे हिन्दुस्तान मे हमें इन फ़ौजी गुण-दोषो का दृश्य बहुत ही ज्यादा मिक़दार मे देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती ज़ोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे हमे तो हमेशा ही फ़ौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इसमें दोनों पक्षो का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है; संकट-काल मे वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदक़िस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल मे मुझे ऊँचे-ऊँचे अफसरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलो मे उनके जवाब और सरकारी बयानात पढने की काफ़ी फ़ुरसत मिली। पिछले तीन सालो म, मैंने देखा कि उनमे एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गई है। उनमें डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढ़ता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट मेजर अपने मातहतो से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ मे, शायद मिदनापुर डिवीज़न के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणों मे 'हम विजयी हैं, हम जो चाहें वह करेंगे' की भावना लगातार रहती थी। ग़ैर-सरकारी यूरोपियन तो, खासकर बगाल में, सरकारी लोगो से भी आगे बढ़ जाते है और उनके भाषणो और कार्यों दोनों में उन्होंने बहुत निश्चित फासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नगी मिसाल थी हाल मे ही सिन्ध मे कुछ मृत्युदण्ड पाये हुए मुजरिमों को खुली फांसी देना। क्योंकि सिन्ध में जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिए अधिकारियो ने तय किया कि इन मुजरिमों को सबके सामने फांसी

दी जाय, ताकि दूसरे भी आगाह हो जायँ। इस भयंकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सुहूलियत दी गई और कहा जाता है कि कई हज़ार लोग गये भी थे।

जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान में राजनैतिक और आर्थिक हालत का मुआयना किया और मुझे उन्हें देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल में आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अखबारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफ़ीअहमद किदवई को अपने पत्रों पर सेन्सर की लहरों के कारण बड़ा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे या देर से आते थे या गुम ही हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रों के बारे में ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर से करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको ? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफ़सर था, जो अपना काम गुप्त रूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंजूर भी नहीं किया गया था। रफीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होंने सेन्सर के नाम एक खत लिखा, लेकिन उसपर खुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही खत अपने ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद में रफीअहमद के पत्र-व्यवहार के बारे मे कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर वापस जेल जाना नहीं चाहता था। उससे मेरा पेट काफी भर गया था, लेकिन मुझे नहीं सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड़ दूं। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष मे आना ही पडेगा। किसी वक़्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई खास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ़ बग़ावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मै लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं ज़ाती तौर पर डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मैं कुछ मामले निबटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मा की बीमारी की तरफ़ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना में पड़े अपने

हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा अर्से से में उनसे नही मिला था। ज्यादा-से-ज्यादा मैं अपने प्रान्तीय साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि संसार की परिस्थिति पर और उन सब विचारों पर बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग़ में भरे हुए थे। उस वक्त मेरा ख़याल था कि दुनिया बड़ी तेज़ी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमो को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलों की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ़ कतई ध्यान नही दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके काग़ज़ात की देख-भाल भी नही की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, लेकिन ताहम वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। फिर भी हम जबतक उस मकान में रहते, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नही रख रहे थे, क्योंकि उसका खर्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब यह भी था कि सरकार उसे कभी भी कुर्क कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच मे, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिच जाता था। (सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था।) एक बड़ा आम और ग़लत खयाल, खासकर दक्षिण भारत मे, यह फैला हुआ था कि मै कोई बड़ा दौलतमन्द आदमी हूँ। मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मै चिन्तित था कि जल्दी हो शादी जाय—इससे पहले कि मुझे जेल जाना पड़े। कृष्णा, खुद भी एक सालतक जेल काटकर कुछ ही महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मा की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मै गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालाकि वह कमजोर थे, लेकिन वह अच्छी प्रगति कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीते हुईं। यह साफ़ ज़ाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफ़ी फ़र्क था, लेकिन मैंने उनका अहसान माना कि उनसे जहांतक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक नज़दीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग़ में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालाकि उनका जिक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद तो साफ़ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को अस्थापित कर देना चाहिए, हालांकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से

नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्त्तन से होना चाहिए। चूंकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्त्तन के तरीक़े भी नम्रता और विचार-पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओं के तार्किक परिणामों को देखकर, कदम-ब-कदम, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेंगे। वह एक अजीब चीज़ है—श्री वेरियर एलविन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी' हैं—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और उनकी नब्ज़ का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के किसानों के साथ है। संकट-काल मे वह किस दिशा में मुड़ जायँगे, यह कहना मुश्किल था; लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावें, लेकिन हमेशा वह सीधा रास्ता ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर जरूरत होगी, तो अलग-अलग रास्तों से भी जाना पड़ेगा।

उस वक्त, मेरा खयाल था कि, यह सवाल नहीं उठता था। हम अपनी राष्ट्रीय लड़ाई के मध्य में थे, और अभीतक सविनय भंग ही सिद्धान्ततः कांग्रेस का कार्यक्रम था, हालाकि व्यक्तियों तक ही उसकी सीमा बाँध दी गई थी। हमारी लड़ाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगों मे और खासकर अधिक राजनैतिक मनोवृत्ति रखनेवाले कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफ़ी आगे कदम बढ़ाने को तैयार मिलें। इस बीच कांग्रेस तो गैर-कानूनी संगठन था और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गांधीजी के सामने जो खास सवाल था, वह था व्यक्तिगत। उन्हें खुद क्या करना चाहिए? वह बड़ी उलझन मे थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करे। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्लीवाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा कि 'अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।' इसके मानी थे आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सज़ा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाक़ी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवाये और सिर्फ़ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दें; लेकिन साथ ही, वह कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहें, और जब ज़रूरत हो तब उन्हें सलाह भी दें।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया, कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे (उनके ही शब्दों में) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफ़ारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फ़ौरन वापस ले ली जाती और फिर क़ानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता, या कांग्रेस गैर-कानूनी और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, अकेली छोड़ी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक गैर-क़ानूनी संस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल के कब्ज़े में आने का सवाल ही नहीं पैदा होता था। इस तरह और रास्तो को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममे से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय भंग को एक भारी आघात पहुँचेगा। अगर नेता ही लड़ाई मे से हट जायगा, तो यह संभव नही था कि बहुत उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग में कूद पड़े; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मै, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालांकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भंग को वापस लेने का अभी वक़्त नही आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मे लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तों और संसार की परिस्थिति पर भी खींचना चाहता था।

लौटते वक्त मैने कुछ दिन बम्बई में बिताये। मेरी खुशकिस्मती से उदयशंकर उन दिनों वहीं थे। मैंने उनका नृत्य देखा। मैंने इस मनोरंजन से, जिसका पहले से कोई खयाल नहीं था, बड़ा आनन्द उठाया। नाटक, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्रॉडकास्टिंग—यह सब पिछले कई वर्षों से में देख ही न सका था, क्योंकि स्वतंत्र रहने के वक्त भी में दूसरी प्रवृत्तियों में बहुत ज्यादा लगा रहता था। अभीतक में सिर्फ़ एक बार ही टॉकी देख पाया हूँ, और बड़े-बड़े अभिनेताओं के मै सिर्फ़ नाम ही सुनता हूँ। मुझे नाटक देखने का अभाव खास तौर पर अखरता है और विदेशों में नये-नये खेलों के तैयार होने का वर्णन में बड़े रश्क से पढ़ता रहता हूँ। उत्तर हिन्दुस्तान में, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौक़ा न था, क्योंकि में मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था। मेरा खयाल है कि बंगाली, गुजराती और मराठी नाटक-

साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंग-मंच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम, कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्में, मूक और सवाक्, दोनों में कला का प्रायः अभाव ही रहता है। उनमें आम तौर पर सुरीले गानों या ग़ज़लों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों में से लिया हुआ होता है।

मेरे खयाल से, इनमें वह सब चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग क़द्र करते हैं। इन भद्दे और दुःखदायी प्रदर्शनो में और साधारण जनता के अब भी बचे-खुचे संगीत, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला मे अन्तर साफ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण मे कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनंद होता है, कि मूलतः, लेकिन अनजान मे, देहात के लोग कितने कलामय हैं। लेकिन मध्यम-वर्गों का हाल ऐसा नहीं है। उनकी तो मानों जड़ों का ही पता नहीं है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिसे वे पकडे रहें। वे जर्मनी और ऑस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और बीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते है, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते है। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के शुरुआती कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दर्दनाक भद्दापन और कला के सब सिद्धान्तों के भग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बडे ताल्लुकेदारों के घरों में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और और दिखावा करने की ख्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी है, और जो लोग उनके यहाँ जाते हैं, उन्हें उनकी इस अभिलाषा की पूर्त्ति का दुःखी गवाह बनना पडता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों पर जगह-जगह रुकावटें और बन्धन डाले जाते है और उन्हें दबाया जाता है और वे दहशत के वातावरण में रहते है, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है ?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कांग्रेस के ऊपरी तह के लोगों की हाल की घटनाओं पर वहां बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना होती थी। अधिकांश

आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ़ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति में और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय भंग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमें भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत मे पहुँच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ा, वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पडती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आ गया था कि जब उसका हमेशा ही गैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन के रूप में, चाहे सविनय भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, वह पीछे नही हट सकता था। असल में, सविनय भंग के जारी रहने से कोई फ़र्क़ नही पड़ता था, लेकिन असली महत्व था चुनौती के काम का ही। लड़ाई के बीच नये विचारों का फैलाना उस वक्त की बनिस्बत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गई हो और लोगो का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लडाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ़ यही था कि ब्रिटिश ताक़त के साथ समझौते की मनोवृत्ति स्वीकार की जाय और कौंसिलों में जाकर वैध कार्य किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूंढना आसान न था। अपने साथियों के मानसिक सघर्षों को मै समझ सकता था, क्योंकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पडा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहां मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी न करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करें, वे उन दूसरे लोगो को, जिन्होंने लड़ाई के मैदान की धूल और धूप मे सारा भार उटाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करे। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी लोग गांधीजी पर खास तौर पर जोर का वार करते हुए उन्हे प्रतिगामियों के सिरताज बताते है और ऐसी-ऐसी दलीलें देते है, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है; लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का क़रीब-क़रीब मूर्त्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस कदर हिन्दुस्तान में हलचल पैदा करदी है जैसी क्रांतिकारी कहे जाने-वाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं की है। उनके सबसे ताज़े हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता का प्रभाव कम कर दिया है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर पन्थी लोग उनके खिलाफ़ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें मबसे खतरनाक दुश्मन समझते हैं, हालांकि वह उनके साथ सोलहों आना

शिष्टता और सम्मान ही का व्यवहार करते हैं। अपने खास ढंग से जबरदस्त ताक़तों को जागृत करके छोड़ देने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरों की तरह चारो ओर फैल जाती हैं और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती हैं। चाहे वह प्रतिगामी हों या क्रान्तिकारी, उन्होने हिन्दुस्तान की सूरत तबदील कर दी है। उस जनता में, जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों मे शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को संसार की समस्या बना दिया है। इस बात को जुदा रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या है, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और दुनिया के लिए उनकी एक अनोखी देन है और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खास तौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करे और अपनी समस्याओं पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके करे। बदकिस्मती से गांधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद मे रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हींपर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत: यह ग़लत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यों और साधनो को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही बढ़ सकता है और जब उन्हीके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, आलोचना से परे नहीं होना चाहिए, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का बहाना-मात्र बन जाती है, तो उसमे कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करेंगे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामो के स्वप्नों के नाम पर वर्तमान के सख्त कामो को करना छोड़ देता है, वह मौक़ापरस्त बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका मतलब है असली जीवन में इस समय होनेवाली घटनाओं पर अपना आधार रखने में विफल होना, ताकि स्वप्नों के नाम पर उनसे अपने-आपको अलग रख सकें।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते हैं, जो औद्योगिक मजदूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलकों में, जैसे बंबई में या कलकत्ते के पास, कारखानों के मजदूर बड़ी तादाद में हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बाक़ी हिस्सा तो किसानों का ही है और कारखानों के मजदूरों के

दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और योरप का समाजवाद इनके बारे में शायद ही कुछ जानता हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और ग़ैर-मामूली घटनायें हो गई और वैसी ही घटनायें फिर दूसरी जगह हों यह उम्मीद करना बेवकूफ़ी होगी। लेकिन इतना मैं ज़रूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह ज़बरदस्ती और बेइन्साफ़ी होगी कि उसे वाकयात और हालात का मुनासिब ख़याल न रखते हुए अंधे की तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ा पेचीदा मामला है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी कुछ निराश-सा हो जाता है। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं पर एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुँचें; लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊँचे-ऊँचे उसूलों के परदे में छिपाता है, ज़रूर संदेह का पात्र बन सकता है। जो शख़्स सरकार को इक़रारनामे और वादे लिखकर या और किसी संदेहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुँचाने की संभावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह के लोग रहते हैं। वहाँ सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की उदारता दिखाई। मज़दूर नेता की हैसियत से वह समाजवादी थे; राजनीति में वह आम तौर पर अपनेको डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे; हिन्दू-सभा भी उन्हें बहुत चाहती थी। उन्होंने वादा किया कि मैं पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूँगा और उनमें कौंसिल को दख़ल देने न दूँगा, मगर चुनाव के वक़्त में वह सनातनियों की तरफ़ से उम्मीदवार हुए, जोकि प्राचीन रहस्यों के महान् पुजारी होते हैं। इस भिन्न-भिन्न प्रकार के बदलनेवाले जीवन से जब वह न थके, तो उन्होंने अपनी शेष शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गांधीजी को प्रतिगामी बताने में लगाई। कुछ और लोगों के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी शुरू की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती

थी कि उस महान् संस्था पर हमला करे। इससे भी ज्यादा प्रवृत्तियों में हाथ डालने की दृष्टि से, वह मजदूरों के प्रतिनिधि की हैसियत से जेनेवा-मजदूर-कान्फ़ेन्स में भी शरीक हुए। किसीको प्राय: यह भी खयाल होता था कि शायद वह इंग्लैण्ड के ढग की हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियो का लाभ शायद बहुत थोड़े लोग उठा सकते थे; लेकिन फिर भी कांग्रेस के समालोचकों में ऐसे कई लोग थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का अनुभव किया था, और जो कई जगहों मे अपनी टाँग अड़ाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

५१

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टेतक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवालात करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहाँ सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंज़रू ही, जो कि शायद बाक़ी के सदस्यो मे सबसे ज्यादा योग्य है; लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक्त वहाँ उपस्थित थे, बडे अचरज मे सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त और उनके इन्कार के बारे में थे। जब-कि खुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ो संस्थाये ग़ैर-कानूनी करार दी जा रही थी, तब क्या केवल अनेक समस्याओ से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाज़ुक वक्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो मे भयकर घटनाये घट रही थी, विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये मौजूद थी। लेकिन सवालात सिर्फ़ महत्त्वशून्य घटनाओं के बारे मे या इस बारे में पूछे गये कि अगर गाधीजी वाइसराय से फिर मिलना चाहें तो वाइसराय और भारत-सरकार क्या करेगी?

मुझे बड़े ज़ोरो से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मै किसी धार्मिक मठ में आ घुसा हूं, जिसके रहनेवालो का बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त 'एक्टिव' (क्रियाशील) राजनीतिज्ञ थे, जिनकी सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी का लम्बा रिकार्ड था। उन्हींसे और कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल-पार्टी की मूल ताक़त बनी हुई थी। बाक़ी की पार्टी तो बे सिर-पैर की थी जिसमें ऐसे-ऐसे आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोड़ने का मज़ा लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो—खासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमें और सरकारी अधिकारियों मे शायद ही कुछ फ़र्क़ था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हदतक उसकी राजनैतिक

प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटों के बँटवारे पर अपना वक़्त और ताक़त व अपना मिजाज बिगाड़ा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते हैं और उसपर फज़ूल का वाद-विवाद इतना करते हैं कि उससे ज़रूरी सवालात ही छूट जाते हैं, उसी हदतक हमारी पिछड़ी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गांधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन मे जो-जो सवालात पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसो के दीवान-खानो या दरबारों की-सी चीज़ दिखाई देती थी। मानो, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्को मे और खासकर इग्लैण्ड मे, इस लफ्ज से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त और अनियंत्रित व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आज़ादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओ के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आज़ादी की और राजा के एकाधिकारो और मनमाने टैक्सो से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलो का ऐसा कोई आधार नही है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नही, क्योंकि वे करीब-करीब सभी सरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओ ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओ का भी कोई महत्त्व नही समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों के साथ, जहाँ कि प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भी मामूली रूप-रेखा नही है, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्य रूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन टाइप के लिबरलो से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नही हैं, या वे सिर्फ कहीं-कहीं और किसी-किसी अंश मे ही लिबरल हैं। वे क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ़ आधार नहीं है, और हालांकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस मे भी उनके विचार नही मिलते। वे नकारात्मक रूप मे ही दृढ़ता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें ग़लती-ही-ग़लती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश भी करते रहते है और आशा यह करते है कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह मे सचाई सिर्फ दो

अतियों के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज़ की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते हैं कि वे गुणवान, समझदार और नेक आदमी हैं। इस तरीक़े से वे विचारों के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफ़त से बच जाते है। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूँजीवाद योरप में पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और संकट में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ़, समाजवाद तो ज़ाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा। इस दर्म्यान, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी ही चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि ज़मीन चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और आरज़ी तौर पर यही सुझायँगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार है।

बहुत छोटे-छोटे और बेवज़नी मामलो पर भी वे बहुत भड़क जाते हैं और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान में वे मौलिक सवालों को हाथ नही लगाते, क्योंकि ऐसे सवालो के लिए मौलिक इलाज और विचार और कार्य के साहस की ज़रूरत होती है। इसलिए लिबरलो की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और खास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे मातदिल रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"माडरेट होने में ही हम फूले नही समाते हैं,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है !"[१]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी अच्छी क्यो न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदक़िस्मती से एक 'तेजोहीन दल' बन गये है—वे चेहरे से मंद-तेज और संजीदा, लेखों और बातचीत मे उत्साहहीन होते है और विनोद-प्रियता से खाली रहते है। निश्चय ही, इनमें कुछ अपवाद भी हैं और एक सबसे बड़े अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही विनोद-रहित नही है, बल्कि जो अपने विरुद्ध मज़ाक मे भी रस लेते है। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही

१. एलेक्ज़ेण्डर पोप का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"In moderation placing all my glory
While Tories call me Whig and Whigs a Tory."

की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमे ऐसा ठोसपन है, जो सुस्ती या मंदी का दूसरा नाम है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख मे लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए, उसकी राय थी कि, मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े ही नाजुक और साफ ढंग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झंडे का गठ-बन्धन कर लिया।

मर्यादा के अन्दर रहना, रूढ़ि-प्रियता और खतरों तथा अचानक परिवर्तनों स बचने की इच्छा बुढ़ापे के अनिवार्य साथी है। ये बातें नौजवानों को बिलकुल नही सोहतीं। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी पैदाइश से ही कमजोर और थके हुए दिखाई देते है और उनमे तेजहीनता और बुढ़ापे के चिन्ह होते हैं। लेकिन जो तबदीली हो रही हैं, उसकी ताक़तो से ऐसा पुरातन देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये है। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्ता-पूर्ण काम करने की मीठी सलाह दे, उससे कोई फ़र्क नही पड़ता। तूफ़ान या बाढ़ या भूकम्प को समझाने से कही रोका जा सकता है? उनकी पुरानी धारणायें टिकती नही हं, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमे हिम्मत नही। यूरोपियन परम्परा के बारे मे डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा मे आच्छादित है कि हर पीढ़ी बहुत-कुछ उन्ही परिस्थितियो मे जीवन बितायगी, जिन्होंने उसके पुरखों के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायेंगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण में रह रहे है, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल ग़लत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण मे थोडी नरमी दिखलाने की ग़लती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही ग़लत रही है। अगर योरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी? लेकिन इतिहास को घड़नेवाले, जब तबदीली का वक्त आ जाता है तब, इन परम्पराओं की तरफ जरा भी ध्यान नहीं देते। हम लाचारी से देखते रह जाते है और अपनी योजनाओ की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ देते है। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही खयाल है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की ग़लती से नहीं बल्कि किसी दूसरे के जानबूझकर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयंकर वहम के शिकार हम सभी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं; जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते है और तजुर्बे और ग़लतियों के ज़रिये भी हम इस वहम की ताक़त को कम कर देते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते है, लेकिन इन लिबरलों में यह दोष अधिक गहरा है। क्योंकि इस डर से कि कही हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नही करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे क़दम ही नही बढ़ाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने मे दूर ही रहते है, और अपने ही विचारों की तग कोठरियो में मोहित और समाधिस्थ से बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलो को आगाह किया था कि उन्हे चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और घटनाओ को यों ही गुज़रने न देना चाहिए। उस आगाही में वह जितनी सचाई समझते थे, उसमे कही ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस दृष्टि से हमेशा विचार करने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ़ इशारा कर रहे थे, जिन्हे भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियां बना रही थी; लेकिन लिबरलो की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासकों से अलहदा होने के बजाय उन्होंने इन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क मे अजनबी-से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हे वही-का-वही छोड़ गई। जब लिबरलो के देशवासी जिन्दगी और आज़ादी के लिए भयकर लड़ाइयाँ लड रहे थे, तब इसमें कोई शुबहा नही था कि लिबरल मोर्चेबंदी के किस तरफ़ खड़े थे। मोर्चेबंदी की दूसरी तरफ से वे हमे नेक सलाह दे रहे थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे, और इस चिपचिपे रोगन की तह-पर-तह हमारे ऊपर चढ़ाते जाते थे। गोलमेज़-कान्फ़्रेन्सो और कमिटियो मे जो सहयोग उन्होने दिया, वह सरकार के हक़ में बड़ी महत्वपूर्ण नैतिक चीज़ थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बड़ा फ़र्क़ पड जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ़ेन्स में ब्रिटिश मज़दूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल साहबान तो उसमें भी अलग नही रहे और कुछ अंग्रेज सज्जनों ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यों तो हमारे जुदे-जुदे मकसदों के लिहाज़ से हम सब नरम या गरम हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ मात्रा का है। जिस बात के बारे में हमे अधिक चिन्ता हो, उसके विषय में हमारी भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते है, नहीं तो हम

दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते हैं, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता अख्त्यार कर लेते हैं. जोकि, असल में, कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है । मैंने नरम-से-नरम माडरेटों को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उडा देने की बात रक्खी गई । हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं । स्वराज के लिए उन्हे बहुत दिनो तक इन्तजार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हें व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की जरूरत नही । लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची । तब वे न तो उसके विषय में माडरेट ही रह जाते हैं और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है । इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार मे उनकी बात सुन ली जाय । इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नही सकते । 'ब्ल्यू बुक' उनके गंभीर अध्ययन की वस्तु बनती है । इरशकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबे उनकी जीवन-संगिनी होती हैं । नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्क-वितर्क का विषय बनती हैं । इग्लैंड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल के देवताओं के कारनामो के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते हैं; क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि मे सूरमाओ का स्वर्ग है ! पुराने ज़माने मे यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी । इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलों की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है ।

यहाँ लिखा तो मैंने लिबरलों के बारे में है, लेकिन यही बात बहुतेरे कॉंग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियों पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योंकि नरमी मे तो उन्होने लिबरलो को भी मात कर दिया है । औसत दरजे के कॉंग्रेसी में बडा फ़र्क है । मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ़ ही है, न निश्चित ही । जहाँतक विचार-धारा से सबंध है, आगे बढे हुए लिबरल और नरम कॉंग्रेसी में कोई ज्यादा फ़र्क मालूम नही होता । मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कॉंग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगों के साथ थोड़ा-बहुत संपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता हैं और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामों से बच गया है । मगर लिबरलो की बात ऐसी नहीं है । उन्होने

पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगों के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे हैं।

मैं खयाल करता हूँ कि हममे से बहुतों की वह पुरानी व्यक्तिपूजा की भावना नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अंतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमें समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[१] के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रिटन[२] की पुष्प-माला-विभूषित श्रृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते है। हममे से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली है जो—

> "पिंड मे ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
>
> वन-सुमन मे स्वर्ग को है देखते;
>
> अंजली मे बाँधते निस्सीम को,
>
> एक पल से नापते चिरसीम को।"[३]

दुर्भाग्य से, हममे से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर है। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानो के पास तो गूंजती है, लेकिन हम सुन नही पाते। उसके स्पर्श के मधुर कंपन का सुख नही उठाते। वे दिन अब चले गये, लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानवजाति के गौरव और कारुण्य मे, उसके बड़े-बड़े स्वप्नो और आन्तरिक तूफानों मे, उसकी पीड़ाओ और विफलताओ मे, उसके संघर्षों और विपत्तियो मे, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्त्वाकाक्षाओं की प्राप्ति में हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। जो कष्ट और क्लेश इस खोज मे हमें उठाने पड़े हैं, वे बिलकुल ही व्यर्थ नही है। इस खोज ने समय-समय पर हमे जीवन की तुच्छता मे

१. **प्रोटियस**— प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपने मनचाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. **ट्रायटन**—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियंत्रण रखना था।

३. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

> "To see a World in a Grain of Sand
> And a Heaven in a Wild Flower,
> Hold Infinity in the palm of your hand
> And Eternity in an hour."

ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतों ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया है और पुराने तरीकों से अपनेको बिलकुल अलहदा कर रक्खा है; लेकिन वर्तमान में उनको कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। न तो उनकी भावनायें ही ऊँची हैं, न कुछ वे करते ही हैं। वे फ्रांस की महान् राज्यक्रांति या रूसी राज्यक्रांति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नही समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओ के जटिल तेज और निठुर स्फोटों या उभाडों से वे भयभीत हो जाते हैं। उनके लिए बेस्टिली (फ्रांस) का किला अभी सर नही हुआ है।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेस-वालों ने ही नही ले रक्खा है।' यही शब्द बारबार दोहराये जाते हैं, जिनमें कोई नवीनता नही दिखाई देती। यह देखकर कुछ दु ख होता है। मैं समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अंश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नही किया होगा। अवश्य ही, मैं नही समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है और मैं बड़ी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फ़ायदा उठानेवालों और सुखी और निश्चित जीवन चाहनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियों, स्वार्थों और वर्गों के अनुकूल उसके कई रूप हैं। अगर आज 'जूडस' जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नहीं, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नही है, अब तो हमें कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज़ चाहिए।

और नरमी स्वत. ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो काफी समझी जाय। हाँ, सयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी सस्कृति का एक पैमाना है, मगर कोई चीज भी तो हो, जिसका हम सयम और निग्रह करें। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वों पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गाँठना आ रहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पड़ते हुए पानी को अपने काम मे लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है; लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खाये डालनेवाले विकारों का निग्रह करना या उन्हे संयम में रखना। जबतक वह इन्हें अपने काबू मे नही कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पा सकता। पर क्या हम उन पैरों को रोक रक्खें, जो हिलते ही नही हैं या उन हाथो को, जिन्हें लकवा मार गया है?

इस प्रसग पर मैं रॉय केम्पबेल की चार पंक्तियाँ देने का लोभ संवरण नही कर सकता, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सबंध में लिखी थीं :

"विश्व आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान,
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान !
खूब जानते आप खींचना और मोड़ना बाग
पर कमबख्त कहाँ वह घोड़ा, है इसका कुछ ध्यान ?"[१]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे श्रेयस्कर माध्यमिकता के संकीर्ण पथ पर चलते हैं और एक तरफ कांग्रेस और दूसरी तरफ़ सरकार दोनों की अतियाँ बचाकर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियां बतानेवाले मुंसिफ बनते हैं और इस बात के लिए अपने-आपको बधाई देते हैं कि वे इन दोनों की बुराइयों से बरी हैं। मेरी समझ में आँखों पर पट्टी बाँधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी खब्त ही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों में सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[२] और फेरिसियो[३]·········ओ अंधे पथ-प्रदर्शको ! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो !"

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"They praise the firm restraint with which you write.
I'm with you there, of course
You use the snaffle and the curb all right
But where's the bloody horse ?"

२. स्क्राइब्स—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

३. फ़ेरिस्सी—प्राचीन यहूदियों के एक दल वालों का नाम, जो प्रचलित रस्म-रिवाजों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसीलिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

५२

डोमीनियन स्टेटस और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमे से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हो चाहे कॉंग्रेसी, आये हैं सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे है और शुरू में जिन दो किस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहनेलायक अंतर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख्तलिफ दिशाओं मे देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियो की तरफ। विचारधारा अब भी दोनो की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फर्क नहीं था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब साधारण पेशेवर और बेकार पढे-लिखे लोगो का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमे वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहजा करारा और हमलावर हो गया। कारगर ढग से काम करने की ताकत तो थी नही, सो कडी ज़बान मे उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर माडरेट लोग कॉंग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने मे ही उन्होने अपनेको महफूज़ समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियो का उसमे ज़ोर था, हालाँकि, तादाद में छोटे मध्यमवर्गियों का प्राधान्य था। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम मे महज़ कामयाबी की ख़्वाहिश से ही नही आये थे; बल्कि इसलिए कि उस संग्राम मे ही उन्हें सच्चा सतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यो तो एक राष्ट्रवादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालाँकि सभीके मन में उठती है, तो भी यही से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने आ गई। धीरे-धीरे कॉंग्रेस मे निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानो ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यो-ज्यो कॉंग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यों-त्यों उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गई और लिबरलों के लिए कॉंग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी क़दर करना नामुमकिन हो गया।

उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोपड़े को समझना आसान नहीं है। फिर भी, इन मतभेदों के रहते हुए भी, दोनों की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। कांग्रेस में आखिर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम दल में बड़े मजे से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सों पर अपना कब्जा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई-घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वहाँ नौकरों के कई दर्जे बंधे हुए हैं—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार वगैरा-वगैरा—और उनमें छोटे-बड़े का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सों में एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगादी है जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नहीं सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है। मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग बना लिया। कभी-कभी हमारी बड़ी इज्जत करदी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारे हौसलों की उड़ान होती है सम्मानित बनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिये जाने तक। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय में ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब जमाना बदल गया और अब न इंग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान में विश्रान्ति-भवन की वह नमूनेदार सभ्यता राज़ी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममें ऐसे लोग हैं जो उन्हीं नौकरों की कोठरियों में पड़े रहने की ख्वाहिश रखते हैं और अपनी सुनहरी चपरासों, पट्टों, वर्दियों और बिल्लों पर नाज़ करते हैं। दूसरे कुछ लोग लिबरलों की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यों-का-त्यों क़ायम रहने देना चाहते हैं, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते है, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक हैं कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह खुद उन्हें मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते हैं। उनके लिए शासकों का रंग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफ़ी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नहीं सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहें, सिर्फ़ उसका काला रंग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते है, जिसमे वे या उनके जैसे लोग सूत्र-संचालक रहे और अंग्रेज़ हाकिमो की जगह ले लें—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभायें, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह बरक़रार रहें, कभी-कभी ज़र्क-बर्क पोशाक और जवाहरात से सजकर रिआया पर रौब गाँठते हुए दर्शन दिया करे, जमीदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहें और दूसरी तरफ काश्तकारो को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मीदार और काश्तकार दोनों को तग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहें और ईश्वर की ज्योति स्वर्गपुरी मे जगमगाती रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तबदीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते है; और वे इन परिवर्तनो को ब्रिटिशो की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढता पर है। वे देखते है कि इस साम्राज्य की नीव हिल नही सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उसके माफिक अपने-को बनाते है और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार धारा को ही ग्रहण करते है, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शो को भी अपनाते है, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये है।

लेकिन कांग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है, क्योकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज़ एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसका स्पष्ट खयाल एक औसत कांग्रेसी के दिमाग मे आज नही है और इसके बारे मे राये भी अलग-अलग हो सकती है। मगर कांग्रेस मे शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते है, कुछ इने-गिने लोगो को छोड़कर, कि मौजूदा अवस्था और तरीक़े क़ायम नही रह सकते और न रहने चाहिएं और बुनियादी तबदीलियाँ लाज़िमी है। यही फ़रक है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज—और पूर्ण स्वाधीनता मे। पहला उसी पुराने ढाँचे को दृष्टि में रखता है, जो हमे ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनों से बाँधे हुए है, और दूसरा हमें अपने हालात के माफिक एक नया ढाचा खड़ा करने की स्वतंत्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ लोगो से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे

सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य बना रहा तो उसका कुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "सत्ता का अनाड़ीपन ताले की कुंजी को तो खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेंती से काम लेता है।" हाँ, हमारे दिलों की कुंजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेंतियों का जो भरपूर उपयोग हमपर किया गया है उसने हमें अंग्रेजों का तरफदार नहीं बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते हैं, तो हम अपनेको क्षणिक विकारों और भावनाओं में नहीं बहने दे सकते, और अगरचे हम उस तरफ झुक भी जायँ तो गांधीजी ने जो १५ साल तक हमको कड़ी तालीम दी है वह हमें उससे रोक लेगी। यह मैं एक ब्रिटिश जेलखाने में बैठकर लिख रहा हूँ, महीनों से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल में जो कुछ बीती है उससे कहीं ज्यादा मैंने इस तनहाई में कष्ट सहे हैं। कई घटनाओं के अवसरों पर गुस्से और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है; लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मैं अपने दिल और दिमाग की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमें कहीं भी इंग्लैंड या अंग्रेजों के प्रति-रोष या द्वेष नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मैं नाराज हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे हैं उसे मैं जरा भी पसन्द नहीं करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मैं कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अंग्रेजों को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता, और अगर मैं ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि सारी जाति पर नाराज होना या उसकी निन्दा करना जरा बेवकूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गये हैं जैसे कि हम।

मैं खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी शत्रुता का भाव नहीं रख सकता और मैं जो चाहूँ करूँ, लेकिन मैं अपने मन के उन संस्कारों से और दूसरे देशों के और आम तौर पर जीवन के बारे में विचार करने की पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर एतराज करते हैं और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता

नही कर सकते वह अंग्रेज़ों का शासन है, आधिपत्य है, नकि अंग्रेज़ लोग। हम शौक़ से अंग्रेजों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ठ सम्पर्क बांधे। हम हिन्दुस्तान में ताजी हवा चाहते है, ताजा और चेतनामय विचार और निर्मल सहयोग चाहते है, क्योंकि हम जमाने से बहुत पीछे पड गये हैं। लेकिन अगर अंग्रेज शेर बनकर यहाँ आते है तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नही रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ प्राण-पण से मुकाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पडा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सभव हो सकता है, लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पडे है, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नही है।

किमीके लिए यह कहना कि वह या उसका देश किमीसे समझौता नही करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है, और जब दूसरे देश या वहां के लोगो पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्ही खास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमे कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा मे समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनों परस्पर बेमेल है और न तो फौजी क़ानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बाते ही उन्हे एकसाथ मिला सकती है। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाये पैदा हो सकेगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया मे स्वाधीनता एक सकुचित ध्येय है, क्योंकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए मुकम्मिल आजादी का मतालबा करके हम घडी का कॉटा पीछे घुमा रहे है। लिबरल और शांतिवादी, यहांतक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमे अपने सकुचित उद्देश पर लताडते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-सघ' में से होकर गुजरता है। यह अजीब-सी बात है कि इंग्लैण्ड मे तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शातिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को क़ायम रखने की ओर ही ले जाते हैं। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है; ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोड़ने की अभिलाषा आसानी से शांतिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह

मैकडानल्ड गांधी के मुकाबिले में ऐसा महसूस करता है मानों वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

में नहीं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आजाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा। लेकिन मै इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी है, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती है। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ ही नहीं है, लेकिन बहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नही है लेकिन आगे बढ़े हुए है, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक है। स्वाधीनता हम इसलिए नही चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-सलग रहने की ख्वाहिश है। इसके बखिलाफ हम तो बिल्कुल राजी है कि और देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बडा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शांति कभी स्थापित नही हो सकती।

इधर हाल में जो घटनाये हुई है उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों को खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की बढ़ती हुई कमजोरी को जाहिर करते है। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है तहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सो से अपनेको अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा संपर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धो के आश्रित हो रहे है और, इससे कई बातो में जो तात्कालिक नुकसान हुए है उनको अलग रखदे तो भी, इस नीति से पैदा होने-वाले खतरे स्पष्ट है। इस प्रकार 'डोमिनियन स्टेटस' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संपर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते है। इस बात को समझने की कोशिश किये बगैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते हैं कि डोमिनियन स्टेटस की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कहीं संकीर्ण और नैतिक

उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नजदीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते हैं, क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है; मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हें उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ है। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओ को, अगर दूसरे देशों में ये तरीके अख्त्यार किये जायँ, तो कोई ऐतराज नहीं होता। वे दूर रहकर ही उनकी कदर और इज्जत कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टेटरों को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामों से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल यह है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते है, या सिर्फ एक नया शासक-मंडल बनाना चाहते है? लिबरलो का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नही चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'डोमिनियन स्टेटस' का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उसका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' इन गूढ़ शब्दो-द्वारा प्रकट किया गया है। सत्ता, स्वाधीनता, आज़ादी, स्वतन्त्रता आदि उनके जोरदार शब्द उनके लिए नही है। उन्हे तो ये खतरनाक मालूम होते है। एक वकील की भाषा और तरीके उन्हे ज्यादा जँचते है--चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी बेशुमार मिसाले मिलती है कि जहाँ व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आज़ादी के लिए खतरो का मुकाबिला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली हैं। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे कानूनी शब्दो के लिए कोई जान-बूझकर एक दफा खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका मकसद और इसको भी हासिल करना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नही, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है--'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्यदक्षता' का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त मे जाकर अपने शासकों को इस बात के लिए राजी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दो में वे हमारा विरोध इसीलिए करते है कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए है या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों बातों के कारण। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति

का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफ़ेसर आर० एच० टानी नामक एक विद्वान् अंग्रेज़ लेखक ने क्रम-क्रम से और शासकवर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत मौजूं और हृदयाकर्षक भाषा मे अपने भाव प्रकाशित किये है। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते है, क्योंकि इग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतंत्रात्मक सस्थायें तो है जहां बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफेसर टानी लिखते है :—

"प्याज का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक जिन्दा शेर के एक-एक पजे की खाल नही उतार सकते। यह काम तो शेर का है और खाल को पहले उतारनेवाला वह होता है·········

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहाँ के विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग निरे बुद्धू हो तो कम-से-कम इग्लैण्ड वह नही है। यह खयाल गलत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे इस धोखे में आ जायँगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते पुर्जे कानून-दा को झांसा देकर उस मिल्कियत को हथिया लेना, जिसका कि हकनामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही मे ऐसे हरदिलअजीज, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की पर्वा न करनेवाले लोग है, जो अच्छी तरह जानते है कि रोटी किधर से चुपडी जा रही है और जो चुपड़ने के घी मे कभी कमी होने देना नही चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे राजनैतिक और आर्थिक शतरज के हरेक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते है। हाउस आफ लॉर्ड्स, सम्राट्, अखबार, फ़ौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझने भी पैदा कर सकते है, और जैसा कि १९३१ मे पौण्ड की विनिमय-दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओ से साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राजनैतिक भगोड़ों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते है।

ब्रिटिश लेबरपार्टी का ज़ोरदार सगठन है। उसके पीछे कई ट्रेड यूनियनें, जिनके लाखो चन्दा देनेवाले मेम्बर है, सहयोग-समितियो का एक बहुत समुन्नत सगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग है। ब्रिटेन में बालिग मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी सस्थाये है और वहाँ बरसों से नागरिक स्वतंत्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के बावजूद

मि० टानी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उसको सही साबित कर दिया है—कि लेबरपार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती । हालाँकि इन दोनों साधनों का प्रयोग करना लाभप्रद और वाञ्छनीय जरूर है । टानी साहब तो यहाँ तक कहते है कि अगर कॉमन-सभा में मजदूर दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेष लाभ-प्राप्त वर्गों के मुकाबिले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगी; क्योंकि उनके हाथ मे आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी जबरदस्त ताकतें अपनी हिफ़ाजत के लिए है । हिन्दुस्तान में यह बताने की जरूरत नहीं है कि हालात बिलकुल दूसरी तरह के है । न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक संस्थाये ही है और न ऐसी परम्पराये ही । उसके बजाय, यहाँ आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का और बोलने, लिखने, सभा करने और अखबारों की आजादी को कुचलने का खासा रिवाज पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहाँ कोई खासा मजबूत संगठन है । ऐसी हालत मे उन्हे अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है ।

लिबरल लोग अवैध या 'गैरकानूनी' कार्रवाइयों के सख्त खिलाफ़ है, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ वैध शब्द का व्यापक अर्थ होता है । उसमे कानून बनाने का अधिकार आ जाता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश मे रखता है, उसमे राजनैतिक और आर्थिक ढाचे मे परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनो की गुजाइश रहती है; लेकिन हिन्दुस्तान मे ऐसा कोई विधान नहीं है, और यहाँ विधान के मानी भी इस तरह के नहीं है ।[1] यहाँ उसका इस्तैमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान मे कोई जगह नही है । और आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि यहाँ वैध शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यों के समर्थन में किया जाता है, या दूसरी तरह उसका 'कानूनो' के भाव में व्यवहार किया जाता है । इससे तो यह कहीं बेहतर है कि हम कानूनी और गैरक़ानूनी शब्दों का ही व्यवहार करे, हालाँकि वे काफ़ी गोलमोल है और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है ।

१. श्री० सी. वाई. चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक हैं, युक्तप्रान्त को कौन्सिल में पार्लमेंटरी ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर ज़ोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध भावी सरकार को मंजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें ।"

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये कानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकल पर सवार होना, खास किस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जाता है और दूसरे में नहीं। जब एक गैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे कानून बहुत थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते है, तब 'क़ानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राजी से हो चाहे गैरराजी से। क्योंकि उसके भग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स के लिए यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूँगा, मानों तानाशाही या गैरजिम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को गिरो रख देना है और अपनी प्रकृतियो के लिए आज़ादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतंत्री देश मे महज इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तत्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते है या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नही हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम मे लाना होगा। लेकिन जहाँतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नही रखता। ऐसा वैधानिक साधन ही नही है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज़ कानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओ मे वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा मे सिवा क्रान्ति या गैरकानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नही रह जाता। तब हमे करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहे?

हिन्दुस्तान मे तो आज हालत और भी असाधारण हो गई है। कार्यकारिणी हर किस्म के सार्वजनिक कामों को रोक सकती है, और उनपर बंदिश लगा देती हैं। जो भी काम उसकी राय में उसके लिए खतरनाक है वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और यह मान लेना तो किसी तरह मुमकिन नहीं है।

यह कोई नही कह सकता कि वह हमेशा और बिला नागा क़ानून के मुताबिक

ही काम करेगा। लोकतंत्री राज्य में भी ऐसे मौक़े पैदा हो सकते हैं जब किसीकी अन्तरात्मा उसके ख़िलाफ़ चलने के लिए मजबूर करदे और उस देश में जहाँ स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौक़े और भी बारबार आ सकते हैं। यक़ीनन् ऐसे राज्य में क़ानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से; और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हें सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का ग़लत सोचना और ग़लत लिखना हुआ। बाज़ वक़्त सीधा हमला—जैसे मज़दूरों की हड़ताल—भी क़ानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहां कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या ग़ैरक़ानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहां लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास जाने की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता हैं, मई, १९३४ में कहा था—"विधानकारिणी सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कांग्रेस जन-समूह की समझदारी पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम इन्साफ़ करती है, जिन्होंने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज़-कान्फ़्रेन्सों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधानकारिणी सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सबंधी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और योग्य' लोगों के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह बैठ जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं; क्योंकि, यद्यपि वह उससे 'पूरी तरह' संतुष्ट नहीं हैं, तथापि "देश के लिए उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना क़ुदरती ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और ग़लत आन्दोलन" से अपनेको अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"क्या हमने पहले ही ऐसा नहीं कहा था?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए

और एक करारी लड़ाई लड़ी तो हम नीचे गिरा दिये गये; इसपर से हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही ग़लत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

५३

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और लाज़िमी बात थी कि हिन्दुस्तान मे राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहु-संख्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वीं सदी के अन्ततक, जान में या अनजान में, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श मे विश्वास करते थे। वही उनकी दलीलों का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी अलामात पर ही वे नुक्ताचीनी करके संतुष्ट हो जाते थे। स्कूलों और कॉलेजों मे इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमें हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयों और अंग्रेजो के सद्गुणों और उज्ज्वल भविष्य पर ज़ोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोड़े वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कहीं हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी, क्योंकि हमारे पास न तो दूसरे वाकयात थे और न दलीलें। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढ़कर नही है। हमने अपनी इस बदबख्ती और गिरावट में भी इस बात से तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नही है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज़ है जो कि उससे कहीं ज्यादा क़ीमती और रखने लायक़ निधि है। विवेकानन्द और दूसरो ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रों मे जो दिलचस्पी ली उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अंग्रेजो के बयानो पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे मे ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज खराब होती तो वह अ-ब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज ने हिन्दुस्तान में खराब बर्त्ताव किया तो वह उसका क़ुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नहीं। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो सामग्री हाथ लगी और जो संग्रह हुआ उसने, लेखकों का दृष्टिकोण माडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और

आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े संतोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेजों के लिखे इतिहासों में हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचार-धारा के घेरे में करते थे। १९ वीं सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कॉंग्रेसियों का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ़ जाते हैं लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी १९ वीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आज़ादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है, क्योंकि ये दोनों चीज़ें मूलतः अनमेल हैं। वह सोचता है कि कदम-ब-कदम में ऊँचे पदों पर पहुँचता चला जाऊँगा और बड़ी-बड़ी तथा महत्त्व की फाइलों पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक धुरा बन जायगा और ब्रिटिश फौज ज़रूरत के वक़्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने में पड़ी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमि-नियन स्टेटस—से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पार नहीं पड़ सकती, क्योंकि अंग्रेज़ों-द्वारा रक्षित होने की क़ीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी लें कि एक विशाल देश के आत्म-सम्मान को यह गिराने-वाला न हो तो भी हम दही और मही दोनों एकसाथ नहीं खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नहीं कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्युचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयगा तो इग्लैण्ड उसके और तबाही के बीच में आकर खड़ा हो जायगा; और जबतक वह इस धोखे में है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नहीं डाल सकता।" जाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियों से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पड़ा होगा। कांग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं

है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो जरूर ही नहीं हो सकता। मगर हां, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर में कोई तबाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाबिला करने के लिए अकेला न छोड़ दिया जाय—तबतक हिन्दुस्तान को आजादी नहीं मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का बोरिया-बिस्तरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आजादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि १९ वी सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव में आ जायें, लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल हिलादेनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हों। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गों में से था, जिनके पास काफ़ी धन-दौलत, हुकूमत और सफलतायें थीं। इस लम्बी जिन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमंतशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात में सुख मान सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपनेको—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाड़ले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनकी मुखालिफत करना मानों ईश्वरी व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आंद्रे सीगफ्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मजेदार प्रकाश डाला है:—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहाँतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक-समुदाय स्वभाव से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक़ है।

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर जोर देना इसलिए दिल-

चस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाज़ुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियायें स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज़ जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के क़ुसूर से होती है और अगर यह (क़ुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राज़ी हो जाय तो इंग्लैंड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले······(अंग्रेज़ जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि ख़ुद तो न बदलें, लेकिन दूसरे बदल जायँ।"

सारे जगत् के प्रति अंग्रेज़ों का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के मसलों को जिस तरह हल करना चाहते हैं, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भड़कानेवाला। शांति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी ज़िम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निबाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन केथोलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश साँचे में ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जायँगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज या स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्योंही हम इस बात की गैरंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेज़ों की इच्छा के अनुसार ही अपनेको मिली हुई आज़ादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आज़ादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ एकमत न होंगे। और, शायद, यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के बारे में

असाधारण रूप से बेखबर हैं। जबकि हक़ीकतें ही उनको धोखा दे जाती हैं तब हिन्दुस्तान की स्पिरिट तो उनकी पहुँच के कितने परे होगी? उन्होंने उसके शरीर को जोर-जबरदस्ती से पकड़कर अपने कब्जे में कर तो लिया है, लेकिन वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। उन्होंने कभी उसकी आँख से आँख नहीं मिलाई। वह मिलाते भी कैसे? क्योंकि उनकी तो आँखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थी। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

अपने इस घोर अधःपतन और दरिद्रता के बावजूद, हिन्दुस्तान काफ़ी शरीफ़ और महान् है। और हालांकि वह पुरानी परंपरा और मौजूदा मुसीबतों से काफ़ी दबा हुआ है और उसकी पलकें थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु में अद्भुत विचारों, स्वच्छंद कल्पनाओं और उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों में से होकर गुजरा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव संचित किया है, दूसरे देश-वासियों से देन-लेन किया है, उन्हें अपने बड़े कुनबे में शामिल कर लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे हैं, बड़ी-बड़ी जिल्लतें उठाई हैं, महान् दुःख झेले हैं और कई अद्भुत दृश्य देखे हैं; लेकिन अपनी इस सारी लम्बी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ा। उसमें उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगों को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के लटकन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारों से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये हैं और उसे नरक-कुण्ड में गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुःखदाई वहमों और पतनकारी रस्म-रिवाजों के बावजूद, जोकि उसमें घुस आये हैं और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस स्फूर्ति और जीवन को अपने हृदय से कभी नहीं भुलाया, जो उसकी कुछ अनुभवी सन्तानों ने इतिहास के उस काल में उसे दी है और जो उपनिषदों में संचित है। उनकी कुशाग्रबुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड़ सूत्रों को पकड़कर नहीं बैठी रही और न मुर्दा विधि-विधानों, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डों में डूबी रही। न तो उन्होंने इस लोक में खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग

की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा; मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[1] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मंत्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[2]। तमाम पुराने मुल्कों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पड़ता था; लेकिन ह्रास की बदबू ज़ाहिर थी और सूरज की कड़ी और निठुर धूप ने उसकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनो प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुक़ाबिले में इटली ज़रा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। लेकिन इटैलियनों की यह भावना कि हम 'इटैलियन' हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी नहीं मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकांश में रोमन एकता थी, क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा। हालाँकि काशी को पूर्वी देशों की मोक्षपुरी कह सकते हैं—हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पड़ने की कोशिश नहीं की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर

१. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

२. "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपनेको प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक व्हाइट।

हिमालय में अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारों का प्रचार था और यदि किसी एक जगह में विचारों का विरोध होता तो उसकी आवाज देश के दूर-दूर हिस्सोंतक पहुँच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी योरप को धर्म और संस्कृति की भेंट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को संस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालांकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड़ गया था, उसकी संस्कृति का योरप में बोलबाला था।

मेटरनिक ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है; और कितने ही दूसरे मेटरनिकों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योंकि बीसवी सदी के इंग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवी सदी के मग़रूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताक़त दी थी वे सिकुड़ रही थीं और उस जबर्दस्त वृक्ष में ह्रास के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को देवी-देवता के रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। हिन्दुस्तान 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी दीखने में युवती, जिसकी आँखों में दुःख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगो की भावनाओं को उभाड़ देता है और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यतः उन किसानो और मजदूरों का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि ग़रीबी खूबसूरत नही होती। क्या वह खूबसूरत महिला जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कार-खानों में काम करनेवाले किसानों और मजदूरों की भावनाओं को प्रकट करती है? या वह उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये है और उनमें से बहुतों को अछूत तक क़रार दे दिया है? हम अपने कल्पना-निर्मित जीवों को खड़ा करके सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपनेको बचाकर सपने की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं।

मगर इन अलग-अलग जात-पांत और उनके आपसी संघर्षों के बावजूद उन सबमें एक ऐसा सूत्र रहता है जो हिन्दुस्तान को एकसाथ बांधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढ़ता और सहिष्णुता को देखकर दांतों अंगुली दबानी पड़ती है। इस ताक़त का क्या कारण है ? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जड़ता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं है, हालांकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योंकि उसने ज़ोरदार बाहरी प्रभावों का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकतें उसके मुकाबिले के लिए उठ खड़ी हुई उन्हें आत्म-सात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को क़ायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बातें इतनी तरद्दुद करने लायक नहीं जान पड़ीं। उनके महत्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमे बड़ी हानि उठानी पड़ी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कहीं भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नहीं किया गया। वह धन-संपत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को हिक़ारत की दृष्टि से देखता था; सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनों एकसाथ नही रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यो तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानों और बवण्डरो का मुकाबिला करके भी अपनेको जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप कायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की बनिया संस्कृति से लड़ रही है। यह नवआगन्तुक वाणिज्य उसपर हावी हो जायगा, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखों को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है; लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि अब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमें इस तरह काट-छांट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थायें और पुराने विचार दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे हो जाने चाहिएं जो उसकी भूमि के समरस हो जावें।

५४

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा है ? मुझे यह सम्भव नहीं मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओं को तौलना और जांचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज़ दी है जो सदियों में भी उसे हासिल नहीं हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने में मानी जाती है;"[१] इसने क़ानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी-शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है; और "ब्रिटिश भारत को एक संगठित एकछत्र राज्य में परिवर्तित करके भारतवासियों मे परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है", और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अंकुर का पोषण किया है।[१] अंग्रेजों का यही दावा है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी है, हालाँकि न्याययुक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य बहुत वर्षों से नज़र नहीं आ रहे हैं।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातों को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनो के दृष्टि-कोण में इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अंग्रेज लोग तारीफ़ करते है उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते है। जैसा कि डॉक्टर आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—"भारत में अंग्रेज़ी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियों को पहुँचाई जानेवाली बड़ी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसों में हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए है वे संसारव्यापी है, और वे पूर्व व पश्चिम के अधिकाश देशों में समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी योरप में, और इसके बाद बाकी के देशों में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का

१. ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी-ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी (१६३४) की रिपोर्ट से लिये गये हैं।

उदय हुआ। अंग्रेज लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का पश्चिम के साथ सम्बन्ध जोड़ा और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था; एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी। और अब सुदूर-पश्चिम से एक तीसरी और अधिक ज़ोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया। इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अंग्रेज़ों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने हमारी औद्योगिक तरक्क़ी को रोक दिया, और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी असामयिक मांडलिकशाही या या दूसरी पुरानी रूढ़ियाँ उन्हें यहाँ मिली उन सबका उन्होंने पोषण किया। उन्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगति-शील, क़ानूनों और रिवाजों तक को भी जिस स्थिति में पाया उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए उनकी ज़ंजीरों से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगों की सद्भावना या सहायता से नहीं हुआ। परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को बंद नहीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ हुए और इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय शासन की शाही इमारत इसी पुख़्ता नींव पर खड़ी की गई है और बड़े भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्टइंडिया-कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-संबन्धी और माली तरक्क़ी उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[१] लेकिन यह बात ऐसी नहीं मालूम होती जैसी कि बताई गई है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आ गई है, लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगों से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के क़रीब-

१. ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ की रिपोर्ट।

क़रीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बड़ी भारी तालीमी और माली तरक्क़ी हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यक़ीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।", हालांकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास के मुक़ाबिले में पुराना न हो। अगर हम यह कहें कि इस तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फ़ज़ूल का ही झगड़ा या ज़िद है? और सचमुच में अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुक़ाबिला करें तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योंकि हमें अंग्रेज़ों के उस प्रयत्न से भी तो भिड़ना पड़ा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अंग्रेज़ी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूंकि अंग्रेज़ लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका शुक्रगुज़ार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खास तौर पर ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाड़िया थीं जिनमें होकर राष्ट्र के खून को गर्दिश करनी चाहिए थी, जिससे व्यापार की तरक्क़ी होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोड़ों मनुष्यों को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आख़िरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही, लेकिन इन्हें जमाने और काम में लाने का मक़सद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मज़बूत करना और अंग्रेज़ी माल को बाज़ार में खपाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीक़ों के बिलकुल पक्ष में हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफ़र करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ी है, जो भारतवर्ष को जकड़े हुए और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रक्खा है, वह वैसी ही है जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ़ सरकार की रक्षा करना था और बाक़ी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फ़ौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और क़र्ज़ के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर क़ुर्बान कर दी जाती थीं। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्य-

कता, कुछ थोड़ी-सी को छोड़कर, बिलकुल बालाये ताक रखदी जाती थी। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्त्तनशील धारणायें, जिनके फलस्वरूप अन्य देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों का बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा, वगैरा जारी हुए, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थीं। वह इन खर्चीले कामों में नहीं पड़ सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालों से ज्यादा आमदनीवालों की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह क़रीब-क़रीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेजी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ़ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक क़ब्ज़ा मज़बूत हो। बाक़ी सब बातें गौण थी। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है; और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हीके खिलाफ़ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुक़ाबिले में ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेजों के आधिपत्य से हमें अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुग़ल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफों और कम्बख्तियों के बाद अमन-चैन की ज़रूरत भी थी इसमें शक नहीं। अमन-चैन एक बड़ी कीमती चीज़ है जो किसीभी तरह की तरक्की के लिए ज़रूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी क़ीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी क़ीमत पर ख़रीदी जायगी तो उससे हमें जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके ज़रिये हमें जो हिफ़ाजत मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की-सी हिफ़ाजत। या वह अमन ऐसे लोगों की बेकस मायूसी हो सकता है, जो अपनी बहबूदी करने के क़ाबिल

न रहे हों। विदेशी विजेता की जबरन क़ायम की हुई शान्ति में वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति में होते हैं। युद्ध बड़ी भयंकर चीज है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, मिलकर रहने की शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, मौलिकता, मितव्ययिता, शारीरिक स्वस्थता और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूप तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयंकरता के बिना ही किसी जाति में ऊपर के इन गुणों को उत्तेजन दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय सादृश्य मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फ़जूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान योरप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ जोर-जोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकती। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अंग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज्यादा फर्क था और वे हमें अधिक जोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तकाजा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ़ रियासतों में बंटा हुआ है, जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं। लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियां उसके मार्ग में बाधक न हों तो अरबी राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्यायें पैदा कर दी जायँ जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पंच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढ़ोतरी के घुणाक्षर-

न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फ़िरक़ेबंदी के जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे और ये दोनों बातें हमारी भावी उन्नति के मार्ग में बड़े जबरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेजों को यहाँ आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया और उन्हें शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये! स्वेच्छाचारी शासकों की भांति वे मनचाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ ढालने का उनके पास काफ़ी सुन्दर मौक़ा था। इन वर्षों में संसार बिलकुल ही बदल गया है—इंग्लैण्ड, योरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये है। अठारहवी सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं; जापान में थोड़े से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है; रूस का विशाल प्रदेश, जहाँ अभी कल तक ही ज़ार के शासन का फ़ौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन से परिप्लावित हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खड़ी कर रहा है। हिन्दुस्तान मे भी बड़े भारी परिवर्तन हुए है और यह देश उससे बहुत भिन्न है जो अठारहवी शताब्दी मे था—रेलें, नहरें, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, बड़े-बड़े सरकारी दफ्तर, आदि बन गये हैं।

और फिर, बावजूद इन परिवर्तनों के, आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े मे बन्द करदी गई है जो खुलकर सांस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता; जो दूर देश में रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है; जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र में मरनेवाले और रोगों तथा महामारियो से अपने-आपको बचाने में असमर्थ है; जहाँ अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है, जहाँके बहुत-से बड़े-बड़े प्रदेश हर तरह की सफ़ाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं और जहाँ मध्यमवर्ग और जनता दोनों मे बड़े भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि स्वाधीनता, जनसत्तावाद, समाजवाद, वर्गवाद, आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियों, सिद्धान्तवादियों और धोखेबाजों की पुकार है; असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है; लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशों में होनेवाली बेकारी कम करने तथा कष्टों को दूर करने की बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें पढ़ते है; लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ों बेकारों और चारों ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टों को कौन पूछता है? हम दूसरे देशों की गृह-योजनाओं के विषय

में भी सुनते हैं; हमारे यहाँ के करोड़ों मनुष्यों के, जो कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नहीं, मकान कहाँ हैं? क्या हमें दूसरे देशों की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफ़ाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधायें, और पैदावार बड़ी शीघ्रता से तरक्क़ी कर रही है, जबकि हम लोग जहाँ थे वहीं खड़े हुए हैं या बड़ी दिक़्क़त के साथ जूँ की तरह रेंग रहे हैं? रूस ने बारह साल के थोड़े-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नों से अपने विशाल देश की अशिक्षा का क़रीब-क़रीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा क़दम बढ़ाया है। फ़ासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही ज़ोरों से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेन्टाइल ने आवाज़ उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सड़ा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" घर में बैठकर बातें करने में ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हों, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहनेवाली दृढ़ता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग खूब फूंक-फूंककर क़दम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमिटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज्यादा करते हैं पर काम ज़रा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेज़ों की ऐसी कमिटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद, एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी ख़रीता"—तैयार करता है, जो बाक़ायदा तारीफ़ किये जाने के बाद दाख़िल-दफ़्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ने का, तरक़्क़ी का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं-के-वहीं है। मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें; हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते हैं कि कहीं ज़रूरत से ज़्यादा तेज़ न चलने लगें।

"शाही शान-शौक़त रिआया की ग़रीबी का नाप बन गई"—मुग़ल साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते? आज यह वाइसराय की शान-शौक़त और तड़क-भड़कवाली नई दिल्ली और

प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है ? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की गरीबी । यह भिन्नता दिल को चोट पहुँचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं । तमाम शाही वैभववाली इस ऊँची दूकान के पीछे आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय चित्र है । जोड़-तोड़ मिलाकर और दिखावटी बातों से शाही शान-शौकत बढ़ादी गई है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कम्बख्त लोग हैं, जो ज़माने की हालतो से पिसते ही चले जा रहे हैं । इनके पीछे श्रमजीवी लोग हैं, जो पीस डालनेवाली ग़रीबी में कम्बख्ती की ज़िन्दगी बसर कर रहे है और इनके बाद किसान लोग है जो हिन्दुस्तान का वह नमूना है जिनकी किस्मत मे "अनन्त अंधकार में रहना" ही लिखा है ।

"आह ! कितनी सदियों के भार से दबा हुआ वह झुका खड़ा है---
झुका हुआ है अपने फावड़े के सहारे पर, और देख रहा है जमीन की ओर,
उसके चेहरे पर शून्यता का यह आलेखन तो देखो,
और उसकी जर्जरित पीठ पर यह दुनिया भर का बोझ है ।
× × × ×
युगों की पीड़ायें झांक रही है इस भयावने हड्डियों के पिंजड़े में से ।
वह झुका है या यह महाकाल की दुःखान्त पीड़ा है,
जगत की निर्मातृ शक्तियों के आगे मानवता रो रही है—
अपना दुःख सुना रही है इन हड्डियों के झरोखो से वह मानवता ·
ठगी हुई, लुटी हुई और अधिकार पद से उतारी हुई,
उसका यह विरोध-रोदन भविष्यवाणी भी तो है । "[1]

१. ये उद्धरण अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" नामक कविता से लिये गये हैं । मूल अंग्रेज़ी कविता इस प्रकार है:—

"Bowed by weight of centuries he leans
Upon his hoe and gazes on the ground,
The emptiness of ages on his face,
And on his back the burden of the world
× × × ×
"Through this dread shape the suffering ages look.
Time's tragedy is in that aching stoop,
Through this dread shape humanity betrayed,
Plundered, profaned and disinherited,
Cries protest to the powers that made the world,
A protest that is also prophecy."

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफों का दोष अंग्रेज़ों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कंधों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते; अपनी कमज़ोरी के अनिवार्य परिणामों के लिए दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली, ज़रूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे सुन्दर प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, बल-वीर्य—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फ़क़ीर बने रहना और अफ़सरों की क़दमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नहीं होती; यह तो ऐसे लोगों को छाँट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज में ज़िन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग कैसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं! इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते हैं। ये लोग दूसरी जगह मौक़ा न मिलने के कारण सरकारी या नीम-सरकारी नौकरियों में पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुर्जे मात्र बन जाते हैं; उनके दिमाग काम के सुस्त ढर्रे में क़ैद हो जाते हैं। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते हैं। सार्वजनिक सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरों में भी अधिकतर किसी तारीफ़ के काबिल नहीं होते। क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ अपने बड़े अफसरों की कदमबोसी करना और अपने मातहतों को डाटना ही सीखा है। इसमें उनका कुसूर नहीं है। यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है? नौकरी में उनका कोई आदर्श नहीं रहता; उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखों मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी खास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी में चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करें। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव मुखबिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते हैं, वहाँ लोगों में अधिक वाञ्छनीय गुणों की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओ ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोंवाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती नहीं और वे उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नही चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायँ।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, कालो पर नही। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षणों की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब हैं हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियों के स्पष्ट हितों और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तज़ामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिज़र्व की हुई नौकरियाँ कम करदी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है! और हाँ, अगर फौजो मे अंग्रेजो की संख्या को हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयंकर खतरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा खयाल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफसर यकायक चले गये और अपने महकमो को मातहतो के भरोसे छोड गये तो इन्तज़ाम में कमी ज़रूर आयगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक नहीं हैं, न उनके कन्धों पर कभी ज़िम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान मे अच्छी सामग्री बहुतायत से पडी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम मे लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान मे चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मज़बूत ढाचा ज्यों-का-त्यो बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यो को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगो को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपनेको उसके योग्य बनाते जायँगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे को हमारे सामने से उठाते जायँगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य

में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आँखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना मे इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उसमे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और पर्य्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, यह सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीज़ें नही हो सकतीं। इस सर्विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप मे शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयों से इन्कार करना फजूल है, क्योकि हमे इनको भूलने ही नहीं दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इतनी निरर्थक बातें कही गई और कही जाती है कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोड़ी-सी क़लई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियो को भी 'सुरक्षित नौकरियां' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बड़ी महँगी ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके हैं और हिन्दुस्तान के मामलो मे बहुत दिलचस्पी लेते है, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नहीं की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज है।" चूंकि इस प्रकार की बातें इंग्लैण्ड में अक्सर कही जाती हैं और उन-पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही मे काटे जा सकें, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल ग़लत है कि इस बात पर कभी किसी-ने ऐतराज़ नहीं किया। इसको तो बारबार चुनौती दी गई है और ठीक नही माना गया है, और काफ़ी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी कड़ुवी बातें कही थी। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो

सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को मद्देनज़र रखकर सोचते हों। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है ? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मज़बूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा ज़ाहिर हो जाती हैं जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फ़र्ज़ है और दरअसल जिसके पास से इनकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आम तौर पर इस सर्विस ने अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाज़मी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले है। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इग्लैंड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालाँकि इडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के ख़ास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नज़र आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत-से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ़ ऐसा ही कर सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तक़ाज़ा था। और चूँकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज़ होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल-मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और ग़ैर-जिम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में संतुष्ट रहते और किसी

दूसरे की कुछ दरकार नहीं समझते थे। उनके दिमाग़ संकीर्ण और घड़े-घड़ाये थे, जो परिवर्तनशील संसार में भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज़ होते, उन्हें खरीखोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब युरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्त्तनों ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और सकीर्ण शिक्षा ने उन्हें ऐसी संकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नहीं बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-ज़िम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको क़रीब-क़रीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिसपर सिर्फ़ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमें बिगाड़ देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफ़सर होते थे, जो अपना रोज़मर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालाँकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी क़ायदे के साथ काम करने की आदतें और उनका आपसी भ्रातृ-भाव, उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देते थे। मैसेपोटेमिया में की हुई मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भंडा-फोड़ कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें जाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भंग से जो प्रतिक्रिया इनपर हुई वह भी भोंडी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़नेवाले और तेज़-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुक़ाबिला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुक़ाबिला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीक़ा ही नहीं सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल क़ाबू नहीं रहा था, और उनमें वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में

उनमें रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यों में भी फ़ज़ूल बकवास-सी नजर आती थी। मामूली तौर पर रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। खतरा बड़ी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमजोरियो का भंडा-फोड कर देता है। सविनय भंग एक ऐसा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी, और लड़नेवाले दोनो दलों—कॉंग्रेस या सरकार—में से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। मि० लाइड जार्ज कहते हैं कि खतरे के समय में ऊँचे दर्जे की दिमागी ताकत रखनेवाले पुरुष और स्त्रियों की संख्या बहुत कम मिलती है, और "बाक़ी लोगो की खतरे में कोई गिनती नही। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, जोर की बाढ़ में फ़ौरन डूब जाती हैं, जबकि सिर्फ सबसे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नजर आती है।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इडियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमें से बहुतों की आरम्भिक शिक्षा पुराने शाही ज़माने की थी, जिसकी वजह से उनमे कुछ संस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओ में जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने संकुचित और गूलर के समान 'ऐंग्लो-इंडिया' संसार में निवास करते थे जो न इग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी कदर वे कर ही नही सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नही जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियो की योग्यता का अन्दाज़ा उन चापलूसों और नौकरी के उम्मीदवारों से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगों को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज़ कहकर उड़ा देते थे। लड़ाई के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और खासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनों का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक मे फँस गये थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल अपनेको बना नही सकते थे। वे इस बात को महसूस नही करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और यह कि वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० इलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक क़ायम रहेगा और यह अभीतक काफ़ी शक्तिशाली है और अब भी उसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेजी-राज्य एक सड़ते हुए दाँत के समान है जो अभीतक

मज़बूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नही जा सकता। यह दर्द सम्भवतः जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दाँत निकाला न जाय या ख़ुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूलवालों के दिन इग्लैण्ड मे भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालाँकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख है। हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा गैरमौजू है और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उसका मेल बैठ सकता है और न उसके साथ सहयोग ही हो सकता है; सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस मे अनेक बढ़िया आदमी भी है, अंग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों के पूरा करने में खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फायदा नही है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफसर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम है कि वे अपनेको सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते है। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफ़सर से हुई थी जो अपने लिए बडी ऊँची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नही हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त मे ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेज़खां तथा तैमूर के साम्राज्यो से बेहतर नही है?

इण्डियन सिविल सर्विसवालो की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फर्ज बड़ी होशियारी के साथ अदा करते है, और इसलिए वे अपने दावों पर ज़ोर दे सकते है, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के है। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह कुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजो का, महाजनो और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बडी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे मे वे क्या करना चाहते है यह मै नही जानता, क्योकि अकालो, महामारियों और आम तौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहाँ की आबादी अभी-तक बहुत ज्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मै तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूँ कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीकों का प्रचार किया जाय। लेकिन ख़ुद इन तरीकों का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफी ऊँचा ढंग, कुछ हदतक मामूली शिक्षा और सारे देश में असंख्य चिकित्सालयों की आवश्यकता रखता है। मौजूदा हालत में संतति-निग्रह के तरीके साधारण जनता की

पहुँच से बिलकुल बाहर है। मध्यम वर्ग के लोग इनसे फायदे उठा सकते हैं और मैं समझता हूँ कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में ऐसा कर भी रहे हैं।

लेकिन जरूरत से ज्यादा जन-संख्या-सम्बन्धी यह दलील और भी ग़ौर किये जाने के क़ाबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी जरूरी चीजों की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों के लिए खाना वग़ैरा खरीदने की शक्ति की कि जो भूखों मर रहे हैं। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नहीं है, हालाँकि आबादी बढ़ गई है, खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुकाबिले में ज्यादा मिक़दार में बढ़ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ोतरी का जिस क़दर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षों के) ज्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत नीची है। यह सच है कि भविष्य में यह फर्क बढ़ता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की बढ़ोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढ़ोतरी को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति मे होगा कि वह अपनेको जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे जरूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नहीं मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों मे विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें खास तौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत हो। जो लोग इंडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके हैं उनमे बहुत-से ऐसे हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यक़ीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नहीं की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फ़ासिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह निहायत जरूरी मालूम देता है कि, पेश्तर इसके कि हम नई व्यवस्था का कोई असली काम शुरू करें, सिविल सर्विस और

इस तरह की दूसरी शाही सर्विसों का खात्मा हो जाना चाहिए। इन सर्विसों के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरी के लिए राज़ी हों और योग्य हों, खुशी के साथ आवें, लेकिन सिर्फ़ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नही की जा सकती कि उनको वही फ़ज़ूल की मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे है। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओं की सेवायें चाहिएँ जिन्हें उस हित में हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हों, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के लोभ से नहीं, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना चाहिए। विदेशी सहायकों की बहुत ज्यादा ज़रूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे खयाल मे ऐसे राज-काज चलानेवालों की ज़रूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियो का तो हिन्दुस्तान में कुछ अभाव न होगा।

मै पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालो और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेज़ी विचार-सरणि को स्वीकार कर लिया है। सर्विसो के सम्बन्ध मे तो यह बात और भी साफ ज़ाहिर हो जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसो के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना मे आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नही सकता, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसो के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमाग़ों में घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहों और रिआयतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल मे संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायँ, तो उनमें दूसरे बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वग़ैरा का उनके वर्तमान रूप मे तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फौजी सर्विसो का हाल तो और भी रहस्यमय और भयंकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते है, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो सिर्फ़ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है—बिना कोई चूं-चपड़ किये। कुछ दिन हुए, सितम्बर १९३४ में, हिन्दुस्तान के जंगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ़) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-ऑफ़-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फौजी

भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दखल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते हैं कि बहुत सी लड़ाइयां लड़ी हुई और युद्ध-प्रवीण अंग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियां तोड़नेवाले आलोचकों से सीखेगी ?" उन्होंने और भी बहुत-सी मजेदार बातें कही थीं, और कहीं हम यह खयाल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमें बतलाया गया था कि उन्होंने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फ़ौजी मामलों पर एक जंगी लाट से भिड़ पड़ना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से क़ब्जे में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक दूसरे से भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तान के हितों या साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा कि उनके कामों में दखल न दिया जाय कहांतक जायज है। उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहांतक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी सेनाओं में—अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जरमन, आस्ट्रियन, इटैलियन, रूसी—क़रीब-क़रीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा करदी थी! मशहूर अंग्रेज फौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड वार' में लिखा है कि महायुद्ध में एक बार जब अंग्रेज़ सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फौजी अफसर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय खतरे के वक्त में भी वे लोग विचारों और कार्यों में एकता न ला सके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य-देवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यों की तरह हैं, हमको उनसे बहुत ज्यादा

आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० डेविड लाइड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की गलतियों का—ऐसी गलतियों का, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गई—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। इंग्लैण्ड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊंचे अफसरों-द्वारा फौजों और परिस्थितियों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इंग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी और उसके सहायकों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की ऐसी भूलों के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्राइम मिनिस्टर इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग में कुछ बातें बिठाने के लिए, खासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ सख्ती से पेश आना पड़ा था। फ्रांसीसी मार्शल जॉफर के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उनका सबसे बड़ा गुण एक दृढता-सूचक चेहरा था जो हृदय में दृढ़ता की भावना को पैदा करता था। "यही चीज है जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते हैं कि चतुरता किसी चेहरे में निवास करती है।"

लेकिन मि० लाइड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ्रांस में अंग्रेजी फौज को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नजर आरही थी, वे आखिर तक अपनी जिद पर अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैस्शन्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों में कई महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हजार तो अफसर ही वहाँ काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'बेनाम सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि अपने जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नहीं थी।

अन्य लोगों की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियाँ करते हैं, लेकिन जन-सत्ता-वादी राजनीतिज्ञों को जनता के रुख और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पड़ता है और वे आम तौर पर अपनी गलतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त

करने की कोशिश करते है। पर सिपाही का शिक्षण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहाँ हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए वह दूसरों की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह ग़लती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस ग़लती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योंकि खुद मुल्की शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अंशों तक सिपाहियाना रौबदाब आदि विशेषतायें उसमें मौजूद है।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक बरसो मे एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान मे पैदा हो जायँ। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा बरसों में भारतीयकरण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय मे इंग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से में ही लाखों की फ़ौज खड़ी करदी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए है, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूंककर आगे कदम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस सुसंगठित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार होता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनों के ही अकस्मात् तैयार हो गई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओं से लोहा लेती हुई उन्हे हराने लगीं। आज इन सेनाओं की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियों मे गणना की जाती है। शायद इनके पास सलाह देने के लिए "संग्राम लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण" सेनापति नहीं थे!

हमारे यहाँ देहरादून मे एक फौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियो को फौजी अफ़सर बनने की तालीम दी जाती है। वे बड़ी चतुरता से परेड करते है और कहा जाता है कि बेशक वे बड़े अच्छे अफ़सर बनकर निकलेंगे। लेकिन मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस तालीम से क्या फ़ायदा है, जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय? पैदल और घुड़सवार सेनायें आज-कल उतने ही काम की है जितनी रोमन फ़ौजें होती, और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचण्ड तोपों के युग मे बन्दूक तीर-कमान से ज्यादा कारगर नही है। इसमें शक नही कि उसके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी खामियों के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन है, जबकि ये खामियां हमारी ही कमज़ोरियों के

फलस्वरूप हैं ? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दे और दलदल में फँस जायँ, एकांगी और स्वयं-संतोषी बन जायँ और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारों ओर की घटनाओं से आँख मूंद लें, तो इसमें हमारा ही नुकसान है। अंग्रेज लोग हमारे यहाँ संसार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियों को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफ़ान की शिकायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो हमें कप-कंपा देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुकाबिला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए अंग्रेजों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक, जातिगत तथा मौके से लाभ उठानेवाले लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक ज़रूरी परीक्षा और चुनौती है, और पेश्तर इसके कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर खाक कर देती है।

५५

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच मे करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना मे रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मा अभीतक अस्पताल मे थी, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में तत्पर थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनो मे मेरी बहनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुकाबिले में ज्यादा फुर्सत मिली थी। मेरा खास काम दिन मे दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने मे लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारो मे छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफ़ी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिंदुस्तान के साथ उनके संबन्ध को ध्यान मे रखकर, विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखो का फारसी मे तर्जुमा हुआ था और वह तेहरान और काबुल मे भी छापे गये थे। आजकल के पश्चिमी विचारो और हलचलो से जानकारी रखनेवालो के लिए इन लेखों मे कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान मे लोग अपने घरेलू मामलो मे ही इतने व्यग्र रहते है कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नही दे सकते। मेरे लेखो का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारो से मालूम पडा कि लोगो का दृष्टिकोण व्यापक हो रहा है।

माताजी अस्पताल मे पड़ी-पड़ी ऊबती-सी जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले आने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणो में से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनो मे घोषित की गई थी। पेश्तर इसके कि मैं फिर से जेल मे ठूस दिया जाऊँ, हम चाहते थे कि जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ खयाल न था कि मैं कितने समय तक बाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योकि सविनय-भग काँग्रेस का बाक़ायदा कार्यक्रम था और स्वय काग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थाये ग़ैर-कानूनी थी।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद मे विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था। मैं इस बात से खुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय भी न था।

क्योंकि यह विवाह दो मुख्तलिफ़ बिरादरीवालों में, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, के बीच, होनेवाला था, और हिन्दुस्तान के मौजूदा कानून के मातहत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज़ नही हो सकता। खुशकिस्मती से उन्ही दिनों में पास हुआ सिविल मैरिज एक्ट हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो क़ानून थे, जिनमें से दूसरा कानून, जिसके मातहत मेरी बहन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे धर्मवालो के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू मे से कोई एक भी जन्मतः या बाद मे धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नही होता। ऐसी हालत मे पहले कानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले कानून के अनुसार दोनो को सभी मुख्य धर्मो का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममे से कोई किसी भी धर्म को नही मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक ऐलान बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगो को भी, जिनका कि मज़हब की तरफ कोई रुझान नहीं है, इस ऐलान पर ऐतराज़ है और इस तरह वे इस कानून से फायदा नही उठा सकते। मुख्तलिफ़ मज़हबों के कट्टर लोग ऐसी सब तबदीलियों का विरोध करते है जिनसे अन्तर्जातीय विवाहो के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस कानून के मातहत विवाह करना चाहे, उन्हे या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालो को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमे से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। ज़ाती तौर पर मैं अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हे प्रोत्साहन दिया जाय या नही, एक ऐसे अनुमतिदायक अन्तर्जातीय विवाह-कानून का बनना तो निहायत ज़रूरी है जो आम तौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हे मजहब छोड़ने या बदलने की ज़रूरत न पड़े।

मेरी बहन की शादी मे कोई धूमधाम नही हुई, सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहो मे जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौर पर, वह मुझे पसन्द भी नही है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलो मे पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप मे कोई भी बात करना था भी बिलकुल बेमौज़ूं। इसलिए सिर्फ थोड़े रिश्तेदारो और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुँचा। क्योंकि उन्हें यह लगा, हालाँकि वह था ग़लत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लैटिन अक्षरो व हिन्दुस्तानी भाषा में छापा था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आम तौर पर नागरी या फ़ारसी लिपि मे ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों मे नही लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तैमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगो पर क्या असर होता है। इसे कुछने पसन्द किया, कुछने नहीं। ज्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमंत्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगो के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नही किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तैमाल नही की थी कि मै उसके पक्ष मे हो गया था, हालाँ कि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें है उसमे काफी वज़न है, फिर भी मै भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मै उसके पक्ष मे हो भी जाता तो भी मै अच्छी तरह जानता था कि वर्त्तमान भारत मे उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, मजहबी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलो की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह मै मानता हूँ कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नही होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना ज़माना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी तबदीली है, क्योकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नज़र आयँगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायँगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान मे तो मैं ऐसे रद्दो-बदल का खयाल भी नही कर सकता हूँ। क्योकि हमारा साहित्य केवल समृद्ध और अनूठा ही नही, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बडा गहरा सम्बन्ध रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्त्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते मे बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला क़दम होना

चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि तैयार करने में कोई खास दिक्कत नहीं होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषायें एक-दूसरे के नजदीक आ जायँगी।

हमारे अंग्रेज़ी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो भ्रमपूर्ण बातें संसारभर मे फैला रक्खी है, उनमे से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान मे कईसौ भाषाये बोली जाती है। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नही है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कईसौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा से मामूली जानकारी हासिल कर पाते है। इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' नाम से पुकारते है, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन verna का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी जिन्दगी इस देश मे रहकर भी अंग्रेज़ लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते है। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद करली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जीहुज़ूरों से मालूम करते हैं उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे मे अपने विचार अपने घरू नौकरों से बनाते हैं। साहब लोगों से वे अपनी इस 'कामचलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते है, क्योंकि उन्हे डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नही। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते है कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान मे दो सौ या तीनसौ भाषाये हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी लगभग ५०-६० भाषाये है। मुझे खयाल नही कि कभी किसीने इसके कारण ही जर्मनी मे असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी मे सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी ज़िक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हज़ार ही व्यक्ति क्यों न हो, और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए भाषाओं को अलग-अलग मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोड़ी भाषाओं का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। योरप के इतने भाग को लेकर

मुकाबिला करे तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान में इतने भेद नही मिलेगे। लेकिन हिन्दुस्तान में आम जनता में शिक्षा का फैलाव न होने के कारण यहाँ भाषाओं का समान-स्टैण्डर्ड नही बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। बर्मा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाये ये है—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू किस्म की) बगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलायालम और कन्नड़। इनमे अगर आसामी, उड़िया, सिधी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सो को छोडकर सारे देश की भाषायें इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्यभाषायें जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित है आपस में बहुत मिलती-जुलती है और दक्षिणी द्राविड़ी भाषाये भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हुई है और उनमे सस्कृत शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओ मे पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाये देश के काफ़ी बड़े हिस्से में बोली जाती है। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालो की संख्या की दृष्टि मे देखे तो ये भाषायें ससार की प्रमुख भाषाओं मे आ जाती है। बगला बोलनेवालो की सख्या साढे पाँच करोड़ है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ सख्याये नही है; लेकिन मेरे खयाल में वह अपने सभी रूपो सहित १८ करोड़ भारतवासियो मे बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते है।' साफ तौर पर ऐसी

१. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आँकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्यायें १६३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक हैं या १६२१ के। मेरे ख़याल में तो १६२१ की गणना के मुताबिक़ हैं। इसलिए १६३१ की संख्या तो ज़रूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

१ हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी राजस्थानी शामिल है)	१३६·३	लाख
२ बंगला	४६·३	,,
३ तेलुगु	२३·६	,,
४ मराठी	१८·८	,,
५ तामिल	१८·८	,,
६ कन्नड़	१०·३	,,
७ उड़िया	१०·१	,,
८ गुजराती	६·६	,,

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषायें जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग हैं, इस सूची में शामिल नहीं की गई हैं।

भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मजबूत नीव पर जमी हुई है और फ़ारसी का भी उसपर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है। लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे है। दो बरस पहले, १९३२ में, मैंने एक संस्था के आँकड़े देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसो में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नही मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखनेवालों मे से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते है।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोज़मर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनो दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति मे रुकावट खडी करदी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते है कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही मालूम नही होता कि दोनो लिपियो को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमे से किसीको भी काम में लाने की छूट देदी जाय। संस्कृत व फ़ारसी के शब्दों को ज्यादा काम मे लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पडी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार मे बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता मे जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने-आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यमश्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए है और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी है। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते है और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को भारत की दूसरी बड़ी भाषाओ—बंगला, गुजराती, मराठी, उडिया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाये तो अब

भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क है और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकृत रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हींके जरिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेज़ी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि बहुत करके अंग्रेज़ी ही भारत की आम भाषा हो जायगी; लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती हैं। साधारण जनता की शिक्षा और संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और तिजारती कामों मे, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो में, अंग्रेज़ी ज्यादा इस्तैमाल मे आने लगे। हममें से बहुतों के लिए विदेशी ज़बानों का सीखना व जानना बहुत ज़रूरी है, ताकि ससार के विचारों व प्रगतियों से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों मे अंग्रेज़ी के अलावा फ्रेंच, जरमन, रूसी, स्पेनिश और इटैलियन भाषायें सीखने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेज़ी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमे संसार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमे अपनेको अंग्रेजी सीखने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। केवल अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभीसे एकांगी और संकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारों का एक ही दृष्टि और मत की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते है कि अपने देश के सम्बन्ध में उनके दृष्टि-बिन्दु पर अंग्रेज़ी विचार-सरणि का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दे, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अंग्रेज़ी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमें कुछ हर्ज भी नहीं है। हम कई पीढ़ियों से अंग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवक़ूफ़ी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अंग्रेज़ी आज ससार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय व्यवहारों में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण करले, बशर्ते कि 'अमरेकिन' उसकी जगह न लेले। इसलिए हमे अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना

चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सकें उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी ज़रूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेज़ी की बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आज कल हममें से बहुत-से करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बहुसंख्यक लोगो के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से मूल अंग्रेज़ी (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञों तथा कुछ और विद्यार्थियों के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता मे इस मूल अंग्रेज़ी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मै खुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में लेले। इस बात की ज़रूरत है, क्योंकि आजकल जो नई चीजें निकली है हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रदर्शक शब्द नही, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत फ़ारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्ही सुप्रचलित शब्दों को काम मे लावें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तैमाल का विरोध करते है, लेकिन मेरा ख्याल है कि वे ग़लती करते हैं। वास्तव मे किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीक़ा यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमे शामिल होकर उसीके हो जायँ।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तिफाक हुआ। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल मे थे, अचानक उनपर लकवे का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे है। बनारस की इस यात्रा के मौक़े पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी सस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहाँ उसके सदस्यो से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैने उन्हें थोड़ी-सी सूचनायें दी। आजकल हिन्दी में जो कठिन और आलंकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है उसकी मैने कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के सस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोडे-से लोगों के काम में आने-वाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखकों को अब यह कोशिश

करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली ओजस्विता आ जायगी। इससे उनकी अनुभूति बढ़ जायगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि योरप की भाषाओं के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारों के ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बगला और मराठी साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बगला में कही अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयो पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मै चला गया। मुझे इस बात का जरा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारों मे दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगो मे किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी अखबारो मे प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारों मे मेरे और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी आलोचना के खिलाफ़ बड़ा भारी बावैला मच गया। लोगो को मेरी यह धृष्टता खास तौर पर अखरी कि मैंने हिन्दी को वर्त्तमान बंगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यों कहा। मुझे अनजान—इस विषय मे मै सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दबाने के लिए बहुत-से कठोर शब्द काम मे लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद में पड़ने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगड़ा कई महीनो चलता रहा—तबतक, जबतक कि मै फिर जेल मे नही चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखे खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और सम्पादक कितने ज्यादा तुनकमिजाज है। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नही थे। साफ़ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह में अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारों के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी मे कोई असाधारण बात नही है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानों हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हों। उन्हे आम जनता और उसके हितों से मानों कोई सरोकार

ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा उज्ज्वल रहा, लेकिन वह सदा के लिए उसी-के बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मै यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश मे हिन्दी के अखबार एक ज़बरदस्त ताक़त बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियो व बन्धनो से अपने-आपको बाहर नही निकालेगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

५६

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहन की शादी के क़रीब, योरप से श्रीयुत् विट्ठलभाई पटेल के इन्तकाल की खबर आई। वह बहुत दिनो से बीमार थे और सेहत खराब होने की वजह से ही वह हिन्दुस्तान में जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी। हमारे बुज़ुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच से, लड़ाई के बीच मे ही, एक के बाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गईं जिनमें से अधिकतर मे उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेंट की हैसियत से उन्होंने हासिल की थी, ज़ोर दिया गया था। यह बात थी तो बिल्कुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगो की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ निबाह सकें? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमे बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई मे और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए एक ज़बरदस्त और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर मे मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैने बड़ी खुशी से इस निमंत्रण को मंजूर कर लिया और एक बड़े मजमे में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिकता के बारे मे बहुत कुछ कहा और ज़ोरदार शब्दो में उसकी मलामत की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैने कड़ी निंदा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले ही से इरादा रहा हो सो बात नहीं; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग में गुस्सा भरा हुआ था और जब मै अपने विषय पर ज़रा जोश से बोलने लगा तो इस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पड़ा। मैंने जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओ के दकियानूसीपने पर ज़ोर दिया, क्योंकि हिन्दुओं की जमात के सामने मुसलमानो पर टीका-टिप्पणी करने का कोई मतलब न था। उस वक़्त यह बात तो मेरे ध्यान ही में नहीं आई कि जिस

सभा के सभापति हिन्दू-महासभा के स्तम्भ मालवीयजी हो उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मौजूं न था। मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनों से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नही था और करीब-क़रीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान ही नही रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग मे रोड़ा अटकानेवाली नही थी। लेकिन कुछ दिनों से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नही होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसंद भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात जरा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति खराब हो, उनके निमंत्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफ़सोस भी हुआ।

उस मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमे कि मै फँस गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर मे हिन्दू युवको की एक सभा मे पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण मे ज़िक्र किया था। असल मे ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नही हुआ था और हम एक धोखे ही के शिकार हो गये थे।

मेरी बनारस की स्पीच की रिपोर्ट सक्षेप मे प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा होहल्ला मचा। हालांकि मैं ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन हिन्दू-महासभा के नेताओ के ज़बरदस्त हमलो से मै सकते में आ गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्रायः सम्बन्ध ही नही रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कहने का मौक़ा मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनो मे, यहांतक कि जेल मे भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि उस विषय को किस तरह छेड़ूँ। वह एक बर्र का छत्ता था और हालाकि मुझे बर्र के छत्तों में हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादो मे पड़ना पसंद नही था जो बाद मे तू-तू मै-मै पर आ जावे। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता ही न रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नहीं थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण मे ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनै-

तिक संकीर्णता थी । इत्तिफ़ाक़ से मेरे पास कई अखबारों के कटिंग थे, जो मैंने जेल में इकट्ठे किये थे । इनमें साम्प्रदायिक नेताओं के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे । सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मै किस तरह एकसाथ उसे एक लेख में घुसेड़ दूँ ।

मेरे इस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारों में खूब प्रकाशन मिला । यद्यपि उसमे हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें थी, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनों की ओर से कोई उत्तर न मिला । हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बड़ी जोरदार और तरह-तरह की भाषा मे आड़े हाथों लिया था, वे भी चुप्पी माधे रहे । मुसलमानो की तरफ से सर मुहम्मद इक़बाल ने गोलमेज़-परिषद् सम्बन्धी मेरी कुछ बातो में सुधार करने की कोशिश की, लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध मे तो उन्होने कुछ भी नही कहा । उनके जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-विधायक सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो विषयों का निर्णय होना चाहिए । इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे ।

इन लेखो का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियो पर प्रकट रूप से जो-कुछ उनका प्रभाव पड़ा उसमे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ गया ।

असल मे मैंने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है मै उसे हटा सकूँगा । मेरा उद्देश तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के घोर प्रति-क्रियावादी फिरको से मिले रहते है और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी हैं । उनकी सभी माँगो का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नही है । उनका उद्देश यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलो का भला हो जाय ।

मेरा इरादा था कि इस पुर-दलील हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खींच लिया । हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए आयेदिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल फ़जूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय । मगर कुछ लोगों का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बारबार रटने से अन्त में एकता जादू की तरह आ टपकेगी ।

सन् १८५७ के ग़दर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेजों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी । दरअसल और

जरूरी तौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चले, और आपस मे एक-दूसरे से लड़ते रहे। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताज़ी थी। इस वजह से अंग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लड़ाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियो को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेजो को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेजी-दा शिक्षितो मे हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछड़े हुए थे।

इस राष्ट्रीयता का रूप बडा विनम्र और दब्बू था, पर फिर भी सरकार इसको न देख सकी और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानो की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रखा जाय। मुसलमानो के लिए तो अंग्रेजी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाज़िमी था। अंग्रेजो ने बड़ी दूरदेशी से आगे के लिए इन्तज़ाम कर लिया और इस काम में उन्हे सर सैयदअहमदखा की जोरदार हस्ती से बहुत बडी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दु:खी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र मे, और इस बात से उनके दिल मे दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अंग्रेजो की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरो मे मुसलमानो का कुछ प्रभाव ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगो की तरह वह भी अंग्रेजो के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर योरप-यात्रा का और भी ज़बरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवी सदी के आखिरी जमाने मे योरप, या यो कहो कि, पश्चिमी योरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्दी पर था। योरप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमे वे सब गुण भलीभाति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नही था कि कोई उनसे मुक़ाबिला करके कामयाब हो सकेगा। वह ज़माना प्रगतिशील प्रजातन्त्रीय सुधारवादियो का था, जिनका अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नही कि जो

हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहाँ का शानदार नजारा देखकर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज्यादा गये और वे योरप और इंग्लैण्ड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहाँ की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ़ ज़ाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होंने घर को जो पत्र लिखे उनमें उन्होने वहाँके सम्बन्ध में अपने खयालात ज़ाहिर किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालांकि अंग्रेज़ लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हेच, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको बख्शा नही जा सकता; फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बरताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नही पाते है। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पडती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में कायम की है वह ज्यादा गलत नही है। मै अंग्रेज़ो की झूठी तारीफ़ नही कर रहा हूँ, यदि मै सचमुच यह कहूँ कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हों या नीच, बडे व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढे-लिखे हों या अपढ़, अंग्रेज़ों की तालीम, तमीज़ और ईमानदारी के मुकाबिले में ऐसे है जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुक़ाबिले मे एक गन्दा जानवर। अंग्रेज़ लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है।...... "मै रोज़मर्रा जो-कुछ देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के कयास के बिलकुल बाहर की बात है...परलोक और इस लोक दोनो लोकों की सारी सुन्दर वस्तुयें, जो इन्सान में होनी चाहिएँ, खुदा ने योरप को, खासकर इंग्लैण्ड को, बख्श दी है।"

कोई भी आदमी अंग्रेज़ों की और योरप की इससे ज्यादा तारीफ नही कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होने ऐसी ज़ोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियो को गाढ़ी नींद मे जगाने और उनको आगे कदम बढ़ाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह कदम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछड़ती और कमज़ोर होती जायगी। अंग्रेज़ी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफ़ाज़त, दबदबा और इज़्ज़त। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताक़त इस तालीम के लिए लगादी

१. यह उद्धरण हेन्स कोहन की "हिस्ट्री आफ़ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" से लिया गया है।

और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके हम-खयाल हो जावें। मुसलमानों की सुस्ती और झिझक का दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नही चाहते थे कि उनके रास्ते मे कही बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवें। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओ-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया। शिक्षा मे ५० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों मे सरकार की पूरी सहायता पर आँखें गड़ा रक्खी थी और वे कोई ऐसा जल्दबाजी का काम नही करना चाहते थे जिससे उन्हे इस मार्ग मे जोखम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा को धता बताई। ब्रिटिश सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानो को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष ज़ोर देने का सर सैयद का निर्णय दरअसल बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगो के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण म कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाज़िमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पडता, क्योकि हिन्दुओं मे शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी माली हालत भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमे हिन्दुओ की तरह कोई मध्यम-वर्ग नही बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हो, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रांति की ओर ले जानेवाली थी। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्रविरोधी जागीरदाराना विचारादर्श से जकड़े हुए थे, जब कि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू अंग्रेज प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनो ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम नीति थी, जिसमें मुट्ठी-भर धन-वान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति, जो उद्योग-धधो और व्यापार मे धन लगाने का साधन ढूंढता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नज़र हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक थे। टर्की और आरमीनियनो के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूंकि डिस-

रैली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानो को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब काँग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमें उन्होंने काँग्रेस की बहुत नरम माँगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नही है। सरकार ने क़ानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों से उन अधिकारियो को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ है, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज मे अपने ऊंचे रुतबे की वजह से असेम्बली मे बैठने के काबिल है। कुछ लोग पूछ सकते है कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले है ? काबलियत का खयाल क्यो न रक्खा जाय ?......मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और जरूरी योग्यता रखते हों, उनपर हकूमत करें और उनकी जानोमाल के मुतल्लिक क़ानून का भेद बनाने की ताकत रक्खें ?'

"वाइसराय ऐसा कभी नही कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतो मे निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लैण्ड के अमीर-उमरा के साथ दस्तर-खान पर बैठना पड़ता हो।......क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने के लिए जो तरीक़े सरकार ने अख्त्यार किये हैं, वे लोगो की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये है ? क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नही है ? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[1]

ये थे भाव उस व्यक्ति के जो भारत मे 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुकेदार या आगरा, बिहार या बंगाल प्रान्त के बड़े-बड़े जमींदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नहीं है। काँग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे। लेकिन

१. हेन्स कोहन की 'हिस्ट्री इन दी ईस्ट' से उद्धृत।

यह तो साफ़ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से आसूदा मध्यम श्रेणी के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसल्मान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था।

हिन्दू ज़मीदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग की माँगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन मांगो के बनाने मे भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज़ लोग हमेशा की तरह ज़मींदारो का साथ देते थे। दोनो ओर की साधारण जनता और दोनों निम्नश्रेणी के मध्यमवर्ग की ओर तो किसीका कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद की प्रभावशाली और ज़ोरदार हस्ती का मुसलमानों पर बहुत असर पडा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदो और ख्वाहिशो का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि तरक्क़ी की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मक़सद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक ज़ाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते है कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही है और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं, सिर्फ दाल-भात मे मूसलचन्द हैं। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते है कि दुनिया बदलती रहती है और कॉग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ मे विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए मौज़ूं और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होने खुद ही अपने संदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सदेश को नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के माफिक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गई उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसल्मानो मे ऐसी ऊंची क़ाबलियत के लोगो का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कॉलेज ने बड़ा अच्छा काम किया और उसने एक बड़ी तादाद मे अच्छे क़ाबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस साँचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर ज़मीदाराना खयालात का असर बना ही रहा और साधारण विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। हिम्मत

के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। वह तो अगर उसे कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमें अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाण-स्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फेज कहते हैं और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिलकुल उतार फेंका। जहाँ उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह तंग दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही महदूद न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही खतरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखा के राजनैतिक संदेश के गलाघोंटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौडी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इंडियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिक रूप से कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नहीं मिलाया। राज-नीति की दुनिया में भविष्यवाणियाँ करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थीं, तोडने और कॉंग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कॉंग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ

और खतम भी हो गया और अपनी विरासत मे एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड़ गया ।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजो पर पहुँचे जाहिरा तौर पर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे । आगाखां मुसलमानों के नेता के रूप मे प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी-तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे, क्योकि आगाखां कोई मध्यम-वर्ग के नेता नही थे । वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे । ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेज़ों के लिए वह अपने आदमी बन गये थे । बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की भांति ज्यादातर योरप मे ही पड़े रहनेवाले । इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मज़हबी या फिरकेवाराना मामलो मे संकीर्ण विचारों से बहुत दूर थे । उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमीदार और बढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायँ; साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरों के साथ ज़ाहिर की जाती थी । सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखा ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "वंग भग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे मे मुसलमानों की क्या राय है ताकि जल्दबाज़ी में हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधाये न दे दी जायं जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दे---जो बहुमत ब्रिटिश राज की दृढ़ता और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए, जिसकी राजभक्ति मे किसीको सदेह नही हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था ।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन ज़ाहिरा हिमायती ताक़तो के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियां भी काम कर रही थी । नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिन-दिन लाज़िमी तौर पर असंतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जा रहा था । आगाख़ाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पडा और उन्हे अंग्रेज़ों को एक खास ढग की चेतावनी भी देनी पड़ी । जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अक मे उन्होने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय और दोनो सम्प्रदायों के नरम खयाल के लोगो को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसल-मान दोनो जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियो से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय । इसलिए यह साफ़ है कि आगाख़ाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नही ।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानो की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। संसारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आगाखाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ़-कॉलेज का भी रुख़ बदल गया। नये नेताओ में सबसे अधिक ज़ोरदार अली-बन्धु निकले; ये दोनो ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख्तारअहमद अंसारी, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानो के राजनैतिक मामलो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण में मि० जिन्ना भी भाग लेते थे। गाधीजी ने इनमे से अधिकांश नेताओ (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आम तौर से मुसलमानो को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनो मे इन लोगो ने हमारी लड़ाई मे खासा प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनो क़ौमो के साम्प्रदायिक और पिछडे हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र मे बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, खासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह काग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानो की साम्प्रदायिक सस्थायें मुस्लिम जनता मे अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक ज़बरदस्त गिरोह सदा कॉग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने मे कोई कसर नही रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियों की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह मे भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुतसे लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनो ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलो की सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नहीं सकती थी

जो सबको मिल जाती, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हींके बारे में लड़ते-झगड़ते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र मे थे, क्योंकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्हींने घेर रक्खी थी और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियों की लड़ाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो ठेठ साम्प्रदायिक तो नहीं थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ जरूर रहा था। पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तो के मुसलमान गरीब, कर्ज़दार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनो की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों मे प्रान्तीय धारा-सभाओं मे पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले मुख्तलिफ़ बिलों पर, खासकर पंजाब मे, जो बहसे हुई है उनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इन युक्तियों का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओ ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योकि वह राष्ट्रीयता का नक़ली चोग़ा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसकी मुखालफ़त न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौक़े आये है, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओं के खिलाफ हिन्दुओं ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनो ही दलों के सम्प्रदायवादियो द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों की सबसे अजीब नुमाइश तो गोलमेज कांफ्रेन्स में हुई। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामजद करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आग़ाखां के नेतृत्व मे तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नहीं बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आग़ाखां और उनके गिरोह का लार्ड लायड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही

नही, इन लोगों ने गोलमेज परिषद में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े दुःख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होने, खासकर पंजाब के लिए, स्वतंत्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध माँगे जो अंग्रेजों के हक में संरक्षण थे। उन्होने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नों में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नही, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होने नुकसान पहुँचाया और स्वतंत्रता के पक्ष के साथ विश्वास-घात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग मे कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो यह बात मालूम पड़ती है कि दोनो तरफ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नही है। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते है और उसमे बेजा फ़ायदा उठाते है। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनो दलो के साम्प्रदायिक नेता निस्सदेह आग़ाखा की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायँगे कि नरम विचारवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियो के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात ज़ाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहे, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों मे सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते है। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनो को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान मे रखने की है कि आग़ाखाँ का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक धनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज मे, जिसके सभा-पति लार्ड लायड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहां आपने लार्ड लायड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंजरवेटिव कांफ्रेन्स में ब्रिटिश जहाजी बेड़े की शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की

रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफ़ाज़त के लिए इतने आतुर थे कि वह इंग्लैण्ड की फ़ौजी ताक़त बढ़ाने के काम में मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ में, यह खबर लगी कि लन्दन मे, खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था मुसलमानों को अंग्रेज़ी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बाँध देना। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखां और लार्ड लायड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पडता है कि शाही मामलों मे आगाखां और लार्ड लायड दोनों इस तरह एक जान दो कालिब है जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र मे सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर। यह बात भी गौर करने के क़ाबिल है कि इन महीनो में, जबकि ये दोनों एक-दूसरे मे इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लायड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओं के विरुद्ध इसलिए एक अत्यंत कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमज़ोरी दिखलाई थी।[१]

इधर पिछले दिनो कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओं के व्याख्यानो और वक्तव्यों मे एक मज़ेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नही है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगो की शायद यह राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम सस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियों की घोर असम्बद्धता पर खूब ज़ोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाज़िमी तौर से यही निकलता है (हालांकि वह इतने खुले तौर पर नही रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियो में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान मे अंग्रेज़ों का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत ज़रूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा मे बह रहे है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हे यह आशा है कि चूकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृतिया' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं!

१. अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज़ लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख्ता करना है।

हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नहीं बल्कि डावांडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित ! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्लियाना है; यह तो ध्यान मे लाने लायक भी नही है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके ज़रिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग मे, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकनेवाली जातियाँ एकसाथ मिलकर रहती थी। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल मे भी कुस्तुन्तुनिया मे ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन, ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वग़ैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थीं। यह उस देशेतर भावना का प्रारम्भ था जो, अबसे कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशो का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज़ नही है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख़्त्यार करले। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार; अन्त में मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतों से, खासकर आर्थिक असलियतो से, मुँह छिपाने की एक ज्ञात या अज्ञान इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नही है। भाव-वृत्तियाँ कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती है और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुज़र नही कर सकते कि वे हमें इतनी तर्क रहित मालूम होती हैं। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियो की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारों मे इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमे विश्वास रखते हो, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह ग़ायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी क़िस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी ज़माना तेज़ी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनोतक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोड़ें, और शायद बहुत कालतक छोड़ें भी नही, मगर मशीनो का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वग़ैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार-व्यापी विप्लव ही

इसको रोक सकता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों में जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनों की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करें, तो यह मत-भेद क़रीब-क़रीब लुप्त हो जाता है, क्योंकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारों मे भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान में इस समय असली झगड़ा हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति का नही, बल्कि इन्हीं जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक सस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-मस्कृति' की, जैसी जो कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते है, उन्हे हिन्दू-संस्कृति से घबराने की जरूरत नही, लेकिन उन्हें पश्चिमी दैत्य का मुक़ाबिला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमे कुछ भी सन्देह नही मालूम होता है कि हिन्दुओं या मुसलमानो के, आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफ़सोस न होगा। जिस समय रेल वग़ैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयदअहमद ने भी अलीगढ़-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानों के लिए जोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था।

लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज़ को पकड़ने के और कोई चारा नही रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममे से किसीके लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

लेकिन यह 'मुस्लिम सस्कृति' आखिर चीज क्या है? क्या यह अरबी, फ़ारसी, तुर्की वग़ैरा के महान् कार्यो की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नही पड़ता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का ज़िक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओ का, और खासकर फ़ारसी का, प्रभाव पड़ा है। लेकिन फारसी के प्रभाव मे धर्म का कोई निशान नहीं है। फारसी भाषा, और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्परायें हज़ारों वर्षों के समय मे हिन्दुस्तान में आई और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका ज़ोरदार असर पड़ा। फारस तो पूर्व का फ़ांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस सब देशों में फैलादी। यह हम सब भारतीयों की एक-समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियों और देशों के पुराने कारनामों का गर्व मुसलमानों को एक-साथ बांधनेवाले सूत्रो मे शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसीको इन

जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों से हसद है ? जबतक वे इसे याद करें और दिल से उसका पोषण करना चाहें तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभीके लिए समान रूप से गौरव की चीज़ है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि योरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बाँध देनेवाली यही चीज है। मैं जानता हूँ कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक़्त में अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों के साथ रही है। मैं निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूँ पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आख़िर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज़। लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिनपर फारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम-संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नज़र आते हैं। एक खास तरह का पायजामा, न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा; डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूँछों के बनाने का एक खास तरीका; और एक खास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मो-रिवाज हैं। धोती पहनना, चोटी रखना; और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नतायें भी ज्यादातर शहरी हैं और अब कम होती जा रही हैं। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के शिक्षितवर्ग में डाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसंद की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्कों ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रक्खा है); मुसलमान स्त्रियाँ साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीकों को पसन्द नहीं करती और डाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है; लेकिन मैं अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओं को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हाँ, डाढ़ियों के विषय में मैं यह

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फ़ौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है।

मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया था तो मुझे बड़ी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने ज़माने का रोना रोया करते हैं और उन चीज़ों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं जो उनके हाथ से खिसकती जा रही हैं। मैं प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूँ, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बातें है जो सुन्दरता मे अनुपम हैं। ये सदा रहेगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो नही पकड़ते, बल्कि ऐसी चीज़ो को पकड़ने दौड़ते है जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।

पिछले कुछ वर्षों मे मुसलमानो को बार-बार हादसे पहुँचे हैं और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये है। इस्लाम के बानी उस टर्की ने खिलाफत को ही खतम नही कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० मे बडी बहादुरी से लड़े थे, बल्कि वह तो मज़हब से भी दूर-दूर क़दम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खाम-खयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ में कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखली गई है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिश्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रक्खे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे है, सिवा खास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे हैं। हर जगह मज़हब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप मे प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' हैं जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों को लिये हुए हैं। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य मे क्या वे सिर्फ़ अंग्रेज़ों के कृपा-शासन की छत्रछाया में मस्त पडे हुए उत्तर-भारत में ही मिलेगे?

उन्नति अगर इसी बात मे है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

५७

दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सज़ा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वग़ैरा का दौर-दौरा था, और खुद कांग्रेस भी तब ग़ैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्त्यार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मैं जमकर कोई काम नही कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना कुछ हो सके कर डालूं।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहाँतक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयो से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियों का कारण बने। अपने प्रान्त मे और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से निमन्त्रण आ रहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा तूफानी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग कमिटी के सदस्यों से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मैं सार्वजनिक सभाओ में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में एक बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जुलूस निकाला गया; दिल्ली की सभा में तो इस कदर भीड़ थी जितनी मैंने पहले कभी वहाँ देखी ही नहीं। वास्तव मे इन सभाओं की सफलता से ही यह स्पष्ट हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओ का बारबार होना कभी सहन नहीं करेगी। दिल्ली मे, सभा के बाद ही, बड़े जोरो की अफ़वाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है, लेकिन मैं बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहाँ मैंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियो के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय में, जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नही था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय।

कांग्रेसवालों में मुझे एक ज़ोरदार प्रवृत्ति यह नज़र आई कि उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामों में पड़ जाना जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य में हमने इलाहाबाद में, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की मीटिंगें कीं। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था थी, और चूंकि हमारा उद्देश क़ानून की अवज्ञा करने का नहीं बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाक़ायदा नहीं बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यों को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओं को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की नीयत से बुलाया था। हमारी मीटिंगें खानगी तो होती थीं, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए आखिरी दमतक हमें इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग संसार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, समाजवाद वग़ैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय भंग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भंग की कोई सम्भावना नहीं थी और व्यक्तिगत सविनय भंग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला था या एक बहुत ही संकुचित रूप में जारी रह सकता था। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता था, क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरक़रार था। इसलिए बाक़ायदा सविनय भंग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्त्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर व्यर्थ ही गिरफ्तार न हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ्तारी हो जाय तो उसे खुशी के साथ मंजूर करलें। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है। उस वक़्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेन्स के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था

और यह साफ़ ज़ाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई ग़ैरक़ानूनी बात नहीं थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियाँ तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्त्ता गाँवों में पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी-आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सज़ा देदी जाती। अपने बहुत-से साथियों की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊँ। लेकिन कई और ज़रूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौक़ा ही न रहा।

इन महीनों में वर्किंग कमिटी के सदस्य सारे देश की स्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नहीं कि वह ग़ैरकानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कॉंग्रेस कमिटियाँ और कॉंग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी; क्योंकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति; और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी अखिल-भारतीय दौरे में मशगूल थे। हमने उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफ़ तौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यहीं गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नहीं नज़र आता था जो सबको पसन्द हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखने और बन्द करनेवालों, के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष में नहीं थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कॉंग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कॉंग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालाँकि इस समय तक वर्किंग कमिटी के सदस्यों की इस तरफ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था; इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल

तक असली सूरत में आनेवाले नही थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी जाती राय में तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नही थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस दर्मियान मैं लगातार लेख और वक्तव्य अखबारो मे भेजता रहा। कुछ हद तक मुझे अपने लेखो को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत मे लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे भांति-भांति के कानूनो का घातक जाल दूर तक फैला हुआ था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नही थे। वैसे तो सब अखबार मेरी खातिर रखते थे और बहुत-सी बातो में मेरे हक में रिआयत भी कर जाते थे। लेकिन हमेशा नही। कभी-कभी वक्तव्य और लेखाश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी १९३४ में, जब मै कलकत्ते मे था, एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूंकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' और कोई नही थे सिवा कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय के।

अखबारो को दी गई कुछ मुलाकातो और वक्तव्यो मे मैंने कई दलो और व्यक्तियों की बड़ी कड़ी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज़ हुए। इस नाराज़ी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार मे गाधीजी का भी हाथ था। खुद गांधीजी ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया था और प्रमुख कांग्रेसियो ने भी कुछ घट-बढ़ मात्रा मे उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालाँकि हमेशा ऐसा नही होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावनायुक्त वाक्यो का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचको को गलत तर्क और समय-साधक चालों को काम में लाने का मौक़ा मिल जाता था। असली प्रश्नों को दोनों दल बचा जाते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के साथ ऐसा वाद-विवाद शायद ही कभी होता जिसमें तनातनी और जोश-खरोश की

नौबत आय, जैसाकि उन देशो को छोड़कर, जहाँकि फासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यों की तेजी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मैं क़रीब-क़रीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओ पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओं को लिये बैठे है। व्यक्तिगतरूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का ख़याल नही होता था, क्योंकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नही हो रही थी। जबसे गांधीजी मेरे राजनैतिक मानसपटल पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामों के डर से अपने हृदयंगत भावों को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने—राजनैतिक क्षेत्र मे पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रो मे इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक हो जाना सम्भव है)—मुझे अक्सर कठिनाई मे डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ संतोष भी प्रदान किया है। मै समझता हूँ, केवल इसी कारण हममे से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों मे बचे रहे है। यह खयाल भी, कि लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सान्त्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरो से भुला दिये जाने का खयाल, मै समझता हूँ, सब खयालों से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दु खमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है? कितनी ही बार हरेक बात बिगड़ती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारो ओर रहने-वाले लोगों को देखते है तो तरह-तरह की शकाये आ घेरती है। मुझे भय है, कि मुख्तलिफ़ घटनाओं और परिवर्त्तनो, यहाँतक कि व्यक्तियों और दलों पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनो से तो मैं ऐसे लोगों पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओं पर संजीदगी से विचार नहीं करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भूल जाते हैं और उनका जिक्र करना भी बेजा समझते है; क्योंकि इन प्रश्नों का असर उनके पैसों या उनकी चिरपोषित धारणाओं पर पड़ता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय,

और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने अपनी और दूसरो की बेवकूफ़ियों पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नही खोया है।

परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढता की परीक्षायें मान ली जाती है। जेराई हॉपकिन्स की ये सुन्दर पंक्तियाँ अनेक हृदयो में गूँजती है :—

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मै करूँ विवाद;
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
फलते और फूलते है क्यो पापी करकर पाप ?
मुझे निराशा देते है क्यो सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे वे पड़े मौज में है जीवन के विभव-विलास !
और, यहाँ मै तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ !
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ।"[1]

विश्वास—उन्नति मे, शुभकार्यो मे, आदर्शों मे, मानवी सज्जनता मे और मानव भविष्य की उज्ज्वलता में। क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नही है ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई में पड़ जायँगे। पर हमारे अन्तस्तल मे कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है, अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय।

१. **मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—**

"Thou art indeed just, Lord, if I contend
With thee; but, sir, so what I plead is just.
Why do sinners' ways prosper ? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O thou my friend,
How wouldst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me ? Oh, the sots and thralls of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend,
Sir, life upon thy cause...."

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियो तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे; लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मै स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नही कही जा सकती थी। मै जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नही है, लेकिन मै यह हमेशा खयाल करता रहा कि कॉंग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत मे मुझे, बिना कॉंग्रेस को जवाबदेह ठहराये, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नही करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मै उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या? जिस चीज़ को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नही था। अगर दोनों में झगडा होता तो मै वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे देना इससे कही बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी गैरकानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मै उससे इस्तीफ़ा कैसे देता?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा खयाल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गाधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमे उनकी दी हुई एक इटरव्यू का वर्णन था। इटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होने मेरे कार्य-कलापो पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ आशा प्रकट की थी, और यह भी कहा था कि मै कॉंग्रेस को इन नवीन मार्गो मे नही घसीटूँगा। अपने बारे मे इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू मे आगे दी हुई—जमीदारी-प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अग है। इसने मुझे बहुत हैरत में डाल दिया, क्योकि बड़ी-बडी जमीदारियों या ताल्लुकेदारियों की वकालत करनेवाले आज बहुत कम मिलेगे। सारे ससार मे ये प्रथायें नष्ट हो चुकी है और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे है कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और जमीदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।'

१. सर्व-बंगाल जमींदार कान्फरेन्स की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी०

यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापो के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गांधीजी इसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य मे मैं कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूंगा। क्या मैं वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूँ ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही न था, और कुछ हफ्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही हो गया।

घरेलू झगडों मे मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मा का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभीतक रोगशय्या पर पड़ी थी, पर उनके जीवन का कोई खतरा नही मालूम होता था। मैने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलो की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनो से परवा नही की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ में पड गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नजर नहीं आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मैं तो करीब-करीब उस वक्त के इन्तज़ार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान ससार मे धन और सम्पत्ति बड़ी उपयोगी चीज़े है, लेकिन जिस मनुष्य का उद्देश बहुत ऊँचा हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती है। धनवान आदमियो के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमे कुछ खतरा हो, उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्जी के मुताबिक़ उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे ज़ब्त कर सकती हो ? इसलिए जो थोडा-बहुत मेरे पास था उससे भी मै छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थी और मुझे जरूरत के मुताबिक कमा लेने की अपनी शक्ति मे विश्वास था। मुझे सबसे बडी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन की इस सान्ध्यवेला मे तकलीफ़ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के

ग्नु० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १६३४ को, अपने भाषण में कहा था—"ज़ाती तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन ज़मींदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैण्ड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त (Permanent Settlement) **के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मीनों के ज़मींदारों से ज्यादा आसूदा हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।**

ढंग में कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फ़िक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका योरप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई ख़ास ज़रूरत नही थी। कम-से-कम हमारा ख़याल ऐसा ही था, क्योंकि हमें कभी रुपये की सच्ची कमी का तजुर्बा नही हुआ था। मुझे यकीन है कि अगर कभी ऐसा समय आया जबकि हमें रुपये की कमी महसूस करनी पड़ी तो मुझे निश्चय है कि हमें दुःख ही होगा। एक ख़र्चीली आदत जिसका छोड़ना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबें ख़रीदना।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के ज़ेवर, हमारी सोने-चाँदी की चीज़े और छोटा-मोटा गाड़ियो सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने ज़ेवर बेचने का खयाल पसन्द नही आया, हालाँकि क़रीब १२ साल से उसने उन्हे नही पहना था और वे बैंक मे पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लडकी को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद जिले के गाँवों मे हमारे कार्य कर्त्ता कोई गैर कानूनी कार्रवाइयाँ नही कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियाँ हो रही थी। इन गिरफ्तारियों का तकाज़ा था कि हम लोग उनका अनुकरण करे और उन गाँवो मे जायँ। युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मत्री रफीअहमद किदवाई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतत्रता-दिवस नज़दीक आ रहा था। उसे दरगुज़र नही किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने मे, आर्डिनेसो और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जाता रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कॉंग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-क़रीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए; लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न हो सकी। मुझे आम तौर पर लोगों मे ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नज़र आई कि जिनके फलस्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आखिरकार मैंने स्वतत्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के स्थानीय लोगो के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे जिले मे काफ़ी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा ख़याल था कि इस स्वतंत्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायँगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था।

इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए, श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज़ की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इनका स्वागत ही किया गया होता—और ख़ासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था और इस बात से दुःखी हो रहा था कि ज़रूरत के वक्त बाक़ी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुज़र करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़ता। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासंभव एकसाथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा कि जब मैं जेल चला जाऊंगा तो इसको डाक्टरों और इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूंकि गिरफ्तारी नजदीक नज़र आ रही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाक़ी बातें तो बाद में भी तय की जा सकती थी।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतंत्रता-दिवस की सभाओं से हम पहले ही लौट आना चाहते थे।

५८

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद मे अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह को मैं कुछ बातें बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलनेवालो का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और सम्हलना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजो के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, एक गड़गड़ाहट की आवाज़ आने लगी। मुझे भूकम्पो का कुछ अनुभव नही था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैंने जल्दी ही महसूस कर लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हे भूचालों के बारे मे बतलाने लगा। मेरी बूढी चाची ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझसे मकान के बाहर दौड आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गभीर बात नही समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंजिल मे अपनी माता को खाट पर पड़ी हुई, और वही अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड जाने और अपनी रक्षा का इन्तजाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफ़ी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गये। उन्होंने चन्द मिनटो की बात-चीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हे जल्दी ही क़रीब-करीब भूल-से गये। उस वक्त हम नही जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानों के लाखो आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मै कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से में होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प-जनित घोर अनर्थ के बारे में कोई खबर नहीं थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम में लग गये। अनेक डाक्टरो से बारबार मिलना पड़ा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ते

आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नही मिले थे। चारों तरफ दमन के कारण लोगों के दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जबतक मैं वहां रहा, मुझे काफ़ी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कही उनपर आफत न आ जाय; वे बहुत आफतें झेल चुके थे। अखबार भी, वहां के, अन्य प्रान्तों के अखबारो से अधिक फूक-फूककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय मे भी वैसी ही शंका और उलझनें थी, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागों में। वास्तव मे यह शंका ही थी, भय उतना नहीं, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैनिक कार्यो मे बाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत जोरों से उदय हो रही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप मे और आपस में इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थीं कि इन गिरोहों में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतंकवादी आन्दोलन के बारे मे, जिसपर सरकारी हलको का बहुत ज्यादा ध्यान खिचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर मे खूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौका ही। जहातक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नही रह गई थी और न आतंकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमे कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों का सयम छुड़ा दिया था और उसमे बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनो तरफ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतंकवादियो की तरफ से तो यह काफ़ी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लड़ाई जारी रक्खी जाय; बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाबिला करके उसे रोका जाय। आतंकवादी कार्यों मे साबक़ा पड़ने पर कोई भी सरकार उनका मुकाबिला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नहीं रह सकती। लेकिन शान्ति और गभीरता के साथ नियंत्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अतिरंजित अनाचारों के जो अपराधियों और निरपराधों पर अन्धाधुन्धी से किये जायँ—खासकर निरपराधो पर, क्योंकि इनकी संख्या जरूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय मे गंभीर और धीर रहना आसान नही है। आतंकवादी घटनाये बहुत कम होती जा रही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी, और यह बात उन लोगों के धैर्य्य को डावांडोल करने के लिए काफ़ी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनायें खुद कोई बीमारी नहीं है, बल्कि बीमारी का एक लक्षण

है । जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है ।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते हैं । साहसी नवयुवकों का गुप्तमंत्रणा और खतरे की तरफ हमेशा झुकाव हो जाता है; उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं । दुनिया में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाजा है । इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं;—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देह-भाजन बना देने के लिए काफ़ी होता है । अगर इनकी क़िस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इस बात की तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दों की जमात में या नज़रबन्दों की किसी जेल में धर दिये जायं ।

न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश-राज्य की गौरव-पूर्ण सफलताओं में गिने जाते हैं । मैं खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूँ । मुझे जीवन में अनुशासन पसंद है और अराजकता, अशान्ति और ढीला-ढालापन नापसंद । लेकिन कटु अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे हृदय में शंका पैदा करदी है जिनको राज्य और सरकारें किसी राष्ट्र पर ज़बरन लाद देती हैं । कभी कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक का प्रतिबिम्ब । कभी-कभी तो, जो चीज़ न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है । कोई सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फ़ौजी शासन के समान है, क़ानूनी शासन नहीं । कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बारबार प्रयुक्त हुए हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' और 'अभय' । न्याय सिर्फ़ क़ानून से कुछ बेहतर चीज़ थी और व्यवस्था लोगों की निर्भयता थी । निर्भयता सिखलाने की यह भावना सशंकित जनता को ज़बरन व्यवस्था का पाठ पढ़ाने से कितनी अधिक वाञ्छनीय है !

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैंने तीन सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ते में किया था, मैंने (इस बार भी) आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियां बतलाई, और इसके बाद में उन तरीको पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल में अख्त्यार किये थे। मैं काफ़ी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणो से मै बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचाई वह था वह तरीक़ा जिसके ज़रिये सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमन कर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ते में मुझपर जो मुकदमा चला उसमे मेरे यही तीनो भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सज़ा इन्हीका परिणाम है।

कलकत्ता मे हम कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नज़दीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मै तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार आना था, और वह इस स्थान को देखने के लिए खास तौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी लड़की को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनो बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमे परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल ख़िलाफ था कि वह सरकारी या नीम-सरकारी यूनिवर्सिटियो मे दाखिल हो, क्योकि मै उन्हे नापसन्द करता था। इनके चारो ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमें मे पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली है और आगे भी निकलते रहेगे। पर ये थोड़े-से अपवाद यूनिवर्सिटियो को, नौजवानो की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नही बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातवरण मे बचा जा सकता था। इसलिए हमने वही उसे भेजने का निश्चय किया, हालांकि कुछ बातो मे वह अन्य यूनिवर्सिटियो की मानिन्द बिलकुल अप-टू डेट और सब तरह के सामानों से पूर्ण नहीं थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितो की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। जेल से छूटकर वह अभी आये ही थे और लाज़िमी तौर पर उन्होने पीड़ितों की सहायता के ग़ैर-सरकारी काम मे सबसे आगे क़दम रक्खा। हमारा वहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार

उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह टूटा-फूटा पड़ा था; पहले वह ईंटों की एक बडी भारी दुमंज़िला इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगों की तरह हम भी खुले मे ही ठहरे।

दूसरे दिन मै मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभीतक, सिवाय कुछ बड़े रास्तों के, कही भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तो को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थी। इनमें कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओ में थी, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत मे बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरो का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस मे थे वे भी और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ। लेकिन दूसरे साथियो को, और मुझे भी, कोई कारण नही नज़र आता था कि भूकंप मे भी हमारे प्रोग्राम मे क्यों खलल पड़े? बहुत-से लोगों का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाज़ी और गिरफ्तारियाँ कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गाँवों मे और कुछ दूसरे शहरो में गिरफ्तारियाँ की गई।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैने भूकम्प के सम्बन्ध मे एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य में मैने बिहार-सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनो तक उसने बताई थी। मेरा इरादा भूकम्प-ग्रसित इलाको के अफसरो की आलोचना करने का नही था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी महाकठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरो के भी दिल हिल जाते। और मुझे इसका अफ़सोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दो से ऐसा आशय निकाला जा सकता था। लेकिन मैंने यह तो जरूर बड़े जोरो से महसूस किया कि शुरू में बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियोंने कुछ ज्यादा कारगुज़ारी नहीं दिखलाई, खासकर मलबा हटाने में, जिससे बहुत-सी जानें बच जाती। खाली मुगेर शहर में ही हज़ारों की जानें गई, और तीन हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलबे का पहाड़-का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हज़ारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प

के पीछे कुछ ही घण्टो मे इस काम में लगाया जा सकता था । भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे । सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तज़ाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दब गये थे उनकी जान बचाने में उसने तत्परता नही दिखाई । इन इलाक़ों में म्यूनिसिपैलिटियां तो रही ही नही थी ।

मै समझता हूँ कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-ग्रसित इलाकों के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे । लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय मे की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नही बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गई थी । इस बारे में किसीने भी सरकार पर यह दोष नही लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई ग़लत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने में आनाकानी की । यह तो एक अजीब और पस्तहिम्मत कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूलें क्षम्य थी । जहाँतक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल में हूँ), बिहार सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी से काम किया ।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनों बाद बिहार के कुछ लोगो ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया । भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य क़रीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई । यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई है, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए ।

हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशो मे जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नही करता । यह फ़ौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती । सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊँचे हाकिम-हुक्काम, कोई ग़लती नही कर सकते । ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राज-द्रोह है ।

इसमें विचित्रता यह है कि शासन मे असफलता और अयोग्यता का आरोप बहुत ज्यादा बुरा खयाल किया जाता है, बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के । निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गई है और अमल में इसकी परवा भी नही करती ।

आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह क़रीब-क़रीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक़ और कमज़ोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज़ पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार था लेकिन अगर उसे कोई बेवकूफ़ या नालायक कहे तो वह गुस्सा होकर मारने को दौड़ता था।

अंग्रेज़ लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश में उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज़ यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत में किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें और भी हैं।

हाँ, अंग्रेज़ों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की भी मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान में सम्भव होनेवाली किसी हालत से कहीं बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नहीं। इससे भी ज्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज मिलने की सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की शक्ति इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भड़कदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूंकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार,

भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ भी थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतंत्रता का सच्चा औचित्य इसीमें है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सांस्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम होता है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत मे मनमानी करने की ताकत भले ही रखते हो, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मे हैं। भविष्य के प्रश्नो के लिए तो और भी कम। क्योकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणाये बिलकुल गलत है और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नही है या जो पतनशील व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनोतक मनमानी नही कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाक़ों मे जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीड़ितो की सहायता के लिए जो ढग अख्त्यार किया गया था उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मै फौरन अकेला ही चल पड़ा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाको मे घूमा।

इस दौरे मे बड़ा श्रम करना पड़ा और इन दिनो मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोवाली टूटी-फूटी सड़को पर मोटर मे जा रहे है, तो कभी छोटी-छोटी डोगियो के द्वारा ऐसे स्थानो मे उतर रहे है जहाँ पुल गिर पड़े थे या जहाँ ज़मीन की सतह में फ़र्क़ आने से सड़के पानी मे डूब गई थी। शहरो मे ढेर-के-ढेर खडहरों और टूटी हुई, या मानो किसी देव के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनो ओर के मकानो की कुर्सी से ऊपर उठी हुई, सड़को का दृश्य बड़ा हृदय-स्पर्शी था। इन सड़को की बडी-बड़ी दरारों मे से पानी और बालू-रेत ने फूट फूटकर मनुष्यो और जानवरों को बहा दिया था। इन शहरों से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानो पर—जिनको बिहार का बाग़ कहा जाता था—उजाड़ और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलो तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारे और असंख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-से मुँह थे जिनमें से यह बालू-रेत और पानी निकले थे। इस इलाक़े के ऊपर हवाई जहाज़ में बैठकर उड़नेवाले कुछ अंग्रेज़ अफसरो ने कहा था, कि यह कुछ-कुछ लड़ाई के ज़माने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प जोरदार, इधर-उधर दोनों ओर की गति से, शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट करती और गूँजती हुई भयंकर आवाज़ हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज़ उड़ रहे हों। अगणित स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊँची उछली। यह सब शायद तीन या चार मिनट रहा होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़ी ज़ोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज़ आगे की चीज़ें भी नज़र नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग ज़िन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण ज़मीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में एक बारह बरस का लड़का भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरने-वाले ईंट-चूने ने जब उसे धराशायी करके दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जीवित बचा है।

मुजफ्फरपुर में ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकानात गिर रहे थे और चारों तरफ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनों की जानें बच गईं और वे मज़े में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके थे और क़रीब-क़रीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण अवस्था को देखा तो उसकी भयंकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमें कँपकँपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहातों में, वहाँ के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नज़र आया। शायद शहरों के मध्यम वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था। वे लोग इस इन्तज़ार में थे कि कोई सरकारी

या ग़ैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हे सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगो पर हुक्म चलाना। यह निरसहायता की भावना कुछ तो निस्संदेह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सो और दूसरे प्रान्तों से बडी संख्या मे आनेवाले मददगारो का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज़ नज़र आती थी। इन नवयुवको और नवयुवतियो की, मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था; और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक-सस्थायें काम कर रही थी, फिर भी इनमें आपस मे बहुत कुछ सहयोग था।

मुंगेर में खोदने और मलबा हटाने की स्वावलम्बी भावना को बढ़ाने के लिए मैंने नाटक-सा किया। इसे करने मे मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम बडा सफलतापूर्ण निकला। सहायक संस्थाओ के तमाम नेता टोकरियाँ और फावड़े लेलेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उसी दिन मुगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियो ने उसे बडी सफलता पूर्वक किया।

जितनी ग़ैर-सरकारी सहायक संस्थाये थी उन सबमें सेन्ट्रल रिलीफ़ कमिटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कॉंग्रेसी संस्था नही थी। शीघ्र ही यह बढकर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल भारतीय सस्था बन गई। इसमे सबसे बड़ा लाभ यह था कि देहातो की कॉंग्रेस कमिटियो की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्त-प्रान्त के कुछ जिलो को छोड़कर कही के कॉंग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानो के इतने अधिक सम्पर्क मे नही थे जितने यहाँ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यमवर्ग तक का किसानो से घनिष्ठ सबन्ध है। कभी कभी, जब मैं कॉंग्रेस के मंत्री की हैसियत मे बिहार-प्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नज़र आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम मे ढीलम-ढाल की मैं बडे कड़े शब्दो मे आलोचना किया करता था। वहाँ खड़े रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरों में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौर पर जरूरी लवाज़मे के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद, मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि कॉंग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे

ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तो में से था। यहाँ की कांग्रेस में ऊपरी तड़क-भड़क नहीं थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था। आल-इंडिया कांग्रेस कमिटी में भी बिहार के प्रतिनिधियो ने शायद ही कभी किसी मामले में उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहाँ देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भंग के दोनों आन्दोलनों मे बिहार ने बड़े ऊँचे दर्जे का नमूना पेश किया। यहाँतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन मे भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ कमिटी ने किसानो तक पहुँचने के लिए इस सुन्दर सगठन से लाभ उठाया। देहात मे कोई भी साधन, यहाँतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नही हो सकते थे। और रिलीफ कमिटी और बिहार कांग्रेस कमिटी दोनो के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने में एक किसान के समान, बिहार-देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आँखो और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू मे देखने पर कुछ प्रभावशाली नही मालूम पडता। वह मुद्रा और वे आँखे भुलाई नही जा सकती, क्योकि उनमें होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप सदेह कर ही नही सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि मे देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी उज्ज्वल योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण है जिन्होने उनको अपने ही प्रान्त का नही बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार में प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त मे किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नही। उनके सिवा, गाधीजी के वास्तविक सदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो बिरले ही होंगे।

यह बड़े सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्र बाबू जैसे व्यक्ति बिहार मे सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमे लोगो की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य मे पिल पड़े। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योंकि वह सारी कार्रवाइयों का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे।

जिस समय मै भूकम्प के इलाको में दौरा कर रहा था, या शायद वहाँ जाने से पहले, मुझे गांधीजी का यह वक्तव्य पढ़कर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता

के पाप का दंड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इससे अधिक विरोध करनेवाली किसी और चीज़ की कल्पना करना कठिन है। कदाचित् विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक घटनाओं के प्रभाव के विषय मे इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नहीं कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओं में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बातें है जो हमको कई सौ वर्ष पीछे ले जाती हैं, जबकि योरप मे धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ़ के कारण गियोडीनो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियों को सूली पर चढ़ा दिया! अठारहवीं सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियो ने मैसाचुसेट्स के भूकम्पो का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प पापों का दैवी दंड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करे कि हमको कौन से पाप का दंड मिल रहा है? क्योंकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुतसे पापों का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसंद का कारण बता सकता है। शायद हम लोगों को एक विदेशी राज सत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौड़ी जागीरो के मालिक है, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान उठानेवालो में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते है कि यह जमींदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के करीब-क़रीब निरपराध निवासी, दक्षिण भारत के लोगों के अस्पृश्यता के पाप के बदले मे त्रस्त किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यो नही आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भंग के लिए दैवी दंड कह सकती है; क्योंकि, यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान पहुँचा, आज़ादी की लड़ाई में बड़ा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनायें कर सकते है। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है, कि हम लोग परमात्मा की दैवी आज्ञाओं के प्रभाव को अपने मानवी प्रयत्नों से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यों में क्यों हस्तक्षेप करें? और हमें इसपर

भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की—कि, पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड़ भी, और फिर हमको सज़ा भी देता है।

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डालीं जगती पर,
और गगन-मडल से उतरी बूंदे रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता!
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता ?"[१]

पटना ठहरने की आखिरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुतसे मित्रो और सहयोगियों से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तो से सहायता-कार्य में अपनी सेवायें देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त का अच्छा प्रतिनिधित्व था और हमारे कई चुनीदा कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमे बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के काम में लगावे ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपनेको राजनैतिक कार्य से अलग हटा रहे थे। सहायता का काम बड़ा कठिन था और ऐसा हम कर नही सकते थे कि जब-जब हमे फुरसत मिले तब तो उसे करे और फुरसत न हो तो न करें। इसमे लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनो तक ग़ैरहाज़िर रहने की संभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पड़े बिना नही रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत-से लोग थे, फिर भी करने—धरनेवालो की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जा सकती थी। इधर भूकम्प के तक़ाज़े की भी अवहेलना नही की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम मे लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगो की कमी न होगी; अलबत्ता अधिक खतरे के कामों को करनेवाले लोग बहुत थोड़े थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतंत्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौक़े पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मज़ाक में उन लोगों से कहा कि

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"When the stars threw down their spears
And water'd heaven with their tears,
Dare he laugh his work to see ?
Dare he who made the lamb make thee ?"

मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मैं ११ फ़रवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मांदा, इलाहाबाद में अपने घर पहुँचा। कड़ी मेहनत के दस दिनों ने मेरी शारीरिक अवस्था बड़ी भयानक बनादी थी और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखना शुरू किया, लेकिन नींद ने मुझे आ घेरा। अगले २४ घंटों में से मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोतमदास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमें से उतरा। मैं फ़ौरन समझ गया कि मेरा वक़्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इतज़ार था।" वह ज़रा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि क़ुसूर उसका नहीं है। वारट कलकत्ता से आया था।

मैं पाच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मैं फिर तखलिया और तनहाई में भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतों पर ही था—मेरी रोगाक्रान्त माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

५६

अलीपुर-जेल

"फैंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खीच ले जावेगे अब झोंको के यह उलझे तार;
दिखता नही प्रदीप, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !"[१]

उसी रात को मै कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाजार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लॉरी मे बिठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के इस मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अत: मै उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। वहाँ अंग्रेज सार्जेन्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में नही है। वहाँके सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी मे जाना पड़ता था और हर दफ़ा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे ज़रूर ही कुछ दु:खी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टत: वे मेरे साथ बडी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आँखो में आँसू चमक पड़ते थे।

मुझे शुरू मे प्रेसिडेन्सी जेल मे रक्खा गया और वहींसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत मे ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत के-से नही बल्कि एक घिरे हुए क़िले के जैसे थे। सिवा कुछ अखबारवालों और वहींके वकीलो के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास भी नही फटक सकता था। पुलिस वहाँ काफ़ी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नही किया गया

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की मूल कविता इस प्रकार है :—

"Already how am I so far
Out of that minute? Must I go
Still like the thistle-ball, no bar,
Onward wherever light winds blow,
Fixed by no friendly star?"

था, यह तो वहाँका हमेशा का ही दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिसके ऊपर और दोनों बाजूओं में जाली पड़ी हुई थी, मानों किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलज़िम का कटघरा हाक़िम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोगेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुक़दमों से काफी वास्ता पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुक़दमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौक़ों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहाँ पिंजड़े वगैरा नज़र न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ़ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकलें नज़र आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसंद भी नही आये। चोग़ाधारी वकीलो की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नही मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलों का नज़ारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। आख़िर उस काली जमात मे एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी उस झुण्ड मे मिलकर कही गायब हो गया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मै बाहर झरोखे में बैठा रहता था, तब भी मुझे अकेलापन और सूनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज़ जरूर तेज़ हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा पहले के मुकदमों के समय मे रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमों और सज़ाओ का तजुर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानों पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पडता होगा ?

कटघरे मे मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफ़ाई पेश नही की गई, और मैंने अपना एक मुख्तसिर-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फ़रवरी को मुझे दो बरस की सज़ा हो गई, और यों मेरी सातवी सज़ा शुरू हुई।

मेरी साढ़े पाँच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे संतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से मे मै काम में काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बच निकली थी। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मै अर्से से भुला रहा

था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलों में तो, मैं जानता था कि, उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैंने कांग्रेस की ताक़त को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में जरूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरी पूना की ख़तो-किताबत और बाद में अख़बारों में निकले मेरे लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ ही असर किया। इसके अलावा, मैं दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद गाँधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और आगे काम करने के लिए दिली व दिमागी शक्ति संग्रह करली थी।

पर मेरे मन को दुःखी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड़ न लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल में चले जाने पर तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायगी। मेरे बाहर रहने पर यह कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद ज़िले के गाँवों मे मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गाँवों की ख़बर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफ़ा-सा होना मालूम होता था।

लेकिन काली मोटर-लारी ने मुझे फिर जेल में पहुँचा दिया। रास्ते में कई फ़ौजी सिपाही मशीनगन और फ़ौजी गाडी (आरमर्ड कार) के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल मे ख़याल आया कि फ़ौजी गाड़ी (आरमर्ड कार) और टैंक कितने भद्दे होते हैं। उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्व-कालिक दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसिडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल में हो गया और वहाँ मुझे एक दस फ़ुट लम्बी और नौ फ़ुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, क़रीब सात फ़ुट की, थी और उसपर से झांककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब नजारा दिखाई दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें, इकमंज़ली, दुमंज़ली, गोल, चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर दूसरी नजर आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना-कोना भरने

के लिए बनाई गई थी। यह बनावट मुझे तो किसी घरौंदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई क़ैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ़ घरों की लाइनें हैं। चूँकि यह जेल शहर में था, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नही जा सकता था।

मैं अभी शुरुआत के इस भौंडे नज़ारे को देखकर नज़र हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा खौफनाक नज़ारा दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खड़ी दिखाई दी, जिनमें से हमेशा गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसको हवा कभी-कभी मेरी तरफ फेंककर मेरा दम घोंटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानो की चिमनियाँ थी। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को सलाह दी कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर जाली ढक दें।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटों की इमारतों का दृश्य और वही बावर्चीखानों की चिमनियों का धुआँ रात-दिन साँस और मुँह में जाना, सामने था। मेरे सहन में दरख्त या सब्ज़ी कुछ न थे। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ़ बना हुआ था, पर रोज़-रोज़ धुआँ जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीसे पड़ौसवाले सहनो के एक-दो दरख्तो के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते थे। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख्त बिला पत्ते और फूलो के ठूठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमे एक अजीब तबदीली होना शुरू हुई और सब शाखों मे हरी-हरी कोंपले निकलने लगी। कोंपलो में से पत्ते निकले और बडी जल्दी बढकर उन्होंने नंगी शाखों को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बडी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी बड़ी खुशनुमा हो गई।

इनमें से एक दरख्त में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखने लगा। छोटे-छोटे बच्चे बढ-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी क़ैदी के हाथ या मुँह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

क़रीब-क़रीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे न कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में चहलक़दमी शुरू कर देता। चार-पाँच क़दम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक़्त मुझे चिड़ियाघर के रीछ के अपने पिंजरे में इधर-उधर चक्कर काटने का दृश्य

याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का शुरू का हिस्सा तो काफ़ी शान्त होता था; केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थीं। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज़ खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफ़सर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नहीं गया है। हररोज़ तीन बजे तड़के बड़ा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज़ आती। उस वक्त बावर्चीखाने में काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी जेल के माफिक अलीपुर-जेल में भी एक कसीर तादाद वार्डरों, पहरेदारों, अफसरों और क्लर्कों की थी। इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज्यादा थी। इनमें कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफ़सर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ ज़ाहिर होती थी कि अंग्रेज़ी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और खर्चीला है। किसी बड़े अफ़सर के पहुँचने पर जो नारा सब क़ैदियों को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताक़त का एक चिन्ह और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज में और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पड़ता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से कैदियों के इस नारे की आवाज़ दिन मे कई मर्त्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मैं हैरत में आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की यह हरकत किसी पुराने ज़माने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज़ अफसर की ईजाद ? मुझे पता तो नहीं, पर मेरा क़यास है कि यह अंग्रेज़ों की ईजाद है। इसमें एक खास क़िस्म के एंग्लो-इंडियनपन की बू आती है। खुश-क़िस्मती से इस नारे का रिवाज सिवा बंगाल और आसाम के युक्तप्रान्त या हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। सरकार की शान को क़ायम रखने के लिए जिस तरीक़े से इस सलामी पर जोर दिया जाता है, वह मुझे हक़ीक़त में ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल में एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाँ के साधारण क़ैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कही अच्छा था। जेल के खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबो से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, विमल वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ गई। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और चन्द दिनों के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत क़ुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत मे कोई उन्नति न हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटो कोठ ी बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वज़न तेज़ी से घटने लगा। मुझे तालों, चटखनियो, सीखचों और दीवारों से नफरत-सी होने लग गई।

अलीपुर मे एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ वर्जिश करने की सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और बावर्चीखाना भी, मय उसके धुँए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गई। इस अर्से मे मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नई-नई परेशानियाँ तंग करने लगी। बाहर की खबरें भी अच्छी नही थी।

६०

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे यह मालूम हुआ कि सजा होने के बाद मुझे कोई रोज़ाना अखबार नही मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुक़दमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ते का रोज़ाना अखबार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा ख़त्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीज़न के क़ैदियों को सरकार की मर्ज़ी का एक रोज़ाना अखबार हमेशा मिलता था। ज्यादातर बाकी के दूसरे सूबों में भी यही बात है। और मै बिलकुल इसी खयाल में था कि यही कानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे रोज़ाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ ज़ाहिर है कि यह अखबार तो उन अंग्रेज़ों के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोजगार करने के बाद वापस इंग्लैण्ड पहुँच जाते हैं। इसलिए इस अखबार मे हिन्दुस्तान की उन ख़बरों का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस हफ्तेवार अखबार में विलायतों की खबरें तो बिलकुल नही होती थी। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योकि मै उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। ख़ुशकिस्मती से मुझे हफ्तेवार 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अखबार भी मिल जाता था, जिसकी वजह से मुझे योरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जानकारी हो जाती थी।

फरवरी में जब मै गिरफ्तार हुआ और जब मुझपर मुक़दमा चला तभी योरप में बड़ी उथल-पुथल और झगड़े हुए। फ्रान्स में भारी खलबली मची, जिसमें फ़ासिस्टों ने दंगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चान्सलर डॉलफस मजदूरों पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली खून-खराबी की खबर सुनकर मुझे बड़ा दु.ख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और ख़ूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए कैसा बर्बर हो जाता है? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम योरप और अमेरिका में फ़ासिज्म का ज़ोर बढ़ता जाता है। जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया था। इसी

तरह जब दूसरी जगह भी फ़ासिज्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आख़िरी मंज़िल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह ख़याल कहीं मेरी ख़्वाहिश से ही तो नही पैदा हुआ ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखाई देती है कि फ़ासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फासिस्ट डिक्टेटरो के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'सरे तसलीम ख़म' करने की जगह अपने देशो को सत्यानाशी लड़ाई मे न जुटा देंगे ? ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा ?

इस बीच में फ़ासिज्म कई किस्मो और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' यानी स्पेन, जो सरकारों का खास 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे मे जा पड़ा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति को न रोक सकी। हर जगह मौजूदा हालतों का मुकाबिला करने मे लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई हैं। यह दल शब्दो और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाजुक वक़्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त मे तसवीर।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखो को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी क़द्र भी करता था। "और इस खूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर योरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलो और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इंग्लैण्ड आज़ादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुंह इतना बन्द क्यों है ? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफ़ें की हैं वे हमने सुनी है; हमने उन्हे यह कहते हुए भी सुना है कि डिक्टेटरी 'क़ौम की आत्मा को जिन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताकत पैदा करती है।' लेकिन इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि जाहिरा शरीर का नाश करते हैं, किन्तु उससे कही अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आज़ादी का ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आज़ादी को कुचला जाता है तब उसका मुंह बन्द हो जाता है ? हम लोगों को भी तो न सिर्फ़ शारीरिक तक़लीफें उठानी पड़ी हैं बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी भोगने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोक-तन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आज़ादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"उस योरप ने जो कि आज़ाद नहीं है, सांस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का आवागमन नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नज़दीक आ रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने-बायें हर तरफ धड़ाधड़ वार करने से ही बचाया जा सकता है······। राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक योरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी; लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है? यह कैसे हो सकता है कि 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' या इंग्लैण्ड मे जो बहुत-से आज़ादी के दीवाने है वे हमारी हालत की बाबत इतने उदासीन रहते है? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने ज़ोरों से निन्दा करते है, जब वही बातें हिन्दुस्तान मे होती है, तो उनकी तरफ़ वे क्यों नही देखते? बीस बरस पहले, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो १९वी सदी की परम्परा मे पले थे, स्वभाव से फूंक-फूंककर क़दम रखते थे और अपनी भाषा पर सयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि क़ानून पर ताक़त की दुःखदायी जीत को मैं चुपचाप देखूं, मैं यह देखना पसन्द करूंगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय।" कितना बहादुराना खयाल है; और कैसे धारा-प्रवाह ढंग से कहा गया है! इंग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एसक्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममे से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े इन्साफ-पसन्द और निष्पक्ष है। हमेशा ग़लती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग में कही-न-कही यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नही है जैसे दूसरे लोग है, हममें और दूसरों मे ज़रूर फ़र्क़ है—यह दूसरी बात है कि शराफ़त की वजह से हम बारबार उस बात को न कहें। अगर खुशक़िस्मती से हम किसी ऐसी शाही क़ौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोच्च हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए

आन्दोलन करते हैं वे केवल खुदगर्ज़ और मुग़ालते में पड़े हुए बेवकूफ़ ही नहीं हैं बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी अहसानफरामोशी करनेवाले हैं।

अंग्रेज़ क़ौम टापू में रहनेवाली मुतास्सिम क़ौम है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमण्डी बना दिया है कि अंग्रेज़ क़रीब-क़रीब दूसरी सब क़ौमों को हिकारत की नज़र से देखते हैं। जैसा कि किसीने कहा है, उनकी राय मे इंग्लैण्ड के समुद्र से आगे हबशी-ही-हबशी रहते हैं। लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश क़ौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं; फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ़ सफ़ेद चमड़ीवाले और अमेरिका (महज़ एंग्लो-सेक्शन अमेरिका—डागो, इटैलियन वगैरा नहीं), (३) पश्चिमी योरप, (४) बाकी योरप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन क़ौम); और फिर बहुत दूर तक कोई नहीं। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली कौमो के आदमी, जो कम-बढ़कर सब एक ही बोरे मे भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते है।

इन दर्जो मे आखिरी दर्जे के हम लोग उस ऊंचाई से कितनी दूर हैं, जिसपर हमारे शासक रहते हैं ? ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊंचाई से हमारी तरफ देखते हैं तब उनकी नज़र धुधली हो जाती है, और जब हम लोकतत्र और आजादी की बातें करते हैं तब वे हमसे चिढ़ते हैं ? ये शब्द हमारे इस्तैमाल के लिए थोड़े ही घड़े गये थे। क्या यह बात एक बड़े लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी, कि वह बहुत दूर के धुधले भविष्य मे भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान मे लोकतंत्रीय सस्थायें क़ायम होगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतत्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरो का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ़)। और इसके बाद उस मजदूर दल ने जो समाजवाद का झण्डा लिये फिरता था, सब पददलित लोगों का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी मे हमें सन् १९२४ के बंगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल में हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमे से कोई हमारा बुरा नही चीतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढग से 'बहुत ही प्यारे भाई' कहकर पुकारते हैं तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन उनकी राय में हम उतने ऊँचे नही हैं, जितने कि वे खुद है, अतः उनके विचार में दूसरे पैमानो से ही हमारी जाँच होनी चाहिए। भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावों

के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफ़ी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें। ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज़ में तो और भी ज्यादा फ़र्क होगा।

हाल ही में, हाउस ऑफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसे हो रही थीं और अनेक सम्माननीय लॉर्डो ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होने कहा कि "भारत-सरकार सारे हिन्दुस्तान की कही अधिक प्रतिनिधि है बनिस्बत कांग्रेसी नेताओ के। वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रेजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनो की तरफ से बोल सकती है, जबकि कॉंग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी कौमों मे से किसी एक कौम की तरफ से भी नही बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया--"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगो का ख़याल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पडा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरो और वाइसरायो को भरोसा करना पड़ेगा।"[१]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती है--एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतंत्रीय सस्था है। इस दलील का इतनी संजीदगी से दिया जाना यह ज़ाहिर करता है कि अंग्रेज़ी के शब्द स्वेज़ नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते है। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतंत्रीय स्वरूप की होती है, क्योकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुँच जाते हैं।

सच बात तो यह है कि हाल मे विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर मालकम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए, कहा था कि देशी रियासतों में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी

१. हाउस आफ लार्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

कोई जरूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छा-चारिता को नहीं छोड़ेगी। इसी कोशिश में एक और दिलचस्प तरक्क़ी यह हुई है कि, योरप में लोकतंत्र के नाकामयाब होने की बिना पर इस स्वेच्छाचारिता को क़ायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवन सर मिर्जा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतंत्र नाकामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ इनकलाबी सुधारों की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान क़रीब-करीब असली कामो के लिए काफी लोकतत्रीय है।"[१] मेरे ख़याल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहांके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनो जो लोकतंत्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नही है।

अगर लोकतंत्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नही है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिश्र के लिए भी उतना ही बेमौजूँ है। इन दिनो जेल में मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमे मैंने मिश्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ खरीता अभी हाल ही पढ़ा है।[२] उस ख़रीते में कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने कि उन्हे 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, खास तौर पर वफ्द-पार्टी, एक हो जायँगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-विधायक असेम्बली का चुनाव करके उनके जरिये नया विधान तैयार करायँगी', जिम्मेदार लोगो में कुछ कम भय पैदा नही किया है, क्योकि आखिर इसके मानी यही होते हैं कि लोकतत्रीय सरकार फिर से कायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिश्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले जमाने में हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही है। मिश्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात में कोई शक नही हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसीलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतत्रीय, विदेशियो का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव मे "वफ्द् पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" शासको को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान मंत्री को क़ानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि

१. मैसूर : २१ जून १९३६। पृष्ठ ६४३ का भी नोट देखिए।

२. १९ दिसम्बर १९३४।

अब सिर्फ़ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार दस्तन्दाज़ी करे और "यह बात सबको ज़ाहिर करदे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से क़ायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिश्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[१] लेकिन ग़ालिबन आज़ादी के दीवाने एक अंग्रेज़ द्वारा पेश की गई दलील से हमें मिश्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि ज़िन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग़ के जिस रुख़ से लोकतंत्र का विकास होता है उससे साधारण मिश्री वोटर की ज़िन्दगी के तरीक़े और उसके दिमाग़ के रुख़ का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है : "योरप में अक्सर लोकतंत्र इसलिए नाकामयाब हुआ है, क्योंकि वहाँ बहुत-से दल क़ायम हो गये हैं। लेकिन मिश्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ एक वफ्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतंत्र की तरक्की का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफी एका नहीं है। मिश्र में किसी क़िस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतंत्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतंत्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोकतंत्र के सिर्फ़ एक ही मानी हैं, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ में हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतंत्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

१. नवम्बर १९३४ में मिश्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के ख़िलाफ़ मुल्कभर में दंगे हुए थे

६१

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मा, जाऊँ आकुल लेट वहाँ
ठंडा-ठंडा हरा सुमंजुल मधुर घास हो बिछा जहाँ;
मा वसुधे ! चरणो पर तेरे निपट निराश-अधीन,
परिश्रान्त इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन ।"[1]

अप्रैल आ गया । अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बाबत अफवाहे पहुँची—ऐसी अफ़वाहें जो दुःखदायी और बेचैनी पैदा करनेवाली थी । एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गाधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस लेली है । मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नही होसका । मुझे यह खबर अच्छी नही लगी और जिस चीज को मैं इतने बरसों से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर मुझे रज हुआ । फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाजिमी था । अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लडाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी । मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजों की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहे लेकिन राष्ट्रीय मंस्थायें ऐसा नही करती । मुझे इस बात में कोई शक न था कि गाधीजी ने देश की स्थिति और अधिकाश कॉंग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैंने अपने आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की ।

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौसिलो मे जाने की ग़रज से पुरानी स्वराज पार्टी को फिर से ज़िन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है । यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय थी कि कॉंग्रेस अगले चुनावों से अलग नही रह सकती । जब मैं पाँच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौसिलों की तरफ़ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ सीधी लड़ाई

१. **मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है** :—

"And I yearn to lay my head
Where the grass is cool and sweet.
Mother, all the dreams are fled
From the tired child at thy feet."

से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक इनक़लाब के उन नये ख़यालो के विकास से भी बाधा पड़ती थी जो कॉंग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये ख़याल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह ज़ाहिर हो जायगी। जैसा कि लैनिन ने कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीज़ों को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह में जो वास्तविक शक्तियाँ काम कर रही है उन्हे दिखा देता है, वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्द-जाल का और गपोड़ो का भण्डाफोड कर देता है; वह असली बातो को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कॉंग्रेसवालो का दिमाग़ साफ़ हो जायगा और कॉंग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगो की मज़बूत जमात हो जायगी। ग़ालिबन उसके कुछ कमज़ोर हिस्से उसे छोड़ जायँगे! लेकिन इसमे कोई हर्ज़ न होगा और जब कभी उसूली सीधी लड़ाई का मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व क़ानूनी तरीको के नाम से पुकारे जानेवाले साधनो से काम लेने का वक़्त आयगा, तब कॉंग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव मे क्रियाशील पक्ष के, लोग इन तरीकों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेंगे।

जाहिरा तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कॉंग्रेस के कारगर कामों के आधारस्तम्भ रहे है वे पीछे को हट रहे हैं और दूसरे लोग जिन्होने ऐसा कोई काम नहीं किया अपनी हुकूमत जमाने लगे है।

इसके कुछ दिनो के बाद मेरे पास हफ्तेवार स्टेट्समैन आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बाते मेरे दिमाग़ मे ग़ायब हो गई और उनकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग़ भर गया। गांधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है।······ इसका मुख्य कारण वह ऑंखें खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राज़ी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसेकि मैं बहुत अधिक

प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। मित्र ने कहा कि उनका खयाल था कि मैं उनकी दुर्बलता को जानता हूँ लेकिन मैं अन्धा था। नेता में अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फ़ौरन यह भाँप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गांधीजी के मित्र में यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफ़सोस नहीं है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें बीसियों हज़ार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं, महज़ इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई ग़लती कर डाली यकायक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है लेकिन अपने साधारण तरीके पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ हो गये। मैं यह जानता हूं कि गांधीजी आम तौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक़ काम करते हैं। गांधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए खयालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर पुरुष करीब-करीब हमेशा किसी अज्ञात-प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूंढने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गांधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होंने बताये हैं वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही हैरत-अंगेज़ मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हें पूरा हक था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योंकि उन लोगों ने सब तरह की प्रतिज्ञायें ले रक्खी थीं और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रक्खा था। लेकिन कांग्रेस ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। मैंने ऐसी कोई बात नहीं की थी। फिर हमें उन सब

कारणों के लिए, जो हमें आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे, और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी इधर और कभी उधर क्यों फेंका जाता था ? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है ? मैं यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक़ मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मै यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज़ उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नही है। लेकिन यह नई तरक्क़ी या नई व्याख्या उससे कही ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नई बातें उठ खड़े होने की सम्भावना थी, जिन्होने मुझे विचलित कर दिया।

उस पूरे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त मे गांधीजी ने कॉंग्रेसवालो को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हे आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हे राष्ट्र-निर्माण के काम मे लग जाना चाहिए, उन्हे स्वय हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगो के हृदयो में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए; स्वय अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप मे निवारण करना चाहिए और नशेबाज़ों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीजों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवायें है जिनके द्वारा ग़रीबों की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग ग़रीबी मे न रह सकते हो, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे मे पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षो से उनसे बाँध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वंद्व हो रहा था। गांधीजी ने जो बाते की उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में ही आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ी ! सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते हुए, उसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मँझधार में थे, उनके उपवास और दूसरी बातो में अपनी ताक़त लगाना, उनकी निजी और स्वय-निर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में ला डाला कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हे अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई-नई

निष्ठायें और नई प्रतिज्ञायें, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मैं चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढ़ी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलों में मेरे साफ और निश्चित विचार हैं और वे उनके विचारों से नहीं मिलते। और फिर भी अबतक मैं इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आज़ादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने, मैं अपने ख़यालों को दबाये रखूं। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की क्योंकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लंगर से दूर खींचा जा रहा है, तब-तब मुझे अपने मन में बड़े-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लड़ने पड़े हैं, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने गलती की, क्योंकि यह तो किसीके लिए ठीक नहीं हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लंगर को छोड़ दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर में मैं अपने साथियों के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलों को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही है और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नज़दीक ले आयगा।

और अब तो यकायक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दुःखमय, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन में मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये हैं, उनमें सबसे अधिक कठोर और दुखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयों पर किसीका भरोसा करना उचित नहीं है। हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना ज़बर्दस्त निराशा और आफतों को न्यौता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारों की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नहीं है? यह दृष्टि-

कोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजों से वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखें मूँद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है फिर भी उसे सत्य को—संपूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल में सत्य है यह नहीं ? वह तो दूसरों को उसके विषय में कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूँढने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनों जुदी-जुदी चीजें हैं। धर्म बातें तो शांति की करता है लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के ज़िन्दा नहीं रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शांति का लबादा ओढे चुप-चाप आती है और लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बिना किसी प्रकार के ज़ाहिरा शरीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है ?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आखिर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी हैं। उनकी मोहकता कितनी हैरत अंगेज़ और सर्वथा अबाध है और लोगों पर उनका कैसा अजीब काबू है। उनकी बातें और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कहीं ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवायें कितनी महान् हैं। उन्होंने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूंक दी है; अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी क़ुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होंने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नीव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते हैं, फिर भी उन्होंने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ में ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन

और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दों के पीछे ताक़त थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप में वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें जो त्रुटियाँ थी, वे भारत की त्रुटियाँ थी। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे यह नही जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल बो रहे है। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस मे लौट रहे थे, तब यह जानकर कि पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया है मुझे कितना दुःख हुआ था वह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान प्रतीत हुआ और इसमे तो कोई शक ही नहीं कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नही करते और क्योकि प्रोटेस्टेन्ट मत के कुछ लोगो ने गाधीजी को सच्चा ईसाई और बडा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह इस कुफ़ से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में क़रीब-क़रीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढे और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमे ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत अच्छी लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए सार्थक प्रतीत हुई। इसमें ईसामसीह ने पाईलेट से कहा है—"मै तुमसे कहता हूँ कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, गरीबों का डर, अमीरों का डर, उच्चमठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों का डर जो विद्वान् हैं, उन गॉल निवासियों, गोथों और हूणो का डर जो जंगली हैं, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीज़र की उस मूर्ति का, जो तुम्हींने बनाई है और मुझ-सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़

कर बाकी सब चीजों का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नही। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत-उजागर कायर हो और मै जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूं, प्राणपन की बाजी लगा चुका हूं, सर्वस्व तक गवाँ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ।"

लेकिन गांधीजी की महत्ता, भारत के प्रति उनकी महान् सेवायें या मेरे प्रति उनकी महान् उदारतायें, जिनके लिए मै उनका ऋणी हूँ, इनका कोई प्रश्न ही नहीं है। इस सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में, बुरी तरह ग़लती कर सकते हैं। आखिर उनका मक़सद क्या है? इतने वर्षों तक उनके नजदीक-से-नजदीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग मे यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में खुद उनका दिमाग़ कहाँतक साफ़ है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते। वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिंता रक्खें तो साध्य अपने आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाक़ी सब बातें अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है। यह तो संकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गान्धीजी चरित्र पर ही सब जोर लगा देते हैं, और मानसिक शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नहीं देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में क्या रह जाता है? सचमुच, आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गान्धीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते हैं उसका अधिकांश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीक़े से क़तई मेल नही खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने अस्पष्ट नही है जितने वह कभी-कभी मालूम होते हैं। वह किसी एक ख़ास दिशा में जाने के लिए

बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ़ जाना आजकल के खयालो और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल खिलाफ है, और अबतक वह इन दोनों का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियाँ ही खोज पाये हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दे। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचास बरस से, उस वक़्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करना शुरू किये तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ़ ज़ाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारो के द्योतक है या नही। वे उनके विचारों को पूरी तरह व्यक्त करते है मुझे तो इस बात में शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमें उनके विचारो की तह मे जो भावनायें काम करती रही है उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ मे उन्होने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमे है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे, तार या अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजे मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जानेवाली जातियो को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानो का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मै रेल या मोटर में बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मै ठीक समझता हूँ उसीके साथ मै ज्यादती कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेज़ी से चलनेवाली चीजो से दुनिया का सुधार करने की कोशिश कतई गैरमुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुँचानेवाली बाते मालूम होती हैं जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गांधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातो का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात मे नही है कि हम अपनी आवश्यकताओ को बढाते चले जायं और अपने रहन-सहन का ढंग ज्यादा खर्चीला करले, बल्कि इस बात मे है कि "अपनी जरूरतो को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक हम कम करलें, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियों को मानले तो गांधीजी के बाक़ी के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इनको नहीं मानते और जब हम यह देखते है कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक़ नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते है।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबों की और तकलीफ़ झेलने की तारीफ़ करना पसन्द

नही है । मैं यह नहीं समझता कि वे किसी प्रकार वांछनीय हैं, बल्कि मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिए । न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूँ, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो । मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूँ और उसकी कद्र भी करता हूँ, लेकिन शारीरिक दमन करने के पक्ष में नहीं हूँ । मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना जरूरी है वैसे ही इस बात की भी जरूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें । यह आशा करना तो बेहूदगी होगा कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन मे फँसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-सयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा । नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत मे रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो सीमारहित संयम है और न आत्मपीड़न ही हैं ।

'किसानों की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगता । मैं तो करीब-करीब उससे घबडाता-सा हूँ और खुद उनकी सी ज़िन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मैं तो किसानों को भी उस ज़िन्दगी मे से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हें शहरी बनाकर नहीं बल्कि देहातो में शहरों की सांस्कृतिक सुविधायें पहुँचा कर । किसानों की सी यह सादा जिन्दगी मुझे सुख तो कतई नही देती, वह तो मुझे करीब-क़रीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना । आखिर "फावडेवाले आदमियो" मे ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय ? असख्य युगों से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओं मे जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नही रह गया है ।

"किसने यो कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से ?
व्याकुल नही शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से ।
स्तब्ध, मूक, जड़रूप खड़ा वह, करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दें जिससे ।"[१]

मानव-बुद्धि से काम न लेकर पुराने जंगलीपन की स्थिति में, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नही था, पहुँचने की बात मेरी समझ मे बिलकुल नही

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Who made him dead to rapture and despair,
A thing that grieves not and that never hopes,
Stolid and stunned, a brother to the ox?"

आती। स्वयं उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग के लिए भाररूप है और उसकी तरक्की को रोकती है, वांछनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयों से भरी हुई है, लेकिन उसमें अच्छाइयाँ भी भरी पड़ी हैं, और उसमें वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर कर सके। उसको जड़-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दुःखमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाछनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नहीं सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते है, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममें से जिन लोगों ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जंगलीपन की स्थिति में जाना पसन्द नही कर सकते।

इस बात को समझना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों दृष्टिकोण बिलकुल जुदे हे। गाधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा मे सोचते है, जब कि हममें से अधिकांश लोगों के मन मे समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसीलिए में गांधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नही चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न मे हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्ही नियमो से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये है।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में वह काफी आगे बढ जाते है। पर वह जो सुधार करना चाहते है वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी हैं इन्द्रियों पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फासिज्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने आज़ादी की जो परिभाषा की है, शायद गाधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है—"आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नही है।" दो सौ बरस पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आज़ादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनों से और मनुष्य की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्ति।"[1]

१. यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह ४५६ पृष्ठ पर दिया जा चुका है

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गांधीजी का जो रुख है और जोकि आजकल के औसत आदमी को ग़ैर-मामूली-सा मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है। उनकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना ग़लत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज्यादा पेट भरलें और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजों से बचने की कोशिश करें। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

ज़ाती तौर पर मैं गांधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गांधीजी की बात सही है तो मैं तो उन पापियों में से हूँ जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के नज़दीक पहुँच चुके हैं। रोमन कैथोलिकों ने भी बड़े जोरों से सन्तति-निग्रह की मुख़ालिफत की है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आखिरी दर्जे तक नहीं ले गये जिस दर्जे तक गांधीजी ले गये हैं। उसे वे इन्सानी फ़ितरत समझते हैं, उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट देदी है।[१] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील की आखिरी हद तक पहुँच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसंग को ज़रूरी या जायज नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक दूसरे की तरफ क़ुदरती खिंचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुषों में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का संकेत किया गया वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो

१. ईसाइयों के विवाह के बारे में ११ वें पायस पोप ने ३१ दिसम्बर १९३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हक़ों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी ख़राबी के कारण उनके बच्चे पैदा हो या न हों।" समय की परिस्थिति से मतलब ज़ाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई और बहिन मे, मां और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को क़ायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते हैं—"नही, अपनी पूरी ताक़त के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नि का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[1] और फ्रूड के विचारो और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में किसी विश्वास को इतने ज़ोरदार शब्दों मे प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नही। इसे आप माने या न माने। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नही है। अपनी तरफ से तो मै कह सकता हूँ कि इस मामले में गाधीजी बिलकुल ग़लती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप मे तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभंग, मृगी वग़ैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जायँगे। विषय-भोग में संयम ज़रूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात मे शक है कि गांधीजी के उसूलो से यह संयम किसी बडी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज्यादातर लोग यही समझते है कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीक़े पर चलते रहते है और अगर नही चलते तो पति-पत्नी मे खटपट हो जाती है। स्पष्टत. गाधीजी यह समझते है कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके

१. ऑडीपस थेबीज़ के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया; और उसने कॉरिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा अपनी मा से शादी कर लेगा, तो घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मा जोकेस्टा मिली। वह उन्हें पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ्रूड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लड़के की अपनी मा के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो।

दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार; बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं जो मुझे बहुत ग़ैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शास्त्रसम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ़ आ रही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूँ कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके क़ाबू में हुआ और न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। वह केवल गौण रूप में ही रही है।

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस विरक्त जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीक़ों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए, इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बरदाश्त करना पड़ता है।

मैं विषय से बाहर बह पड़ा हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढ़कर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोंटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ़ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मैं ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना गुब्बार निकालकर अपने मन-माफ़िक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। ख़ुशकिस्मती से मैं बड़ा ख़ुशमिजाज हूँ और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूँ। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलक़ात हुई। उससे मुझे और भी बेहद ख़ुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

६२

विकट समस्यायें

जो लोग गाधीजी को व्यक्तिगत रूप से नही जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेखों को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गाधीजी कोई विरक्त साधू से हैं—खुश्क जाहिद की तरह मनहूस और मुंह लटकाये हुए। लेकिन गांधीजी के लेख गाधीजी के साथ अन्याय करते है। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कही ज्यादा बड़े है। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उसकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ़ नही किया जा सकता। धर्मोपासको के रास्ते मे उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आल्हादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते है। उनमे भोले बच्चो की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे मे पैर रखते है तो अपने साथ एक ऐसी ताज़ी हवा का झोका लेते आते है जो वहां के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनो के एक असाधारण नमूने है। मेरा ख़याल है कि तमाम मशहूर और खास शख्स कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते है। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गाधीजी पीडितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना खयाल रखते हुए भी एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते है जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितो को पैदा करती है और फिर उन्हे कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिसा के ऐसे अनन्य उपासक है, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाचे के पक्ष में है जो सोलहो आने हिसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष मे है। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक हैं, लेकिन क्योकि अराजको का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका क़यास भी नही कर सकते; इसलिए वह मौजूदा व्यवस्था को मंजूर करते है। मेरा खयाल है कि प्रणाली को बदलने मे हिंसा के इस्तैमाल की बाबत उन्हे जो एतराज़ है वह महज़ साधन के लिहाज़ से ही नही है, क्योंकि मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए किन ज़रियों से काम लेना चाहिए इस सवाल से बिलकुल अलग हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आखों के सामने रख सकते हैं, जिसको ज्यादा दूर के भविष्य में नही, नज़दीक भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपनेको समाजवादी भी कहते है, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकार नही है जो आम तौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी रहनुमाई में पीछे-पीछे चलते हुए कुछ नामी-गरामी कॉंग्रेसी भी उन्हीके अर्थ में समाजवाद शब्द का इस्तैमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब खुदा के बन्दों की एक क़िस्म की गोलमटोल खिदमत से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने मे वह जो ग़लती करते है उसमें बड़े-बड़े नामी शख्स उनके साथ है, क्योंकि वह तो सिर्फ़ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे है।[1] मै यह जानता हूँ कि गांधीजी समाजवाद से नावाक़िफ़ नही है क्योकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबे पढ़ी है और इन विषयो पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलों में अकेला दिमाग़ बज़ात खुद हमे ज्यादा दूर तक नही ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नही चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते है और मन उनके क़ाबू मे रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल मे तो सहज ज्ञान या मनोभावो पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का संकल्प करना चाहे उसका संकल्प नही कर सकता।'

दक्षिण अफ्रीका मे अपने शुरू के दिनो मे गांधीजी मे बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे मे उनकी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होंने अपने तमाम खयालों के लिए एक बुनियाद बना ली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप मे विचार नही कर सकते। जो लोग उनको कई बातें सुझाते है उनकी बातों को वह बड़े भारी धीरज और ध्यान से सुनते है, लेकिन उनसे बातें करनेवाले पर यह असर पड़ता है कि वह जो

१. जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टों के एसोसियेशन के संघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेक्डोनेल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयाँ हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

शराफ़त व दिलचस्पी दिखा रहे है उस सबके बावजूद उन बातों के लिए उनके मन का दरवाजा बन्द है। कुछ ख़यालात से उनका लंगर ऐसा बँध गया है कि और सब बातें उन्हे महत्त्व की नहीं मालूम होती। उनकी राय में दूसरी और अ-प्रधान बातों पर ज़ोर देने से ज्यादा बड़ी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम उस लंगर को पकड़े रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम ज़रूरी तौर पर अपने-आप वाजिब तरीक़े से ठीक हो जायँगे। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी लाज़िमी तौर पर ठीक हो जायगा।

मेरे ख़याल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज्यादा खास तौर पर मार्क्सवाद को सदेह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। "वर्ग-युद्ध" शब्द में ही उन्हे लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते है। इसके अलावा वह यह भी नही चाहते कि आम लोगों के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढ़ाया जाय, क्योंकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फ़ुर्सत मे रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास में लगे रहते है, अगर ऐसे लोगों की तादाद और भी बढ़ा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १९२६ में उन्होंने जो एक ख़त लिखा था उससे हम ऐसे कुछ नतीजे निकाल सकते है। इग्लैण्ड मे उन दिनो कोयले की खानो मे मज़दूरो ने बहुत बड़ी हड़ताल कर दी थी. और खानो के मालिकों ने खाने बन्द कर दी थी। इस कशमकश के दौरान मे उनके पास जो ख़त आया था, उसके जवाब में उन्होंने यह ख़त लिखा था। जिन साहब ने उन्हें ख़त भेजा था, उन्होने उसमें यह दलील पेश की थी कि इस लड़ाई मे मज़दूर हार जायेंगे, क्योंकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वह कृत्रिम साधनो से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द कर दें और इस तरह अपनी तादाद घटा ले। इस ख़त का जवाब देते हुए गांधीजी ने लिखा था—"आख़िरी बात यह है कि अगर खानों के मालिक ग़लत रास्ते पर होने पर भी जीत जायेंगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नही होगी कि मज़दूर ज्यादा सन्तान पैदा करते है; बल्कि इसलिए होगी, कि मज़दूरों ने जिन्दगी में हर तरफ़ संयम से काम लेना नही सीखा। अगर खानो के मज़दूरों के बच्चे न हों तो उन्हें अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नही रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेंगे कि उनकी मज़दूरी बढ़ाई जाने की ज़रूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की कोई ज़रूरत है? क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो यह सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते

हैं ? अगर मजदूर इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे कुछ बात में पूंजीपतियों से बेहतर हैं तो फिर उन्हें दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक़ है ? क्या इसलिए कि वे पूंजीपतियों की तादाद बढ़ावें और पूंजीवाद को मजबूत करें ? हम-से कहा जाता है कि हम लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुका दें, क्योंकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर हो जायगी । पूंजीवाद और पूंजीपतियों के सिर हम जिन बुराइयों को थोपते हैं, वे ही खुद हमें और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिएँ ।"[1]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज मजदूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखों के सामने आ गये, जो मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे । वे ग़रीब मजदूर उस समय उन्हें कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड रहे थे । इस लड़ाई में वे बिल्कुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था । गांधीजी ने जो बातें लिखी हैं, वे पूरी तरह सही नहीं है; क्योंकि खानों के मजदूर मजदूरी बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड़ रहे थे कि जो मजूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय, और जो खाने बन्द करदी गई थी वे खोल दीं जायँ । लेकिन इस वक्त हमे इन बातों से कोई ताल्लुक नही । न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोके, यद्यपि मालिको और मजदूरों के लड़ाई-झगड़े को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था । मैंने तो गांधीजी के जवाब मे से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लोगो को यह बात समझने में मदद मिले कि मजदूरो के रहन-सहन के ढंग को ऊँचा बनाने की आम माँग के मामले में और मजदूरों के दूसरे मामलो में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है । उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफ़ी दूर है । गांधीजी को इस बात में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोड़े न बनें तो यह बात करके दिखाई जा सकती है कि विज्ञान और धन्धों की कला के जरिये हम आज तमाम लोगो को अबसे कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते हैं और उनके रहन-सहन के ढंग को बहुत ज्यादा ऊँचा कर सकते हैं । असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातों के लिए बहुत उत्सुक नहीं है । इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नहीं है

१. गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमें यह खत दिया गया है ।

और पूंजीवाद भी महज़ कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही को नापसन्द करते हैं, लेकिन पूंजीवाद को फ़िलहाल की बुराई समझकर उसे बरदाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूंजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते हैं, क्योंकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उससे आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने में मैं गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह ख़याल ज़रूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते हैं, और उनके कथनों में हमें जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती हैं उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम व फ़ुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगों को रोज़-ब-रोज़ कम करते जायं और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें; और जो लोग आम लोगों की ख़िदमत करना चाहते हैं उनका काम यह नहीं है कि वे उन लोगों की माली हालत को ऊँचा उठायें, बल्कि उन्हें चाहिए कि ख़ुद उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाज़िमी तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक़ यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत-से लोग मेरा विरोध करने मे निराश हैं। मेरे लिए यह बात ज़लील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। गरीब-से-ग़रीब इन्सान के साथ बिलकुल उसीका-सा हो जाना जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की ख्वाहिश छोड़ देना, और अपनी पूरी ताक़त के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बातें है कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपनेको आम लोगों से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगों के रहन-सहन के ढंग से कहीं ज्यादा ऊँचे ढंगों की नुमाइश उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास ज़रूरी-से-ज़रूरी चीज़ों की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की बाक़ी दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूँजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। मगर जिन लोगों का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातों से कुछ हद तक

सहमत हो सकते हैं, क्योंकि इन लोगो की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई हैं और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नही सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्य-कालिक मनोवृत्तियों में ज़मीन और आस्मान का फ़र्क़ है। पुराने ज़माने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगों की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनो ग़रीब हमारे समाज के अभिन्न अंग बने हुए थे। उस वक़्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचों के मुख्य अंग थे। वे उत्पादन-प्रणाली के ज़रूरी हिस्से थे, इसीलिए सदाचारी सुधारक और परदुःखकातर सभी लोगों ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही, उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अपने ग़रीब भाइयों के प्रति अपने कर्तव्य को न भूले। वे लोग ग़रीबो के ट्रस्टी होकर रहे, दानी बने, यह उनका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अंग हो गया। राजा-महाराजाओ, बड़े-बड़े ज़मीदारो और पूंजीपतियों के लिए गांधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा ज़ोर देते रहते हैं। वे इस विषय मे उन अनेक धार्मिक पुरुषो की परम्परा पर चल रहे है, जो समय-समय पर यही कह गये है। पोप ने ऐलान किया है कि "अमीरों को यही ख़याल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे सरक्षक और बाँटनेवाले है, जिनके हाथ मे गरीबो का भाग्य ईसामसीह ने खुद सौंप रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम मे भी यही ख़याल मौजूद है। वे हमेशा पैसेवालो से यह कहते रहते है कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालायें बनवाकर या अपनी धन-दौलत मे से गरीबो को कुछ तांबे-चाँदी के गोल-गोल टुकडे देकर उनका हुक्म बजा लाते है और यह सोचने लगते है कि हम लोग बड़े धर्मात्मा है।

तेरहवे पोप लियो ने मई १८९१ मे जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उसमे पुरानी दुनिया का इस मज़हबी रुख को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। पोप ने कहा था :—

"इसीलिए इन्सान के भाग्य में यही बदा है कि वह धीरज के साथ दुःखो को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी जिन्दगी को जो बीमारियाँ और तकलीफ़ें रात-दिन परेशान किये रहती हैं, उन्हे हटाने में कोई भी ताक़त या तदबीर कारगर नही हो सकती। अगर कोई शख्स ऐसे हैं जो कहते है कि यह बात नही है, और जो बुरी तरह दुःखी लोगों को दुःख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते हैं, तो वे लोगों को

सरासर धोखा देते हैं। और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयों को दुगुना कर देनेवाले हैं। इससे ज्यादा फ़ायदे की बात और कुछ नहीं है कि हम दुनिया को वैसी ही शक्ल में देखें, जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफ़ों में फँसी हुई है उनके इलाज के लिए दूसरी जगह तलाश करें।"

इसके आगे हमें यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है:—

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान में लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते हैं न उसकी कीमत ही आँक सकते है...प्रकृति से हम जिस बड़ी सचाई का सबक़ सीखते है वह ईसाई धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव में हमारे जीवन का आरंभ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य और क्षणभंगुर चीजों के लिए नही पैदा किया है, बल्कि उन चीज़ों के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य हैं। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश-निकाले की जगह की बतौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीज़ें जिन्हें लोग अच्छी और चाहनेलायक़ कहते है उनकी बहुतायत भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है........।"

यह मज़हबी रुख उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतों से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि तबसे लोगो की आर्थिक अवस्था मे कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी उस गुज़रे हुए ज़माने की फाँसी हमारे गले मे पड़ी हुई है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातों पर ज़ोर दिया जाता है जो गोल-मोल हैं और ऊटपटांग-सी है और जिनकी नापजोख नहीं हो सकती। कैथोलिक लोगों की निगाह बारहवी और तेरहवीं सदी की तरफ़ दौड़ती है। दूसरे लोग जिसे अंधकार-युग कहते है उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। जब साधुओं की भरमार थी, जब ईसाई राज धर्मयुद्धों के लिए कूच करते थे और गौथिक ढंगों पर गिरजाघरो का निर्माण होता था, उनकी राय में वह ज़माना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का ज़माना था। उन दिनों मध्यकालीन संघों के शासन मे उसकी इतनी उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद में। मुसलमानों की हसरत की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफ़ाशाही की ओर दौड़ती है। उनकी दृष्टि में इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योंकि उन खलीफ़ाओं ने दूर-दूर देशों में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बातें सोचते है और रामराज्य के सपने देखते हैं। फिर भी तमाम तवारीखें हमसे यह कहती हैं कि उन दिनों की अधिकांश जनता बड़ी मुसीबत में रहती थी। उनके लिए तो

अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनों चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हों, क्योंकि उनके पास उसके लिए फ़ुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरों के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज़ पेट पालने में दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होंगे। जो शख्स भूखों मर रहा है, वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फ़िक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तज़ाम कैसे हो?

उद्योग-धन्धों का ज़माना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी नज़रों के सामने घूमती रहती है। लेकिन हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और खासकर उन हिस्सों में, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से छा गये हैं, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनिवेशिक देशों में साफ ज़ाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फ़ायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत मामूली निगाह से भी पहले से भी बदतर हो गई है—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बुरी हो गई है। इस मामले में कुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज़ पाश्चात्यकरण के नाम से पुकारी जाती है, उसने कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल में, माण्डलिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदक़िस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से हमें आज की दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालत में तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो ज़रूरी ही रहे हैं, न वाञ्छनीय ही। अब वे फ़ज़ूल हो गये हैं और हर वक्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। और धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और ग़रीब जिस हालत में हैं उसीमें संतुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें, और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियों के मार्ग में बाधा है वरन् उनका अपव्यय करने-

वाला भी है। यह समाज और जो प्रणाली इस जमात को पैदा करती है वह वास्तव में उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनों भागों के बेकारों को शह देती है, यानी उन लोगों को भी जो दूसरो की मेहनत पर चैन करते हैं और उनको भी जिनको कोई काम ही नहीं मिलता और जो इसीलिए भूखों मरते हैं। खुद गांधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखों मरनेवाले लोगों के लिए तो मजदूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन वही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने अपने बन्दों को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावें और उसने कह दिया था कि जो बिना कमाये खाते है वे चोर है।"

उनकी मिल्कियत के अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। युद्ध के समय मे तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोडकर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक में जमा की हुई और कर्ज के रूप मे दी गई पूंजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की माँगो के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारो को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की जब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नही है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले जमाने में भी ज्यादातर लोगो के कोई साम्पत्तिक अधिकार नही थे, वे खुद भी दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक हासिल है। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलो का उपभोग करे। सिर्फ इन बदलती रहनेवाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नहीं हो जाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है, और मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथों में वापस ले लिया जाता है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते है। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रियों के भोगों को तिलाञ्जलि दे दें और पवित्र बन जायें।

वह इस बात पर जोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, न सिगरेट वग़ैरा पीवें। इस मामले में लोगों में मतभेद हो सकता है कि इन भोगों मे से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात में किसीको शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम अधिक हानिकारक हैं—बनिस्बत लालच, ख़ुदगर्ज़ी, परिग्रह, ज़ाती फ़ायदे के लिए व्यक्तियों के भयानक लड़ाई-झगड़े, जमातों और फ़िरक़ों के क्रूर संघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयो के? यह सच है कि गाँधीजी इस तमाम हिंसा और पतनकारी संघर्ष से नफ़रत करते है। लेकिन क्या ये सब बातें आजकल के स्वार्थी पूँजीपति समाज मे स्वाभाविक रूप में मौजूद नही है, जिसका क़ानून यह है कि बलवान लोगों को कमज़ोरों का शिकार करना चाहिए, और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाजुओ में ताक़त है वे जो चाहें सो लेले और जो रख सकते है वे जो चाहें अपने पास रखे?" इस युग की मुनाफ़े की भावना का लाज़िमी परिणाम संघर्ष होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियो का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमे सन्देह नही कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओं को भी शह मिलती है; लेकिन इनकी अपेक्षा उसकी हीन वृत्तियों को कही अधिक पोषण मिलता है। इस प्रणाली में कामयाबी के मानी है दूसरों को नीचे गिरा देना और गिरे हुओ पर चढ़ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यों और महत्त्वाकाक्षाओं को प्रोत्साहित करता है और इन्हीकी तरफ़ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते है, तो क्या गांधीजी यह समझते है कि ऐसे वातावरण में वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेंगे? वह जनता को सेवाभावमय बनाना चाहते है। सम्भव है, कुछ व्यक्तियो को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय; लेकिन जबतक समाज स्वार्थी शोषक-समाज के शूरमाओं को लोगों के सामने आदर्श के रूप में अपने सामने रक्खेगा और जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन-समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज़ सदाचार या नीति के वादविवाद का नहीं है। यह तो आजकल का एक बहुत ज़रूरी मसला है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नही। उसे उससे निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूंढना ही होगा। मिकावर[1] की तरह हम इस बात का इन्तजार नहीं कर

१. मिकावर, विल्किन्स, श्री चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफ़ील्ड' नामक

सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियों में की चुनी हुई सर्वोत्कृष्ट बातों को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नहीं चलेगा। बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहां हैं वहां-के-वहीं खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे बढ़ें। लेकिन शायद इस बात में हम स्वतन्त्र भी नहीं हैं, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयों से कोई भी यह सोच सकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से ले आना है। न केवल राष्ट्र बल्कि गांव तक को स्वाश्रयी बना देना है। प्राचीन काल के प्रारम्भिक समाजों में गांव कम या बढ़ स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपड़े और अपनी जरूरतों के दूसरे सामान गांव में पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी ये हैं कि लोग बहुत ही गरीबी के ढंग से रहते होंगे। मैं यह नहीं समझता कि गांधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते हैं, क्योंकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन मुल्कों की आबादियां बहुत बढ़ी हुई हैं, वे तो जिन्दा ही नहीं रह सकते। इसलिए वे इस बात को बरदाश्त नहीं करेंगे कि इस कष्टमय और भूखों मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहां कि रहन-सहन का पैमाना बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक्की देकर वहां की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते हैं। लेकिन हम लोग बाक़ी दुनियां से उसी तरह बंधे हुए हैं जैसे दूसरे मुल्क बंधे हुए हैं, और मुझे यह बात बिलकुल गैरमुमकिन मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सकें। इसलिए हमें सब बातों को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना ही नहीं हो सकती। जाती तौर पर मैं तो उसे सब दृष्टियों से अवाञ्छनीय समझता हूँ।

लाजिमी तौर पर हमारे पास सिर्फ़ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह

नाटक का एक मशहूर पात्र है, जिसकी उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-दूसरी का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है।

है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सभाओं के अन्दर क़ायम होगी, फिर कालान्तर में तमाम दुनिया में। इस व्यवस्था में उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों से होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ़ है कि महज़ इस ख़याल से कि जिन थोड़े-से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है वे उसे बदलने में ऐतराज़ करते हैं, हमें अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थायें ऐसी तबदीली के रास्ते में अड़चन डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलांजली देकर इन संस्थाओं से समझौता करना बहुत बुरा विश्वासघात होगा। दुनिया की हालतें इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती हैं। लेकिन पूरे तौर पर तो वह तबतक मुश्किल से ही हो सकती है जबतक जिन लोगों का उसमें फ़ायदा है उनमें से बहुत बड़ी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मंजूर करे। इसीलिए इस बात की ज़रूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष में कर लिया जाय। मुट्ठीभर लोगों का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा। कुदरतन कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ हो जायँ, लेकिन यह बात मुमकिन नहीं मालूम होती कि उनमें का अधिकांश कभी हमारी तरफ़ हो सकेगा।

गांधीजी के खास तौर पर प्रिय खादी-आन्दोलन में उत्पत्ति के काम में व्यक्तिवाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमें औद्योगिक ज़माने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज़ से तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही नहीं सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ बढने देने में अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी, मैं मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फ़ायदा पहुँचाया और भविष्य में भी कुछ समय के लिए और लाभदायक हो सकता है, उस वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ में नहीं लेलेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कहीं कोई हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज्यादा है। सरकार की तरफ़ से इस बेकारी का मुक़ाबिला करने के लिए कोई कोशिश नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी क़िस्म की मदद देने की ही कोशिश की है।

आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगों को कुछ थोड़ी-सी मदद जरूर दी है, जो बिलकुल या कुछ हद तक बेकार थे; और क्योंकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढ़ाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालों और गाँववालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपड़ों के पहननेवालों और देखनेवालों दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढ़ी, पोशाक की दिखावट और उसका गंवारूपन कम हो गया, और आम लोगों के साथ एकता का भाव बढ़ा। इसके बाद जो लोग मध्यमवर्ग में भी नीची श्रेणी के थे, उन्होंने कपड़ों के मामलों में अमीर लोगों की नकल करना छोड़ दिया और खुद सादी पोशाक पहनने में किसी किस्म की बेइज्जती समझना भी छोड़ दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपनेको ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे, वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन ग़रीब और इन लोगों में साथीपन का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुँचने में मदद दी। वह क़ौमी आजादी की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के कपड़े की मिलों के मालिकों में अपनी मिलों के कपड़ों की क़ीमतें बढ़ाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने में तो हिन्दुस्तान की इन मिलों के मालिकों को सिर्फ एक ही डर क़ीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था, विलायती खासतौर पर लंकाशायर, के कपड़ों की क़ीमतों का मुक़ाबिला। जब कभी यह मुक़ाबिला बन्द हो गया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की क़ीमत बेहद चढ़ गई और हिन्दुस्तान की मिलों ने मुनाफ़े में भारी रक़में कमाईं। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपड़ों के बहिष्कार के पक्ष में जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलों को बहुत बड़ी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुक़ाबिले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिलों के कपड़ों की क़ीमतें उतनी

न बढ़ सकीं जितनी वे खादी के न होने पर बढ़तीं। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलों ने (साथ ही जापान ने भी) लोगों की खादी की भावना से नाजायज़ फ़ायदा उठाया—उन्होने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी ग़ैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमें विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलों के मालिको के लिए कपड़ो की खरीदार पब्लिक से अब उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नहीं है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हे ऐसा करने से रोकेगा और खादी के सगठन मे इतनी ताकत है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान में खादी के धन्धे के इन सब फायदो के होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। मुमकिन है कि इस काल के गुज़र जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने में मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्त्तमान व्यवस्था मे आमूल परिवर्त्तन करके औद्योगिक धन्धो के प्रसार मे लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने मे और उन अगणित सरकारी कमीशनों से, जो लाखों रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ़ ऊपरी ढाचों में चुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीज़ें करते हैं, जरा भी लाभ नही होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है, वह हमारी आँखो के सामने ढहती जा रही है और वह पैदावार के लिए, बटवारे के लिए, और माकूल व बडे पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगों के लिए एक अड़चन साबित हो रही है। इस प्रथा मे आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तों की जगह संगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोड़े परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुक़ाबिला कर सकते है। यह ठीक है कि, जैसा गाधीजी को डर है, बडे पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालों की तादाद कम हो जायगी; लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमे हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेंगे। बाकी के दूसरे लोगों को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धों मे जुटना पड़े, लेकिन ज्यादातर लोगों को तो खास तौर पर बड़े पैमाने पर किये जानेवाले समाज-कृत काम-धन्धों और समाजहित के कामों में लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलकों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-

प्रथा को पोषण दे रही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने में देर लगा रही है। यह जरूर है कि खादी का यह असर इतना काफ़ी ज्यादा नहीं है कि उससे कोई खास फ़र्क पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति जरूर मौजूद है। किसान या छोटे किसान-जमींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफ़ी भी नहीं रहा कि जिससे वह उसके जरिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत में से भी अपना गुजारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आम तौर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा क़र्ज़ में फँसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वग़ैरा से जो ज़ायद आमदनी होती है उससे सरकार या ज़मींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है, जो उसके अभाव में नहीं मिलती। और अगर यह ज़ायद आमदनी बहुत काफ़ी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनो बाद लगान इतना बढ़ जाय कि वह इसे भी हड़प जाता। मौजूदा प्रथा में काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर में ज़मींदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुँचेगा। जहाँतक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की और गरीबी' (Progress and Poverty) नाम की किताब मे इस मामले को, खास तौर पर आयर्लैण्ड की मिसालें दे-देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गाँवों के धन्धो का पुनरुद्धार करने की गाधीजी जो कोशिश कर रहे है वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उसमे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अंश मे तो स्थायी, और शेष अधिकाश थोड़े दिनो के लिए। वह गाँववालो की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ ऐसे सांस्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणो को, जिनके नष्ट हो जाने की आशका थी, फिर से ज़िन्दा कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनों के और उद्योगवाद के खिलाफ़ एक बगावत है, वहाँतक उसे कामयाबी नहीं मिलेगी। हाल ही मे 'हरिजन' मे गाँव के धन्धो के बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मशीनो से उस वक़्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हो तो, मशीनों से काम लेना बुरा है। ...हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गाँव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुर्सत किस तरह दिलावें। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी के

घण्टों का किस तरह इस्तैमाल करें जिनकी तादाद साल में काम के छः महीनों के बराबर है।" लेकिन यह ऐतराज़ तो थोड़ी-बहुत मात्रा में उन सब मुल्कों के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए हैं। लेकिन सचमुच खराबी यह नहीं है कि लोगों के करने के लिए काम नहीं है, वह तो यह है कि मौजूदा पूंजीपति-प्रणाली में अब अधिक लोगों को काम में लगाना लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तज़ाम करना, सफ़ाई और दवादारू की सहूलियतों को फैलाना, धन्धों का, बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और तालीम का प्रसार करना और लोगों के पास जिन बीसियों ज़रूरी चीज़ों की कमी है उनका इन्तज़ाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें खत्म न कर पायँगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातों का सगठन आम लोगों की भलाई के लिए करे। रूस की सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी खामियां हों, लेकिन वहां एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं, कि उनके लिए कोई काम नहीं है, बल्कि इसलिए बेकार हैं, क्योंकि उनके लिए काम के और सांस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी किस्म की सहूलियतें नहीं हैं। अगर बच्चों से मज़दूरी कराना क़ानूनन रोक दिया जाय, एक माकूल उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाज़िमी कर दिया जाय, तो मज़दूरों और बेकारों की तादाद में से इन लड़के और लड़कियों की कमी हो जायगी और मज़दूरों के बाज़ार में से करोड़ों भावी मज़दूरों का बोझ हल्का हो जायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में और उनके चलाने की ताकत को बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औज़ार और मशीन में तरक्की करने की कोशिश है; और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की बात तो यह है कि यह बात भी क़यास से बाहर नहीं है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगें), तो मुनाफ़े की भावना फिर आ घुसेगी और उससे वे अलामात, जो बहुत पैदावार और बेकारी के नाम से पुकारे जाते हैं, पैदा हो जायँगे। जबतक हम गांव के धन्धों को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नहीं मिलायँगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सांस्कृतिक चीज़ों की लाज़िमी तौर पर हमें ज़रूरत है उन्हें भी पैदा नहीं कर सकेंगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुक़ाबिला नहीं कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेंगे, कि

हम अपने मुल्क में बड़े पैमाने पर काम करनेवाली मशीनों को अपना काम करने से रोक दें ? गांधीजी ने बारबार यह कहा है कि वह मशीन के रूप में मशीन के खिलाफ़ नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते है कि आज हिन्दुस्तान में उनके लिए कोई जगह नहीं है । लेकिन क्या हम बुनियादी धन्धों को —जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धों को भी जो पहले से मौजूद है—समेटकर बन्द कर सकते है ?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नही कर सकते । अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियतें वग़ैरा रहे, तो या तो हमे खुद ये चीजें बनानी पड़ेंगी या दूसरों पर निर्भर रहना होगा । अगर हमें अपने मुल्क की हिफ़ाजत के ज़रिये अपने पास रखने है, तब तो हमे न सिर्फ़ बुनियादी धन्धे ही जारी रखने पड़ेंगे बल्कि बहुत ज्यादा बढ़ी हुई औद्योगिक प्रणाली भी कायम रखनी पडेगी । इन दिनों तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल में आजाद नही है, और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुकाबिला ही कर सकता है, जबतक कि औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो । एक बुनियादी धन्धे को इस बात की जरूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे, और अन्त मे हमें खुद मशीनें बनाने का धन्धा भी जारी करना पडेगा । जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेगे, तब यह लाज़िमी हो जायगा कि छोटे धन्धे भी फैले । इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि उससे न सिर्फ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक तरक्की ही बधी हुई है बल्कि हमारी आज़ादी भी उसीपर मुनहसिर है और बड़े धन्धे जितने ज्यादा फैलेंगे, छोटे पैमानो पर किये जानेवाले गाँवो के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेगे । समाजवादी प्रणाली मे उनके बचने की थोडी-बहुत गुंजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली में तो उन्हें कोई मौका नही मिल सकता; और समाजवाद में भी वे घरेलू धन्धों के रूप में उसी हालत मे रह सकते हैं, जब वे खास तौर पर ऐसा माल तैयार करें, जो बहुत बडे पैमाने पर तैयार नही किया जाता ।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है । उनका ख़याल है कि उद्योग-प्रधान मुल्कों की मौजूदा मुश्किले बहुत बड़े पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है । लेकिन यह तो स्थिति की बाबत बहुत ही गलत खयाल है ।[1] अगर आम

१. ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने में है । हम यह नहीं चाहते कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्कों में जो खराबियाँ पैदा हो गई हैं उन्हें हम अपने यहाँ भी बुलावें ।"

लोगों के पास किसी चीज़ की कमी है, तो उस चीज़ को उनके लिए काफ़ी तादाद में तैयार करना क्या कोई बुरी बात है ? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज़ के बिना ही वे अपना काम चलायें ? साफ़ ज़ाहिर है कि क़ुसूर इस तरह माल तैयार करने का नहीं है, बल्कि तैयार हुए माल का बंटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है ।

गांवों के धन्धों की तरक़्क़ी करनेवालों को जिस दूसरी मुश्किल का सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के बाज़ार पर मुनहसिर है । इसकी वजह से मजबूरन किसानों को ऐसी फसल बोनी पड़ती है जिसके दाम अच्छे मिलें और दामों के लिए उन्हे दुनिया के प्रचलित भावो पर निर्भर रहना पड़ता है । लेकिन जबकि ये भाव बदलते रहते हैं तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या मालगुजारी नगदनाराण के रूप में देनी पड़ती है । किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पड़ता है, या हर हालत में वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फ़सल बोता है जिसकी वह समझता है कि मुझे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी । वह तो इतना भी नही कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने बाल-बच्चो को खिलाने के लिए जितने अनाज की उमे ज़रूरत है उतना तो खुद अपने खेत मे पैदा करले ।

इन सालो मे खाद्यपदार्थों मे मे ज्यादातर अनाजो और दूसरी चीज़ो की कीमत एकदम गिर गई, तो नतीजा यह हुआ कि लाखो किसान, ख़ास तौर पर युक्तप्रान्त और बिहार के, ईख की खेती करने लगे । सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुंगी लगादी है उसकी बदौलत बरसाती मेंढको की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की मांग बहुत बढ गई । लेकिन इस मांग को पूरा करने के लिए लोगों ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही मांग से बहुत ज्यादा बढ़ गया । नतीजा यह हुआ कि कारखानो के मालिको ने बेरहमी के साथ किसानो से नाजायज़ फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई ।

इन चन्द वजूहात और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातों से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओं को किसी तंग स्वाश्रयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते है और न करना ठीक ही होगा । निस्सन्देह, हमारी जिन्दगी के हर पहलू से इनका ताल्लुक है । हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यो के पीछे छिपकर अपनी जान नही बचा सकते । हमें तो इन तथ्यो का सामना करना होगा और अपनेको उनके माफ़िक बनाना पड़ेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायें ।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गांधीजी—का ख़याल आता है।' समझ में नहीं आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पददलित और पीड़ितों की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यों समर्थन करते हैं, जो इस तमाम पीड़ा और बरबादी को पैदा कर रही है और स्पष्टतः जो अपने-आप गिर रही है! यह सच है कि वह लोगों को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूंढ रहे है। लेकिन क्या पुराने ज़माने का वह रास्ता अब बन्द नहीं हो गया है? वह पुरानी व्यवस्था के स्मारक-स्वरूप "उन सब चीज़ों को आशीर्वाद देते जाते है जो तरक़्क़ी के रास्ते में रोड़े बनकर अटकी हुई हैं—जैसे माण्डलिक रियासतें, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ व ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल मे इत्मीनान करना माकूल बात है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने पब्लिक की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण हैं कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करलें? फिर ऐसे दैवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह है कहाँ? यहाँ तो सिर्फ मामूली इन्सान भर है, जो हमेशा यह सोचा करते है कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारों का प्रसार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह से घातक ही होता है।

मै इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मैं यह नहीं सोच रहा कि

१. सन् १६३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कांग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में, जिन्हें 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ़ से यह कहने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोड़े हैं उन्हें किस तरह हटाया जाय? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव से या जबर्दस्ती से, अहिंसा से या हिंसा से? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूँगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ़ कर दी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योंकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफ़ तौर पर अनुभव न करे और न कहें, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने खयाल का बना लेंगे या लोगों में वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेंगे? इसमें कोई शक नहीं कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओं से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह जरूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझे और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करे।

मेरे जो दोस्त और साथी प्रायः मेरे भाषणों से चिढ़े हैं, उन्होंने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है, कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, जमींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानुष पूंजीपति कभी नहीं मिला? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले हैं। मैं खुद उस श्रेणी के लोगों में से हूँ, जो इन जमींदारों और पूंजीपतियो में मिलते-जुलते रहते हैं। मैं तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओ-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलो-दिमाग़ में जो भले-बुरे सस्कार भर दिये वे सब मुझमें मौजूद हैं। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहो आने सही है। शायद अब वे मुझे अनुतप्त बुर्जुआ कहेंगे। लेकिन मैं क्या हूँ और क्या नहीं, यह सवाल ही नहीं है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलों को कुछ इने-गिने व्यक्तियों की निगाह से देखना बेहूदगी है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवालात करते हैं, यह कहते कभी नहीं थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नहीं। मैं तो इस हद तक भी नहीं जाता। मैं तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियों से मेरा कोई झगड़ा नहीं, मेरा झगड़ा तो प्रणालियों से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्तियों और समूहों में ही मूर्त्तिमान होती है, और इन व्यक्तियों और समूहों को हमें या तो अपने खयाल का कर लेना पड़ेगा या उनसे लड़ना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की न रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पड़ेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हें भी बदलना पड़ेगा। परिवर्त्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तक़लीफ़ होनी चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड़बड़ी का होना तो लाज़िमी भी है। किसी दूसरी कम बुराई के डर की वजह से ही बहुत बड़ी बुराई को बरदाश्त नहीं किया जा सकता, खास

उस वक़्त, जब कि कुछ थोड़ी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताक़त से बाहर है। हर तरह के मानव-संगठन—राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक—की अपनी-अपनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन संगठनों में कोई हेरफेर हो तो उस विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फ़ायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आम तौर पर घटनायें इतनी तेज़ी से बढ़ती है कि विचारादर्श पीछे पिछड़ जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतों की जड़ है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनों ही १९वीं सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नहीं थे। उन दोनों में बुनियादी भेद था। क्योंकि लोकतन्त्र तो ज्यादा लोगों की ताकत पर ज़ोर देता था, जबकि पूंजीवाद से असली ताक़त थोड़े-से लोगो के हाथ मे रहती थी। यह बेमेल जोड़ा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योंकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त सकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई खास हस्तक्षेप नहीं किया।

फिर भी ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र की भावना बढ़ती गई, इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक्त आ गया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब क़िस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे है। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी हो गई है, और इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बातें तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरंकुशता को उचित ठहराते हैं और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरों से ऐलान करते है जो कि दुनिया में अब और कहीं नहीं पाई जाती।[१] लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र मे जो त्रुटि या खामी है वह यह नही है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह

१. २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने, मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का ज़िक्र किया था। जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियाँ देशी नरेशों को अपने यहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"जबकि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामों को करने के लिए राजी रहे हैं जो अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम हैं, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपने-को और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे, तब हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के

है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफ़ी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीक़े ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज़ रफ्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज़ ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाजत के लिए या उनकी तरक्क़ी के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने ज़माने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के ठीक मध्य में इतनी थोड़ी तबदीली के साथ टिके हुए हैं। वहाँ का वातावरण गलाघोंटू और स्तब्ध है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्त्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागंतुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा सम्मोहन उसपर ग़ालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होता है, जहाँ समय स्तब्ध खड़ा रहता है और अपरिवर्त्तनीय दृश्य आँखों के सामने दिखाई देते हैं। सर्वथा अज्ञात-भाव से वह भूतकाल और अपने बचपन के स्वप्नों की ओर बह जाता है, और कटिबद्ध शस्त्र-

लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रंगी हुई कमीज़ पहन लेंगे तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" (इस सिलसिले में पृष्ठ ६०७ पर मैसूर—दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम जो सैकड़ों साल की वंश परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते हैं कि हममें राज करने का सहज ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अंशों में राजदक्षता भी विरासत में पाई है, उन्हें इस बात का पूरा-पूरा ख़याल रखना चाहिए कि हम इस बात की हिफ़ाज़त करलें कि हम जल्दबाज़ी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायँ। और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपनेको किसीके हाथों बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं, और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायँ, तो नरेश और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आख़िरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायँगे।"

सज्जित शूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियों के और बुर्जदार क़िले और बहादुर सैनिकों के सम्मान और गौरव के तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखों के सामने घूमने लगते हैं। खासकर तब, जब वह संयोग से अद्भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना में पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते हैं और विषाद की भावना आ घेरती हैं। वहाँ का वातावरण अवरोधक है और उसमें साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्दगति-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहाँपर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानों वह चारों ओर काँटों और बाड से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। उसे वहाँके राजमहल की चमक-दमक और शान-शौक़त के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त अवनत और विपद्पूर्ण दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतों और ऐयाशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है! अपने राजाओं को बढ़ाना और उन्हें क़ायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अखबारों को वहाँ पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अखबारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर—जहां साक्षरता ब्रिटिश भारत से भी कहीं ज्यादा है—अन्यत्र साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो खास खबरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ में दिये गये व्याख्यानों का जिक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा जन्मगांठ की, जिसमें बेहद रुपया खर्च किया जाता है, या किसानों के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश भारत तक में खास क़ानून आलोचना से राजाओं की रक्षा करते हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहाँ कोई जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए की जानेवाली सभायें तक रोक दी जाती हैं।[1] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर

[1] हैदराबाद दक्खिन का ३ अक्तूबर १९३४ का प्रेस-समाचार कहता है—"स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस

रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के क़रीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने कश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहां किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जा रहे थे। वह कश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाजत नहीं दी गई।

जब कि रियासतों में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गांधीजी ने कांग्रेस मे रियासतों के सम्बन्ध मे एक नई नीति को जन्म दिया। वह नीति थी "रियासतों के भीतरी इन्तजाम में दखल न देने की।" रियासतों में असाधारण और दुःखदायी घटनाओं के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभीतक अपनी उसी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। जाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्त्तन' ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल न देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतो की क़ानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होने जाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश क़ानून के अनुसार रियासतें स्वतन्त्र हस्ती रखती हैं। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की पॉलिसी को शकल देने का उतना भी अख्त्यार नहीं है जितना उसे,

---

सार्वजनिक सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-संघ ने किया था। संघ के मंत्री ने अखबारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक्त से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाज़त तभी मिल सकती है जबकि दो हज़ार की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफ़सरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

मसलन, अफ़ग़ानिस्तान या सीलोन की नीति को शकल देने का हूं।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन रियासतों के राजाओं ने इन विचारों का काफ़ी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फ़ायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा, कि "जिम्मेदार नेताओं ने खुद यह सलाह दी है।" जाहिर है कि यह इशारा गांधीजी के बयान की तरफ़ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह की लड़ाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लड़ाई कभी नहीं हुई थी)। जिस वक्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात को नोट करना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर थे (और अब भी हैं), जो एक वक्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मदरास-सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर रहे।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक़, मामूली वक्त में भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालों की तरफ़ से पब्लिक में एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलों तक ने इसके खिलाफ़ जोरों से आवाज़ उठाई। सचमुच रियासतों के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज्यादा नरम और संयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही—बहुतसे राजाओं के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

भारतीय नरेशों के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूंक-फूंककर क़दम नहीं रखते थे। फ़रवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय

१. ६ जनवरी १९३५ को बड़ौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को उन सीमाओं में रहते हुए काम करना चाहिए, जो रियासतें बाँध दें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहे।"

के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ़्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैग़म्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौक़त और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहाँ से चले ज़रूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा भवन से चले गये। यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगी और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गईं।

श्री एन० सी० केलकर को गांधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमें आगे उन्होंने यह भी कहा, कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दें और वे अपनेको वास्तव में उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिनपर कि वे हुकूमत करती हैं।" अगर ट्रस्टीशिप के इस ख़याल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे में क्यों ऐतराज करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं? मैं इसमें कोई फ़र्क़ नहीं देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन जहाँतक चमड़े के रंग से, जातीय उत्पत्ति और संस्कृति से, सम्बन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगों में आपस में भी करीब-करीब उतने ही भेद हैं, जितने कि उनमें और अंग्रेज़ों में।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफ़सर बड़ी तेज़ी से घुस रहे हैं। अक्सर वे बेबस राजाओं की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उनके मत्थे मढ़ दिये गये हैं। वैसे तो सदा से भारत-सरकार का देशी राज्यों पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ ख़ास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं, तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फ़ायदा ज़रूर उठाती है।

मैं यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूबों में भी किसानों-सम्बन्धी, उद्योग-धन्धों-सम्बन्धी, सम्प्रदायों-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी काफी फ़र्क़ है, और हम हमेशा सब

सूबों में एक नीति से काम नही ले सकते। लेकिन हालांकि हम कहाँ क्या काम करें यह तो वहाँ के हालात के ऊपर मुनहसिर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी आम पॉलिसी अलग-अलग नही होनी चाहिए, और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए; नहीं तो हमारे ऊपर यह इलजाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मक़सद सिर्फ़ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ में आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ़ काफ़ी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ़ पड़ता है। इसमें कोई शक नही कि अगर हम चुननेवालों को अलग-अलग बन्द कमरों में बाँट दें तो लोकतन्त्र क़ायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका कायम किया जाना मुमकिन नही है। लेकिन पं० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और अथक आलोचक है, रियासतो मे जो कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे मे अजीब तौर से चुप है और जाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार है कि रियासतो की स्वेच्छाचारिता और बाक़ी के हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज आपस में मिलकर संघ-राज्य क़ायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौजूँ और बेहूदा एकता की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती बनते हैं वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल जाते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते है, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेरणाये अभीतक भावुकतामय ही बनी हुई है।

इस तरह मैं लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतो की विकट समस्या पर आता हूँ। मेरा दिमाग़ थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढसौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो परोपकार से तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते है।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नही भूलते। लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा ज़ोर क्यो देते है?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुक़ेदारी और जमींदारी-प्रथा पर भी लागू होती है। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नही मालूम पड़ती है कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो बढ़नेवाले पूँजीवाद के भी खिलाफ़

जाती है और क़रीब-क़रीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ धीरे-धीरे गायब हो गई हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने लेली है। मेरी तो हमेशा यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवत: उठ सकता है वह मुआवज़े का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुक़ेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ में उन्होंने कहा था—"किसानों और ज़मीदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये जा सकते हैं। अगर यह हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ अमन-चैन से रह सकते हैं। मैं तो कभी भी ताल्लुक़ेदारी या ज़मीदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह आखिरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते हैं कि उन्होंने आगे यह कहा—"बिना उचित कारणों के जायदादवाली श्रेणियों से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलों पर घर करके मैं आपको अपनी राय का बना लूं, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तैमाल खास तौर पर उनकी भलाई के लिए करें।······लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ़ लड़ता हुआ पायँगे······पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन खास विचारों पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। जिन धारणाओं पर सामाजवाद वगैरा टिके हुए हैं, उनमें से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलत: स्वार्थी है······इसलिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मज़दूर और मालिकों, किसानों और ज़मीदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने ज़मीदारों के एक डेपूटेशन से कही थीं।

मैं नहीं मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी खयालात में ऐसे कोई फ़र्क़ हैं। शायद कुछ हों। लेकिन हाल ही के पिछले दिनों में तो एक ज़ाहिरा फ़र्क़ यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिकों और ज़मींदारों ने अपने मज़दूरों और किसानों के हितों की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के बिरादरीवालों ने नहीं की। हिन्दुस्तान के ज़मींदारों की तरफ़ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम में दिलचस्पी लेने की अमलन कोई कोशिश नहीं हुई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और ज़मींदार

ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी हैं, कि अर्वाचीन मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[1] शायद इसमें हिन्दुस्तान के ज़मींदारों का कोई क़ुसूर नहीं है। परिस्थितियाँ उनके इतनी ख़िलाफ़ थीं कि वे उनका मुक़ाबिला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फँस गये हैं, जिसमें से अपनेको मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत-से ज़मींदारों से तो उनकी ज़मींदारियाँ बोहरों ने लेली हैं, और छोटे-छोटे ज़मींदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुँच गये। शहरों में रहनेवाले इन बोहरों ने पहले तो ज़मीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हड़प-कर अब वे ख़ुद ज़मींदार बन बैठे हैं और गांधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी हैं जिनको उन्होंने ख़ुद उनकी ज़मीन से वञ्चित किया है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि वे अपनी आमदनी ख़ास तौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायँगे।

अगर ताल्लुक़ेदारी की प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान भर में क्यों नहीं जारी की जाती। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सों में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गांधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ और ताल्लुक़ेदारियाँ क़ायम हो जाना पसन्द करेंगे? तो फिर क्या बात है कि ज़मीन सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए? जहाँ-तक मेरा ख़याल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व पूरब और पश्चिम व दक्षिण के रहने-वाले लोगों में ऐसा कोई ख़ास फ़र्क़ तो नहीं है; और उनके बुनियादी ख़यालात भी एकसे हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की आर्थिक जाँच नहीं की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फ़ायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ़ एक ही बात की ज़रूरत है; और वह यह कि लोगों का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। ज़िन्दगी और उसके मसलों की तरफ़ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख़ है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। फिर भी गांधीजी इससे आगे बढ़ जाते हैं और राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने धार्मिक रुख़ को ले आते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्यायें जो आज हिंदुस्तान के सामने हैं। हमने अपनेको कुछ गुत्थियों में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन

१. एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

हुए, स्पिनोज़ा ने एक सवाल पूछा था—"ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने, और भावुकता की गुलामी में रहने, इन दो में से आप कौन-सी चीज़ को पसन्द करेंगे ?" उन्होंने खुद पहली बात पसन्द की थी ।

६३

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के उसूल की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज में इसी उसूल का बोलबाला रहा है। लोगों की बहुत बड़ी तादाद ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगों ने अपनेमें काफ़ी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मज़ाक भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में उसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया में भी लोगों का काफ़ी ध्यान उसने अपनी तरफ़ खींचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिकरूप में उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलतः धर्म से सम्बन्धित चीज़ थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सांसारिक प्रपंचों से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति लाभ करने का साधन थी। उसके ज़रिये बड़े-बड़े सामाजिक मसलों को हल करने और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का कोई खयाल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्ष-रूप में। उस वक्त लोगों की करीब-क़रीब यही भावना थी कि मौजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओं और अन्यायों सहित, ऐसा ही रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह वैयक्तिक आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी ग़रज़ से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओं में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीक़े हैं; एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पड़ता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वयं कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीक़े से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के

खिलाफ़ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[1]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे अस्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में बहुत-से प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नही पड़ता था। इन-का सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थों में तो अभीतक अहिंसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अतभीक साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है, और सामाजिक अर्थ मे तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नही की। लेकिन फिर भी जो आदमी जरा भी गहराई से देख सकता है, वह यह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों मे उसने एक जबरदस्त तबदीली कर दी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है; और ये ऐसे अमूल्य गुण हैं जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसी भी क़िस्म की तरक्की करना या उसे क़ायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए है या महज संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौकों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फ़ायदे हिंसात्मक लड़ाई के जरिये भी हासिल किये हैं; फिर भी, मेरा खयाल है, कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीक़ा हमारे लिए बेशक़ीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का जिक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चित रूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी वजूहात और हालतों की बदौलत हुई। उसने आम लोगों में वह तेजी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो इनकिलाबी हेर-फेर से पहले पैदा होती है।

स्पष्ट रूप से यह बात उसके हक़ मे है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नही लेजाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदक़िस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है

१. ४ दिसम्बर १९३२ को अपने एक अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उसमे।

और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होंने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं किया। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है।[1] ज़ोर-जबरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है, और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते है मानों वे एक-दूसरे के समानार्थक हे। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हों उन को उच्चात्माओं की कोटि का मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है बल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानों वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं। और गांधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाज़िमी तौर पर अपने-आपको बड़ा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन हममें से जो इतने खुशक़िस्मत नहीं कि इस चीज़ में इतनी श्रद्धा रखते हों, उन्हे बहुत-से सन्देहों से परेशान होना पड़ता है। तात्कालिक आवश्यकताओं से उन-का कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूँ कि मुझमे भी यह सन्देह मौजूद है और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को कतई नापसन्द करता हूं, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान मे या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दबाव से अधिक दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके कारण गांधीजी के अनन्य भक्तो और साथियो के दिमाग़ कुण्ठित हो जाते हैं और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहते?

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफ़ी तौर पर अपना सकते हैं? क्योंकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ है। यह सच है कि दरअसल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त में जाकर ऐसा हो भी सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन उसके बिना जीवन उस निरे बुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस हो जायगा, जिसमें कम्पन और तड़प है लेकिन जिसका मतलब कुछ नहीं है। इस मक़सद पर पहुंचने के

१. The Power of Non-violence (अहिंसा की ताक़त) नामक किताब में रिचार्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है।

लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इन गुणों को अपनाने के लिए लोगों में प्रचार करें और उन अड़चनों की कुछ भी परवाह न करें, जो इस मक़सद पर पहुँचना नामुमकिन कर रही हैं और जो इस मक़सद के खिलाफ़ पड़नेवाली हरेक प्रवृति को शह दे रही है ? अथवा, क्या हम पहले इन अड़चनों को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करलें ? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें ?

और फिर क्या हिंसा और अहिंसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है ? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबाने या मजबूर करनेवाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द है ? सत्य क्या है ? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारों जवाब दिये जा चुके हैं, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता। हिंसा स्वतः बुरी है, लेकिन आप उसको महज उसके हिंसा होने की वजह से ही पापमय नहीं कह सकते। उसके कई आकार और प्रकार है, और अक्सर यह हो सकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबिले में हमें हिंसा पसन्द करनी पड़े। गांधीजी ने यह खुद कहा है कि बुज़दिली, डर और गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस फ़ेहरिस्त मे और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोड़ी जा सकती हैं, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी हैं। यह सच है कि आम तौर पर हिंसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नहीं है। यह बात हो सकती है कि हिंसा का आधार सद्भावना पर हो- (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज, जिसका आधार यह हो, कभी भी सिद्धान्तः पापमय नहीं हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है; लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है। लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की क़सम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख अख्त्यार कर लेना, जिसका स्वयं जीवन से क़तई कोई सम्पर्क नहीं होता। हिंसा तो आजकल के राष्ट्रों और सामाजिक प्रणालियों का जीवन-

तत्त्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जा सकते हैं, न जमींदारों को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही क़ायम रह सकती है। अपने शस्त्र-बल से क़ानून दूसरों को दूसरों की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक हिंसा के बल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गांधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नहीं है। वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज़, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगों के लिए नहीं है, जो परिस्थितियों के सामने चुपचाप सिर झुका देते हैं। उसका तो उद्देश ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्त्तन के भाव के पीछे उद्देश कुछ भी रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगों को विवश करने या दबाने का भी एक ज़बरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों मे गांधीजी ने खुद "मजबूर करना" शब्द का इस्तैमाल किया है। पंजाब के फ़ौजी क़ानून के ज़माने के अत्याचारो के सम्बन्ध में दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफ़ोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होने लिखा था:—

"कौंसिल-उद्घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख़ मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्मसम्मान रखनेवाले के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नही है। वह चाहते हैं कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर करदें, जिसका कोई लक्षण नही दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचकों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्ज़त से ताल्लुक रखनेवाले बहुत-से ज़रूरी मामलों पर उनकी राय अभीतक नही बदली है; वह इतने ही से संतुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक उन अफसरों के जूतों के नीचे दबे

हुए हैं, जो अपने-आपको किसी विश्वास और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर चुके हैं, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके किस काम आयगा ? पजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मौजूद रहते हुए सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न किया जाय तो, कम-से-कम, निरा पाखण्ड तो है ही।"

यह बात जग-जाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिंसा पर आश्रित है—न केवल शस्त्र-बल की हिंसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रयुक्त जासूस, मुखबिर, लोगों को भड़कानेवाले एजेण्टो, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों के द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार के भयों की कहीं अधिक भयंकर हिंसा पर। उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं और षड्यत्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियों-उपभेदियों, अपराधियों के गुप्त अड्डो के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय व गुप्त हत्याओ के अपने सब साधनो सहित खुफिया पुलिस का बहुत बड़ा जाल काम करता है। शान्तिकाल तक में सरकारों के बीच सब प्रकार का झूठा और दग़ा-फरेब जायज है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज्यादा जायज हो जाता है। खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वे ईमानदार प्राणी है जो अपने मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्को मे भेजे जाते है।" आजकल तो राजदूतों के साथ उनका फ़ौजी, जहाज़ी और व्यापारिक कबीला भी जाता है, जिसका खास काम होता है, उस मुल्क का भद लेना जिस मुल्क में वे भेजे जाते है। उनके पीछे खुफ़िया पुलिस का बहुत बड़ा जाल, जो षड्यन्त्रो और धोखेबाजी के ताने-बानों से भरा-पूरा रहता है, काम करता है। भेदियो और उपभेदियों से उनका ताल्लुक़, उनकी रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्याये सब बातें उस जाल में शामिल होती हैं। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजे खराब है ही युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढ़कर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गई थीं; और इन बातों के फैलाने और खुफिया पुलिस का जाल बिछाने में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धों के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लड़ाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रों में संघर्ष जारी

रखना ही है। विजयी और पराजितों में, सत्ताओं और उनके मातहत उपनिवेशों में, रक्षित वर्ग और शोषित वर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमें भी कुछ हदतक लड़ाई का वातावरण अपने हिंसा और झूठ के सब अस्त्रों-सहित जारी रहता है और दोनों इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते हैं। लार्ड वोल्सली ने 'सोल्जर्स पाकेटबुक फ़ॉर फील्ड-सर्विस' नामकी एक पुस्तक में लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेंगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर में जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चों की नोटबुकों के लिए ही ठीक हैं; और अगर लोग युद्ध के दिनों में इनपर अमल करने लगें तो यही बेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारें मियानों के अन्दर बन्द करलें।"

वर्तमान स्थिति में, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ़ है, हिंसा और असत्य का यह पाया क़रीब-क़रीब लाजिमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारों को बनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीड़ितों को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रों और समूहों को तो लाजिमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। संभव है कि ज्यों-ज्यों लोकमत जागृत होता जायगा और इन संघर्षों तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होती जायगी, त्यों-त्यों इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल बात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ़ इशारा कर रहे हैं और जैसे-जैसे मौजूदा संस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगों की हिंसा भी बढ़ती जाती है। कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कहीं अधिक सूक्ष्म और अधिक भयंकर रूप अख्त्यार कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही जरा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये हैं और अगर सबसे ऊँचे नमूनों को छोड़ दिया जाय, तो ग़ालिबन दुनिया में आजकल इस क़िस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति हैं, उतने इतिहास के और किसी जमाने में नहीं थे; कुल मिलाकर तो समाज ने तरक्क़ी ही की है, और वह कुछ हद तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए भी प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहों या समुदायों ने कोई खास तरक्क़ी नहीं की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है, और क्योंकि हिंसा हमेशा पहली

नहीं किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुष या स्त्री होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मानलें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के सबसे बुरे रूप मिट जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनों ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना ज़रूरी है, और इस कारण जिन लोगों को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाज़िमी है कि वे व्यक्तियों और समूहों की उन सब प्रवृत्तियों पर, जो स्वभावतः स्वार्थ-परायण है और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अंदेशा है, अंकुश रक्खें और उन्हें रोकें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ जाते है, क्योंकि ताक़त जिसके हाथ में पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासको को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यों न हो, फिर भी उन्हे उस वक्त तक अपने यहाँ के झगड़ालू व्यक्तियो का दमन करना ही पड़ेगा, जबतक कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा नि स्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासकों को भी उन बाहरी समूहो का मुक़ाबिला करना पडेगा, जो लूट-मार के लिए उनके राज्य पर हमला करें। अर्थात्, उन्हे ताक़त का मुकाबिला ताक़त से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की ज़रूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक अविच्छिन्नता और बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा इन दोनों के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिंसात्मक है या हिंसात्मक? रिन्होल्ड नीयूर[१] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुक़ाबिले में इतनी भयावह छूट देते है और सामाजिक अविच्छिन्नता को क़ायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते है, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में अथवा सरकार और क्रान्तिकारियो द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नहीं कर सकते।

मै ठीक-ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गांधीजी यह बात मान लेगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ

१. 'Moral Man and Immoral Society.'

सर्वथा शान्तिमय और मैत्रीपूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की संभावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे क़ानून भी बनाने पड़ेंगे, जो इस अर्थ में दबाव डालनेवाले होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायों या समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जाती हैं और उनकी कार्य-स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। कुछ हदतक तो सभी क़ानून दबाव डालनेवाले होते हैं। कराची-कांग्रेस का प्रोग्राम यह निर्धारित करता है कि—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता में, करोड़ों भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतंत्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य में परिणत करने के लिए जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हे अपने बहुत-से अधिकार उन लोगों के लिए छोड़ देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार हैं।" आगे उसमें यह भी बताया गया है कि मज़दूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मज़दूरी और जीवन की दूसरी सुविधायें भी ज़रूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतों पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "खास उद्योग-विभागों, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्ग, जहाज़रानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियंत्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" ग़ालिबन बहुत-से लोग इन सब बातों का विरोध करेंगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुकालें, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतंत्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगों पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हदतक उन्हें रद करने के लिए कोई क़ानून बहुमत से पास हो जाय, तो क्या इसलिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नही है, क्योंकि सभी लोकतंत्रात्मक क़ानूनों को बनाने मे यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिना पर ऐतराज़ नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि कसरत राय से जो क़ानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार कर्तव्य-शास्त्र की व्याख्या करलें, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से मै तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही संकुचित अर्थों में छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे

देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूं, क्योंकि शराब समाज को उतना नुक़सान नहीं पहुंचाती जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते हैं उनमें से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बड़े-बड़े जमीदारों ने, जो जबरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नही हिचकिचाते, और कई फैक्टरियों के मालिक उन पूंजीपतियों ने, जो अपने हलकों में स्वतन्त्र मजदूर-संघ भी कायम नही होने देना चाहते, जोर दिया है। यह बात काफ़ी नहीं मानी जाती कि जिन लोगों का उस बात से ताल्लुक है उनका अधिकांश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुक्सान है उन्हीका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टतः आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितो के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जायं और अपने विशेषाधिकार छोड दें, यद्यपि ऐसा बहुत बिरले ही लोग करते है, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नही करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए रजामन्द करने को जितनी कोशिशे अबतक की गई वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह नही दिखाई देती कि वे भविष्य मे कामयाब हो जायंगी। रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[1] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, जो यह कल्पना कर बैठे है कि "व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मिक स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और यह भी कि समस्त मानव-समाजों और समूहों में सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ़ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य के सामूहिक व्यवहार में उन मूल बातों को, जो प्रकृति का अंग हैं और जो कभी भी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अंकुश में नही लाई जा सकतीं, पहचानकर मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसमें राजनैतिक आवश्यकताओं की अवहेलना कर देते हैं। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब

१. Moral Man and Immoral Society.

सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हों या वर्ग-प्रभुता के रूप में, कमजोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्ततक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ़ ताक़त खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योंकि किसी भी सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हदतक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासक-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वयं कष्ट-सहन का तरीक़ा है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीक़े से उसकी जाँच ही कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर भी इस तरीक़े का काफी असर पड़ता है। यह तरीका विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फ़ाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते है वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसीके मुताबिक़ वह अपना रवैया अख्त्यार करता है। इतना ही नहीं, आदमी अगर खुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस न भी हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला जरा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जाने का खतरा फ़ौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही कभी किसी हिंसक पशु के

खतरे का शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। वर्ग के रूप में वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके संबंध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकांगी और तोड़ी-मरोड़ी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए जरूरी हैं। इसलिए उसके खिलाफ़ जो राय जाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र जैसी मालूम होती है। क़ानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को क़ायम रखना खास गुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सब से महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी पक्ष से ताल्लुक है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्संदेह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नर्मी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित बना देती है। क्योंकि वह समझता है कि उसने इससे उसे गलत स्थिति में डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शंका होने लगती है कि शायद वह गलती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियो पर जरूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध की दृढ़ता में कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और संसार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा जबर्दस्त जरिया है। लेकिन इस दशा में यह संभव हो सकता है कि शासक-वर्ग खबर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड़-मरोड़कर जाने दे। क्योंकि प्रकाशन की एजेन्सियों पर उसका नियंत्रण रहता है और इस तरह वह असली वाक़यात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके न्यूनाधिक उदासीन लोगों पर होता है। निस्संदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके जोरदार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नहीं; क्योंकि ये लोग आम तौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस

तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक हलचल बहुसंख्यक लोगों पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-मति लोगों को किस तरह अपनी ओर खींच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हद तक नहीं बदले। मगर जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी उल्लेखनीय संस्था को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आज़ादी की रक्षा करने के खातिर हिंसा का प्रयोग जायज है, तब यह समझना मुश्किल है कि उस आज़ादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीकों को अख्त्यार करना उतना ही जायज क्यों नहीं है? कोई अहिंसात्मक तरीका अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ़ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक़ नहीं मिल जाता। उस हालत में जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर क़ाबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तैमाल करने का वह हक फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नहीं था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ़ बग़ावत हो, तो वह उसका मुक़ाबिला कैसे करे? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगा कि हिंसात्मक तरीक़े से काम ले और स्थिति का मुक़ाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीक़े से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ़ होंगे और वे इस बात की कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुक़ाबिला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे ग़ालिबन और भी ज्यादा हिंसा को काम में लायेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाक-रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है, लेकिन तब खास विशेषाधिकार-प्राप्त और शोषितवर्गों के सम्बन्ध में यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है, और बिना झुके और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ़ सहने में एक ऐसी उच्चता और ऐसी भव्यता है जिसे मानना ही पड़ता है। फिर भी इसके और कष्ट-सहन

के लिए कष्ट उठाने के बीच में भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओं में अहिंसा सम्भवतः दूसरी तरफ़ अति पर पहुँच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को क़ायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसों में, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकड़ा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन में हिंसा आवश्यक रूप से काम में लानी पड़ती है, इसलिए इन परिवर्तनों के लिए ज़ोर नहीं दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का ज़िक्र तक नहीं किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यों न मौजूद हो), क्योंकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना में, जो हमें अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौक़े पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पड़ता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं वे अपने प्राप्त अधिकारों को क़ायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नहीं हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्ततः अगर अहिंसात्मक तरीक़े से कोई बड़ा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीक़े से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नहीं होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के जरिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते हैं, तो हम उसी तरीक़े से माण्डलिक राजाओं, जमींदारों और दूसरे सामाजिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यों नहीं क़ायम कर सकते? प्रश्न इतना अधिक यह नहीं है कि यह सब कुछ अहिंसा के ज़रिये हो सकता है या नहीं। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश अहिंसा के ज़रिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। सचमुच यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ़ विदेशी शासकों के ही खिलाफ़ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश में उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायों और अड़ंगानीति ग्रहण करनेवालों के ख़िलाफ़ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर बाहरवालों की बनिस्बत ज्यादा पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों जो यह प्रवृत्ति चल गई है कि उद्देशों और नीतियों को महज़ इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योंकि वे अहिंसा से टकराती हैं, मुझे ऐसी

मालूम होती है मानों इन समस्याओं को समझने का जो सही तरीक़ा है उसे छोड़कर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय को इसलिए अख्त्यार किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सब-से अधिक वाञ्छित और कारगर तरीक़े से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से अलग था। वह न तो केवल अहिंसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमे आजादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक तरीक़ों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फ़ैसला अहिंसा की शर्तों से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक़ ठीक नहीं बैठता तो नामंजूर कर दिया जाता है। इसलिए अहिंसा का खयाल एक ऐसा जड़वाद बनता जा रहा है जिसके खिलाफ़ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप में अब वह हमारी बुद्धि को अपील नहीं करता और श्रद्धा और धर्म के घोंसले में अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वार्थी समुदायों के लिए पक्का लगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को ज्यों-का त्यों बनाये रखने के लिए उससे नाजायज फ़ायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध के विचार और लड़ाई की अहिंसात्मक विधि, हिन्दुस्तान और बाक़ी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गांधीजी ने वर्त्तमान विचार-जगत् को इनपर ग़ौर करने के लिए विवश करके बड़ी जबरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव समुदाय अभी इतना आगे नहीं बढ़ पाया है कि वह उन्हें पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इंटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धों को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते हैं, लेकिन उससे उन्हें क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फली-भूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढ़ता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते हैं अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही जबरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्चकोटि के मुट्ठीभर लोग भी उस-पर अमल करें तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढ़ता चला जाता है। संख्या की वृद्धि से उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत में प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बातें नैतिक सवाल को दबा लेती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके विस्तार से उसकी गहराई पर उसका असर पड़ता है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मंजूर करलें या उसे बिलकुल नामंजूर कर दें। उसका बौद्धिक अंश पीछे जा छिपा है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत असर पड़ा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस में पड़ गये और अपने हिंसात्मक कार्यो को बन्द कर दिया, लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होने अहिंसा का उसके सब व्यापक अर्थों मे ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था; अब वे काफ़िर समझे जाते है और कहा जाता है कि उन्हे कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नही है, क्योकि वे अहिंसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्मरूप मे मानने को तैयार है और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोड़ने को तैयार है, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते है, अर्थात् समाजवादी राज्य, जिसमें सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधायें होंगी। व्यवस्थित समाज जो तभी क़ायम हो सकता है, जब कि आजकल जो विशेष सुविधायें और संपत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। निस्सन्देह गाधीजी आज भी वही ज़िन्दा हस्ती बने हुए है, जिनकी अहिंसा सजीव और उग्ररूप की है और कोई नही कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे हैं। जैसे हम दूसरों को नापते-तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तौल नही हो सकता। लेकिन बहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टाय टाइप के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित सम्प्रदाय के सदस्य बन जाते है, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुत से लोगों को इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमें है कि वर्त्तमान व्यवस्था क़ायम रहे और जो इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते है विरोधी के हृदय परिवर्त्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्तित हो जाते है, और विरोधी की लाइन में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमज़ोर पड़ जाते हैं, तब हमेशा थोडी सी पीछे की तरफ़ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे बड़े फ़ख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता

हैं। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो देते हैं। हम उनकी आदतों की, उनके भाषणों की, जो हमारे नये दोस्तों को चिढ़ाते हैं, निन्दा करते हैं और उनपर हमारी एकता भंग करने का इलज़ाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर ज़ोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज में दया और उदारता पर ज़ोर देते हैं और स्वार्थी समुदाय वैसे-के-वैसे ही बने रहते हैं।

मेरा विश्वास है कि साधनों की महत्ता पर ज़ोर देकर गांधीजी ने हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मै इस बात को विश्वास के साथ महसूस करता हूँ कि अन्तिम ज़ोर तो लाज़िमी और ज़रूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मक़सद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नही करते, तबतक हम इधर-उधर घूमने और इधर-उधर के मामूली सवालों पर अपनी ताकत बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नही कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि उनके नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं या जबर्दस्त नई-नई समस्यायें खड़ी कर देते है। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे मे कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नही कर सकते; बल्कि उन साधनो से ही करते है जिन्हे कि वह व्यवहार मे लाता है। ऐसे साधनो के अवलम्बन से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नजदीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अतः निश्चय रूप से साधन ऐसे होने चाहिएं, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जाय या सीमित हो जायं, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। वस्तुतः प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नहीं होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर ज़ोर दिया है और अगर वह मानव-स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने में कामयाब नही हुए हैं तो उनको एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमें लाखो ने हिस्सा लिया, इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक कामयाबी हुई है। कड़े नैतिक अनुशासन पर उन्होंने जो ज़ोर दिया वह भी बहुत ज़रूरी था, हालाकि उन्होंने उस वैयक्तिक अनुशासन के जो स्टैण्डर्ड क़ायम किये है वे शायद बहस-तलब है। वह वैयक्तिक पापो और कमज़ोरियों को तो बहुत ज्यादा महत्त्व देते है और सामाजिक पापों को बहुत कम। इस अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर

शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुँचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। क्योंकि किसी भी नामी कांग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के द्वार तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों से ग्रस्त है। लेकिन इनमें सबसे बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में खासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए हैं और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी कष्ट-प्रद है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पागई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज है। हालांकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मसलों में लगें, उसका संतोषप्रद हल हो जाना जरूरी है। पिछले बहुत-से युगों से हम लोग एक अपरिवर्त्तनीय मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये हैं। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ़ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन भूत-काल से वर्त्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार हो जाती है, जोकि अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त में आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करता है।" आजकल की जरूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक़ सदाचार की एक नई व्याख्या बनावें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट में से निकल भागने का कोई रास्ता ढूंढना चाहते हैं और चाहते हैं कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओं को महसूस करलें तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीक़े से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करलें, उससे किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझ लेने में हमें क़तई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रूड ने कहा है कि धर्म के आदेश—"विश्वास किये जाने योग्य हैं इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद हैं, जो हमें उसी पुराने जमाने से विरासत में मिलते आये हैं; और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावों सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करें तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती है। उस हालत में तो वह

१. The Future of an Illusion.

एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय हो जाता है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिलसिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नों में बहुत मदद दे सकता है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति की कमजोरियों और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। विस्तृत प्रमाण में सामूहिक रूप से और खासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनो के लिए किये जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नहीं पड़ता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, बल्कि मौजूदा अवस्थाओं का और इससे भी अधिक मानव प्राणी उसके साथ काम करते हैं वे उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

दुनिया की तवारीख में हिंसा का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और ग़ालिबन आगे भी बहुत वक़्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले जमाने मे जो परिवर्त्तन हुए, उनमें से ज्यादातर हिंसा और बलप्रयोग से ही हुए। एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था कि—"मुझे यह कहते हुए दु.ख होता है कि अगर राजनैतिक संकट के समय इस मुल्क के लोगों को हिंसा से नफ़रत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतो के अलावा और हिदायतें न जारी की गई होती, तो इस मुल्क मे लोगो को जो आजादियाँ है वे उन्हें कभी प्राप्त न हो पाती।"

पिछले ज़माने की, और आजकल भी, हिंसा की अहमियत की उपेक्षा करना नामुमकिन है। उसकी उपेक्षा करना ज़िन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी बिला शक हिंसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामों की एक लम्बी लीक छोड़ जाती है। और हिंसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सजा की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अक्सर हिंसा के साथ चलती हैं। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वतः बुरी नहीं बल्कि वह इन्हीं प्रवृत्तियो की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ चलती हैं। इन प्रवृत्तियों के बिना भी हिंसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियो से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वांछनीय है कि जहाँतक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख अख़्तियार नहीं कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कहीं ज्यादा बड़ी बुराइयों के सामने सर झुकादें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मंजूर कर लेना अहिंसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ़ है।

अहिंसा का तरीक़ा तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और इतनी सामर्थ्य रखता हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नही, यह मैं नहीं जानता। मेरा ख़याल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी क़िस्मका बल-प्रयोग तो लाज़िमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताक़त और ख़ास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा करदी जायँ जिनमें उनके लिए इन ख़ास हक़ों का रखना उन्हें छोडने से ज्यादा नुक़सानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बग़ैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमारे हमख़याल न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्त्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नही हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नही है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करे कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मज़बूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी, अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा, तलाश में रहते हैं। किसी भी अन्याययुक्त पद्धति का मुक़ाबिला करने के लिए यह लाज़िमी है कि जिन ग़लत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक ख़ूबी यह भी है कि वह इन ग़लत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका रहस्योद्घाटन कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधा युक्त एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निस्वार्थपरायण सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त में एक ऐसी संसारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आवेगा उसे हटाना होगा। हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात में बहुत कम शक है कि अक्सर बलप्रयोग की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता

की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की निर्विकार इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और गड्ढों की कोई गिनती नहीं। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कतें और गड्ढे दूर नहीं हो जायँगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हें हटाना होगा। यह सब बातें काल्पनिक और सुख स्वप्न सी मालूम होती हैं और अधिकतर यह सम्भव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओं से प्रेरित होंगे। लेकिन हम उन्हें अपनी नज़र के सामने रख सकते हैं और उनपर ज़ोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फल-स्वरूप हममें से बहुतों में जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए हैं वे कम हो जायँ।

साधन हमें इस लक्ष्यतक पहुँचानेवाले और इन भावनाओं पर अवलंबित होने चाहिएँ। लेकिन हमें यह बात ज़रूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलों पर और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊँचे नैतिक उसूलों के मुताबिक़ काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर ज़रूरत पड़ती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि उसको सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

६४

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी। मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफ़वाहें थीं, कि मुझे किसी अच्छी आबोहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल में भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुज़रना बड़ा खुशगवार मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मैं उम्मीद-भरी नज़रों से देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ों की तरफ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि, नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ क़रीब पचास फीट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फीट ऊँची थी, खासकर मेरी ग़रज़ से उसी वक़्त चार या पाँच फीट और बढ़ा दी गई थी। इससे पहाड़ियों के जिस नज़ारे की मैं इतनी उम्मीद कर रहा था, वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ़ कुछ दरख्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में क़रीबन तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक दिखाई नहीं दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाज़े के सामने घूमने की इजाज़त न थी। मेरा छोटा-सा सहन ही वर्ज़िश या कसरत के लिए काफ़ी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशें नाउम्मीदी पैदा करनेवाली थीं, जिससे कि मैं खिझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने सहन में जो थोड़ी-बहुत वर्ज़िश कर सकता था, उस तक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया में जुदा महसूस किया हो। तनहाई क़ैद का मेरी तबियत पर खराब

असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमाग़ी हालत गिर गई। मैं जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ़ कुछ फ़ीट की दूरी पर वायुमण्डल में ताज़गी और खुशबू भरी है, घास और मिट्टी में मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षों के बीच में दूर-दूर तक रास्ते बने हुए हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बारबार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आँखें पथरा जाती थीं। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रक्खा गया था।

छः हफ्ते बाद मूसलाधार बारिश हुई; पहले हफ्ते में बारह इञ्च पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ; गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखों या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दर्वाज़ा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक चमचमाते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिन पर मेह की बूंदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल लुप्त हो जाती थी। दर्वाज़ा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को साफ़ तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नज़दीक होऊं तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस ज़रा-ही हरियाली और ताज़गी की ये थोड़ी-थोड़ी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नहीं लगती थीं, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसीलिए जब कभी दर्वाज़ा खुलता तो मैं बाहर की तरफ़ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ़ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है और ऐसी दशा में मैं उसकी कोई भी सेवा न कर सकने में मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो यह बात न थी; पर देहरादून जेल में मुझे रोज़ाना अखबार मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। पटना में आल इण्डिया काँग्रेस कमिटी की क़रीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दर्मियान में तो वह क़रीब-क़रीब ग़ैरक़ानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढ़कर तबीयत मुर्झा-सी गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया में इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे में से निकलने की कुछ कोशिश नहीं की गई। दूर से ऐसा जान पड़ा,

मानों गांधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खड़े कह रहे हैं "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना चाहते हो, तो मेरी शर्तें क़बूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक थी। क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रक्खा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासों के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा जरूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि एक तरफ़ तो गांधीजी लोगों के दिल और दिमाग़ पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं और फिर उन्हींकी लाचारी की शिकायत करते है। मै समझता हूँ, जनता ने जितनी वफ़ादारी और भक्ति के सामूहिक रूप में उनका साथ दिया है, उतना बहुत कम लोगों का दिया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नही मालूम होता कि उससे जो बड़ी-बड़ी आशायें बाँधली गई थी वे पूरी नहीं हुईं। पटना की बैठक में गांधीजी अन्त तक ठहरे तक नहीं, क्योंकि उन्हे हरिजन-प्रवास जारी रखना था। उन्होंने आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी से फालतू बातो में न पड़कर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रक्खे हुए प्रस्तावो को जल्दी-से निपटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यो के विचारों में इतनी गड़बड़ी और स्पष्टता की कमी थी कि नुक़ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसी ने दिया हो। उस वक़्त की परिस्थिति मे यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तो से आये हुए इन्ही नेताओं पर आ पड़ा था, और वे जरा थके हुए और परेशान से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमें से एक तो कौंसिलों द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नही थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं इस नई चीज से आपस में फूट पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एकमात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ़ देखा और जैसा उन्होंने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमिटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जंग हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की बातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार धारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज्य पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें हैं भी नहीं, इसमे बहुत से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठाली और वह क़ानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थायें फिर भी ग़ैर क़ानूनी बनी रहीं—जैसे, कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान सभायें, शिक्षण-संस्थायें, और नौजवान-सभायें। जिनमें एक बच्चों की सस्था भी थी। खास तौर पर खुदाई खिदमतगार या सरहद्दी लाल कुर्तीवाले फिर भी ग़ैरक़ानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस की बाक़ायदा शाखा बनकर सरहद्दी सूबे में उसकी तरफ़ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने अपनी हलचल का सीधीलडाई वाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास क़ानून बनाये थे, वह सब-के-सब क़ायम रक्खे और कांग्रेस संस्था के जरूरी हिस्सो पर पाबन्दियां जारी रक्खी। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ़ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर घूम-घूमकर जमींदारों और ताल्लुक़ेदारों को सगठित करने लगे। जमींदारों की इन सस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गईं। युक्तप्रान्त को इन सस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियो ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ कभी रिआयत नहीं की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामखाह लाल कुर्तीवालो पर लगाई गई बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारों का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त में जब कोई लड़ाई नहीं थी, ऐसी कार्रवाई के समर्थन से मै दग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहद्दी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता खान अब्दुलग़फ्फ़ारखां, जो देश में ऊंचे दरजे के बहादुर

और ईमानदार आदमी हैं, और जो बग़ैर मुक़दमा चलाये नज़रबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल में थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है। मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने साथी की फ़ौरन तरदीद करदेंगे। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उनमें से किसीने एक शब्द भी न कहा। हिन्दू महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी अशान्ति हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश मे एक नई स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक्त। मेरी आंखें झपक गईं। याद पड़ता है कि एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलग़फ्फारखां पर चारों तरफ से हमले हो रहे हैं और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूँ। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आंसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि जागृत अवस्था में तो कभी मुझ पर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नहीं आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा जोर का हो गया। जब मैं चौककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़ा पाया। उन्हे मेरे शोर से चिन्ता हो गई थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोंट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर तकलीफ़-देह असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध के संबंध में होनेवाली ग़ैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नजर रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर इसके ज़रिये कांग्रेसवालों को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में "न तो किसी माकूल वजह या मुआविज़े के बिना निजी सम्पत्ति की जब्ती का ख़याल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता है।" वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ़ हैं।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह जाहिर होता था कि इसके बनानेवाले यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज़ है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस ससाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल मे, इस दल के किसी भी जिम्मेदार शख्स की तरफ से जब्ती की कभी कोई बात नहीं कही गई थी; हाँ, मौजूदा परिस्थितियों में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमिटी के इस प्रस्ताव में यह

इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध की इस वजूदगी में यक़ीन रखता हो कांग्रेस का मामूली मेम्बर तक नहीं बन सकता। किसी ने कांग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नहीं की थी। कुछ मेम्बर यह राय रखते थे, लेकिन अब यह जाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था में जहाँ सबके लिए जगह है, समाजवादियों के लिए कोई जगह नहीं।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी किस्म के लोग इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी किस्म के लोगों की भलाई की होती है। लेकिन जाहिर है कि यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता। कोई राजनैतिक संस्था विरोधी-हितों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने और राष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक खास विचारधारा है; या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्म-प्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं हैं, बल्कि वह सबका भला चाहती है। यह तो उन्हीं लोगों की नुमाइन्दा बन सकती है जो उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आम तौर पर सहमत हों और जो उसके विरोधी हैं उन्हें राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी समझकर उनके असर को रोके या मिटायें ताकि कांग्रेस अपने सिद्धान्तों पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक लोगों के सहमत होने की गुंजाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई संबंध नहीं होता। इस तरह कांग्रेस किसी-न-किसी मात्रा में भारतवासियों के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में ज़रूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर ज़ोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढंग था। साम्राज्यवाद के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगों की राय बिलकुल खिलाफ़ रही, वे लोग कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शकल में ब्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कांग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल कांग्रेस बन गई, जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक विश्वास और गांधीजी की जबरदस्त हस्ती से बंधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मजमून में उतना न था, जितना कि इससे कि उससे कांग्रेस की बदली हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगों के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने खयाल के लोगो को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगो ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगो के प्रति भी चापलूसीभरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुक्ताचीनी करनेवाला विरोधी पक्ष (कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्त्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणो से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालो के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोडने को तैयार नहीं थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर क़दम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओ में कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे बडी बेशकीमती सेवायें रही है और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर मे बडी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नहीं, चोटी के नेताओ में भी बहुत-से ऐसे थे, जिन्हें आदर्शवादी नही कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओं में अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान लोलुपों और समय-साधकों के लिए दर्वाजा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गांधीजी के रहस्यमय और भ्रमात्मक व्यक्तित्त्व के सिवा, जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रक्खा था, कांग्रेस के यह दो रूप थे—एक तो वह जो सर्वथा राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख्त्यार कर रहा था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ़ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार

था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उस के आन्दोलन की शाखाओं को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगे कि मरीज़ जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक़्त कांग्रेस किसी हद तक दबादी गई थी, फिर भी सरकार अपनी दमन नीति को, कुछ मामूली सी तब्दीलियों के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक या आरज़ी ही हो सकते हैं, और इसलिए अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई करने से आन्दोलन की गति कहीं उल्टी अधिक तेज़ रफ्तार न पकड़ले। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मज़दूर या किसानवर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराज़ी की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हदतक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटनाक्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अखबार के ज़रिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफ़ा खबरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्त्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जब से मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तब से हिन्दुस्तान में गुज़री हुई राजनैतिक घटनाओं का खयाल करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हदतक सही रास्ते पर थे? किस हदतक ग़लती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर क़ाग़ज़ पर लिखता जाऊँ तो वह अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग़ को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे और इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखना शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौक़े आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस व्यक्तिगत यात्रा की समाप्ति के निकट पहुंच चुका हूं। इसका अधिकांश

एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जब कि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओं को भुलाने अपना गम कम करने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के श्रोताओं का बिलकुल खयाल न था; मैं अपने-आपको संबोधन करता था, और प्रश्न बनाकर उसके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथा-सम्भव मैं बिना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के क़रीब कमला की हालत बड़ी तेजी से बिगड़ने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे यकायक देहरादून-जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझ से जिला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं आरजी तौर पर रिहा किया जा रहा हूँ कि जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन कम छठा महीना था।

६५

ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को फेंक-फांक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरज़ी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जब तक डॉक्टर बिलकुल ज़रूरी समझे तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना सम्भव न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्त्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए ज़रा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे हुए घर पर पहुंचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्तिनिकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दर्याफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे, और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैंने उसे बहुत दुबली और निहायत कमज़ोर हालत में पड़े देखा। उसका ढांचा भर रहा था, जो बडी कमज़ोरी से अपनी बीमारी से लोहा ले रहा था। और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग उस दिन और उसके बाद के इन सब पिछले बरसों में जो कुछ गुज़रा उसकी तरफ घूमने लगा। शादी के वक्त मैं छब्बीस साल का था और वह क़रीब सत्रह बरस की, दुनियवी तौर-तरीक़ों से सर्वथा अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफ़ी अन्तर था, और उससे भी अधिक अन्तर हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। संजीदगी के इन सब अलामात के बावजूद भी मुझमें बड़ा लडकपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लड़की

१. बायरन का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है—

"For the Sword outwears its sheath,
And the soul wears out the breast."

का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक दूसरे की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे और काफ़ी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के से छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल मिलाप-होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनकमिजाज थे, और दोनो में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालाँकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुईं और उनमें मेरी संलग्नता बढ़ती गई। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पंजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आँधी-तूफान में अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जब कि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजर अन्दाज कर, उसे अपने खुदके भरोसे पर छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ा भी और यह जानकर बड़ी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद प्रभाव के साथ इसमें मेरी सहायक है। उसने मुझे बल दिया। लेकिन साथ ही उसकी तन्दुरुस्ती पर भी असर पड़ा होगा और उसने अपने प्रति कुछ लापरवाही को भी महसूस किया होगा। इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास ही उसकी सुध लेने के बजाय उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो भी किसी क़दर अच्छा ही था।

उसके बाद उसकी बीमारी का दौरा शुरू हुआ और जेल-निवास के कारण मेरी लम्बी ग़ैरहाज़िरी रहने लगी, जिससे हम केवल जेल की मुलाक़ात के समय ही मिल सकते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे हमारे प्रथम श्रेणी के योद्धाओं के बीच ला खड़ा किया, और जब वह खुद जेल गई तो इसकी उसे बड़ी खुशी हुई। हम सदा एक दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाक़ातें बेशक़ीमती होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं क्योंकि हमारी मुलाक़ातों और अल्पकालिक सम्मिलनों में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी

और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों में से हरेक बराबर एक दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालांकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों मे भी लड़कपन की मात्रा रहती।

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत पर कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित संजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुल्हन बनकर हमारे घर में आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मै बहुत बदल गया था; और हालांकि अपनी उम्र के मुताबिक़ मैं काफ़ी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था—और कुछ लोगो का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफतें मौजूद है, फ़िर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाक़ी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियां और आँखों के चारों तरफ़ काली झाई पड़ गई थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियां मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थीं। इन पिछले बरसों में मै और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते, तो मैं यह देखकर हैरान हो जाता था, कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहनें सी दिखाई देती थी।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमे से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनिटोरियम मे बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सज़ा भुगत रहा था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए सघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे मे उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि उसकी तेज़ तबियत अपनी अक्रियशीलता और राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने मे अपनी लाचारी के कारण उसे छटपटाती रहती थी। शरीर ऐसा करने मे समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।

सचमुच ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सब से अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यों, इसलिए कि हम दोनों ने एक दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना अभी-अभी शुरू ही किया है। हम दोनों ने एक दूसरे पर बहुत भरोसा किया था, हम दोनों को एकसाथ रहकर बहुत काम करना था।

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के खयाल उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाक़िफ़ नहीं था, उसके मुतल्लिक़ उन्होंने बहुत कुछ कहा। उन्होंने वर्त्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग़ से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब प्रश्नों का जवाब यकायक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क ज़रूरी था, उसके बग़ैर राय ज़ाहिर करना सर्वथा शाब्दिक-सा और असलीयत से दूर होता। इसके साथ ही मुझे गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय ज़ाहिर करना, उनके प्रति अन्याय करना मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था, उसपर मेरे दिमाग़ में काफ़ी आलोचना भरी हुई थी; लेकिन मैं कोई निश्चित सूचना देने के लिए तैयार न था। उस समय जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि, सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौक़े का मैं राजनैतिक बातों के लिए उपयोग करूँ। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस खयाल का मुझ पर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफ़वाहों के खण्डन के मैंने किसी भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टलाया। प्राइवेट बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफ़ी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से गहरे साथी उसमें शरीक थे। जहांतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब और खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आज़ाद होता, तो भी यकायक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से ज़हरीला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये बिलकुल कुछ व्यक्तियों के अपने खानगी प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूँ।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी ज़रा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके बावजूद कुछ वाक़यात मेरे सामने आये और उनसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोगबाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें! इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ ही वे कारण प्रभावहीन हो गये, और ये लोग यकायक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के खिलाफ भयंकर और अक्सर कमीना तक प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। ख़ासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावों के खातिर दुरुपयोग किया गया।

जिन व्यापक प्रश्नों पर चर्चा हुई, उनमें कॉंग्रेस का असेम्बली के आने-वाले चुनाव में अपनी ओर से उम्मेदवार खड़ेकर चुनाव लड़ने का निर्णय भी था। नौजवान दल में से बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके खयाल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमें के कुछ विरोधी ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के आधार पर कॉंग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के खिलाफ न थे। उनका मक़सद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेजी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफरत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपनेको अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसे में अपनेको उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मैं हैरान था। ऐसे वातावरण में जब इन जैसे मामलों पर ध्यान देने का समय आता तो मैं क्या कर सकता था।

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा। क्योंकि मेरा ख़याल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा, और सम्भव है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौक़ा न मिले, इसलिए मेरे दिमाग़ में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ झलक उन्हें देदी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हल्की-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मैंने जो कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो कुछ भी

प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तज़ार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों को यह हिदायत हो गई थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोज़ाना इत्तिला देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहांतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वासपात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह खयाल था, कि मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता, अगर आगे होनेवाली दो बातों—अक्तूबर में बम्बई में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन और नवम्बर में होनेवाले असेम्बली के चुनाव—का सरकार को ध्यान न होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालनेवाला होऊँ, इसलिए यह मुमकिन मालूम होता था कि मैं अगले तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने क़रीब-क़रीब जम जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आई, पुलिस अफ़सर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से बिदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मा बाहें फैलाये हुए फिर दौड़ी हुई आई। उसकी वह सूरत एक अर्सेतक रह-रहकर मेरी नज़रों में घूमती रही।

६६

फिर जेल में

छाया का मार्ग स्वतः निर्बाध है, पर धूप का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी विविध रंग बिरंगी झांकियां हो जाती हैं। इसी प्रकार दुःख सुख से भिन्न वस्तु है; सुख का क्षेत्र असंख्य दुःखों की वेदनाओं और क्षतिओं से घिरा रहता है।

राजतरंगिणी

मैं फिर नैनी जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर; मै एक खिलौना-सा बना हुआ था! जीवन में इस प्रकार के अस्थिर परिवर्त्तन भावना-तन्त्रों को हिला डालते है, और अपने आपको नये परिवर्त्तनो के अनुकूल कर लेना इतना सहज काम नही होता। मै आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रक्खा जायगा, जिसमे मैं अपनी पिछली लम्बी सज़ा काट चुका था। वहाँ थोड़े से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में एक नज़रबन्द, सरकारी कैदी को, जिस पर न तो कोई मुक़दमा चलाया गया था, न कोई सज़ा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रक्खा गया, जो और भी अधिक अन्दर की तरफ़ था, और जिसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थे।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नही थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हररोज डाक्टर का एक मुख़्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफ़ोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध वांछनीय नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित, और कभी-कभी अनियमित, रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि कमला की हालत दिन-ब-दिन गिरती ही जारही थी।

बुरे समाचारों और समाचारों की प्रतीक्षा ने दिनों को असहनीय लम्बा और

रातों को उनसे भी भीषण बना दिया। समय की गति मानो बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा भार और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैंने कभी महसूस नहीं किया था। उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी; लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप्त होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन प्रतीक्षा की—कोई मुझे लेने नहीं आया; इसी तरह पांचवा, छठा और सातवां दिन बीता; मैं इन्तज़ार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुंचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मज़ाक था।

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खत्म हुआ। मेरी ज़िन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे खराब थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचाई गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाक़ी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—देदूं तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोड़ा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज़ थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, कार्य, साथियों और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्त्व की जड़ों पर मर्माघात, और उन सब चीज़ों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना! मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और उसके निकट मेरी उपस्थिति से जीवन और मरण का अन्तर पड़ सकता है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज़ थी? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भीआश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले गये। वह क़रीब-क़रीब ग़ाफ़िल-सी पड़ी हुई थी; बुख़ार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे बिदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नज़दीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की भला यह क्या बात है! ऐसा हर्गिज़ न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभीसे हम उसके कुछ अच्छा होने की इन्तज़ारी कर रहे थे, पर, उसके बजाय कमला की हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छः हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ़ दिखने लगी थी। इन्तज़ार करते रहना इसलिए अब बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी; और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिए नहीं।

क़रीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नज़दीक रह सकूं। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस के 'गारद' के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ा अच्छा लगा और उससे बिदा लेकर मैं खुशी-खुशी, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुँच जाने की खुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेज़ी से आगे बढ़ती जा रही थी, सबेरे की ठण्डी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौंदर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थीं—पर्वत की चोटियाँ बादलों में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रंग बदलती गई, और चारों ओर की पहाड़ियाँ देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगीं। कभी सड़क की किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती।

उस दृश्य को देखते-देखते मेरा जी नहीं अघाता था; उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होता, उसीको मैं अपने मन में जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाड़ियों के कक्ष में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कहीं थोड़ा भी ढाल मिल गया, वहीं कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानो बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ हों जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी क़तारबन्द चली गई हों। इस बिखरी हुई जनसंख्या के लिए प्रकृति से थोड़े-से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी ज़रूरतें पूरी हो पाती हैं। इन छज्जेनुमा खेतों के कारण पहाड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने बनस्पति-शून्य या जंगलों से लदी ढालू ज़मीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊँचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अँकवार में भर लेती है, और उच्छृंखल प्रकृति को पूरी आज़ादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढ़ता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते हैं। चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियाँ रहस्यमयी, भयंकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती है, और घाटियों के बीच से वायु का चीत्कार सुनाई पड़ता है। ग़रीब मुसाफ़िर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ काँप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज़ भी नहीं होती, और चारों ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी सघनता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ़ के तार धीमे-धीमे गुन-गुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियाँ संजीदगी से एक ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा है।

पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी नीरव नहीं होती; प्राणों का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई क़िस्म के जानवरों और कीड़ों की आवाजें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सन्देश लिये हमसे—अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जंगलों से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये संतरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, मैदान और शहरों की वासनायें और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गों से बहुत दूर की चीज लगते।

अलमोड़ा की छोटी-सी जेल एक ढालू ज़मीन पर बनी हुई है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें ५१×१७ फुट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊँचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाजा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सीखचों से जड़े हुए खुले स्थान थे; क्योंकि असल में तो दरवाजा या खिड़की एक भी नही थी। ताजी हवा की तो कमी हो ही नही सकती थी, क्योंकि सरदी बढ़ गई थी। कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया था। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकाकी वैभव में रहता था। लेकिन में बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी अनेक बांहों द्वारा, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और सारी जगह को कुहरे से भरकर सीलन फैला देता।

यहाँ रोज शाम के साढ़े चार बजे मेरे आखिरी भोजन, या यों कहना चाहिए कि भारी चाय ले लेने के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सीखचोंवाला दरवाजा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-

दिवारी से एक-डेढ़ मील दूर के एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलों की बड़ी आश्चर्यजनक शकलें बन जातीं, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। खयाल करता था कि मै उन्हें सब तरह के जानवरों का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बड़े बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की सी आवाज़ लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नज़र आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नज़दीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमे ढक लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी में इतना अकेलापन महसूस नही होता था। बाहर पानी बरसता तो मै उसमें ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गई, उसका सूनापन बढ़ता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गई, तब मेरा ताज़ी हवा और खुले में रहने का प्रेम भी कम पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पड़ा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ़ से लिपटे हुए जेल की दीवारो के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मै कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पड़ता और मै फिर गहरी नींद में सोने की अपनी आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खड़े होकर मै कभी-कभी सोचता था कि यह नीद भी कैसी आश्चर्य की और रहस्य की चीज़ है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों ? मै बिलकुल ही न जागूं तो ?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलग़फ्फ़ार खां की गिरफ्तारी और सज़ा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वतः मनुष्यता से खाली और अविचार-

पूर्ण थी; और एक ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्युशैया पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफतौर पर जाहिर भी हो गई थी।

अलमोड़ा जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं तकरीबन हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते में एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाजत दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादह नजदीक होते, अगर यह कहते कि महीने में एक या दोबार मुझे यह इजाजत मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनो मे जब से कि मै अलमोड़ा आया, मै पाँच बार उससे मिला। मै यह शिकायत के तौर पर नही लिख रहा हूँ, क्योकि मेरा खयाल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाये दे रक्खी है वे असाधारण है। मै उसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये मुख्तसिर-सी मुलाक़ातें मेरे लिए और मै समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई है। मेरी मुलाक़ात के दिन डॉक्टरों ने किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बाते करने की इजाज़त दी है। इन मुलाकातो के फल-स्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नजदीक आते गये, और उसे छोड़कर लौटने में सदा ही एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मै बड़े वेदनाभरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह बिदा आखिरी बिदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पाई थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थी। वहाँ उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के क़रीब, एक दिन सबेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी इत्तिला मिली जिसकी कल्पना भी नही थी। उन्हे लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि जरूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूं। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहाँ भेजा नहीं गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फ़रवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल में वसन्त

के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियां फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और ज़मीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरजभरी नज़र डाल रहे हैं। सदा बहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झांक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूं और अपनी अगली भवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार नाउम्मीदी, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आंका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन ज़रूरी है; परन्तु उसकी अधिकता दिमाग़ पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्तर्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन तेज़ कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए, मैं प्रोफेसर मैकडूगल के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेज़ी के साथ !

६७

कुछ ताज़ी घटनायें

"होता है यह अरुण उषा का नूतन उदय निशा के बाद;
पर न हमारे जीवन के दिन पुनः लौटते हैं कर याद।
आँखों के भीतर बसता है क्षितिज दूर का सुषमावंत;
किन्तु घाव अन्तर में गहरा कर जाता है निठुर बसन्त।" [१]

मुझे जो अखबार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कारंवाई का हाल मालूम हुआ। उसकी राजनीति और व्यक्तियों में स्वभाव से ही मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसके बाँध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व क़रीब-क़रीब उसमें लीन हो गया था और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कहीं ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् संस्था व अपने हजारों पुराने साथी कार्यकर्त्ताओं के साथ बाँध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कारंवाई से मुझे कुछ स्फूर्ति मिलना कठिन दिखाई दिया। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयों के बावजूद मुझे तो सारा अधिवेशन लचर-सा मालूम हुआ। जिन विषयो में मेरी दिलचस्पी थी, उन पर शायद ही विचार हुआ हो। मैं इसी चक्कर में था कि अगर मैं वहाँ मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मैं कुछ नही जानता था। मैं कह नही सकता था कि नई परिस्थितियों और अपने आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध मे मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय पर पहुँचने के लिए मैं जेल में अपने दिमाग़ पर क्यों ज़ोर दूं, जबकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयगा, जब मुझे तात्कालिक समस्याओं का मुक़ाबिला करना पड़ेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। ऐसी हालत में इन गहरे विचारों में पड़कर इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योंकि ऐसा करने का भार मुझ पर पड़ने से पहले ही परिस्थितिया बदल जायँगी।

१. ली तई-पो का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"Dawn reddens in the wake of night,
But the days of our life return not.
The eye contains a far horizon,
But the wound of spring lies deep in the heart."

अपने सुदूर और पहाड़ पर के एकान्त निवास स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेषतायें मैं जान सका, वे थीं—गांधीजी का ज़बरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे द्वारा प्रदर्शित साम्प्रदायिक विरोध का बिलकुल नगण्य प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते है, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नही हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोरतक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए है। सरकारी अफ़सर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर अक्सर यह सोचने लगते है कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गांधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते है, तो ये लोग चकित रह जाते है और इस प्रत्यक्ष परिवर्त्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारों के कारण, जोकि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके है, उतनी नही है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्त्व के कारण। व्यक्तित्त्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है; लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह प्रमुखरूप से और भी अधिक काम करता है।

कांग्रेस से उनकी अलहदगी इस अधिवेशन का एक अजीब वाक़या था और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नही था क्योंकि वह चाहे तो भी अपने व्यापक नेतृत्त्व-पद से पीछा नही छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नहीं थी। कांग्रेस में आज भी गांधीजी का दृष्टिकोण क़रीब-क़रीब पहले जैसाही झलकता है, और यदि वह उनके मार्ग से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस भार और जवाबदेही से वह अपनेको जुदा कर नहीं सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का ख़याल करते हुए उनका व्यक्तित्त्व ख़ुद ही दूसरों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और इस तरह उसकी उपेक्षा की नही जा सकती।

वह इस वक्त, कांग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये हैं, कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड़ जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नहीं बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली का विचार मंजूर कर लिया। मेरे खयाल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं, और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी असेम्बली बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बगैर ऐसा हो नही सकेगा; हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ़ है कि वर्त्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नही है। देश में जबतक इतनी ताक़त पैदा नही हो जाती कि वह इस तरह का कोई क़दम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ सके; तबतक ऐसी असेम्बली बन नही सकती। इसका लाजिमी नतीजा यही है कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नही सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने विधानकारिणी असेम्बली के विचार को मंजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके क़रीब क़रीब पुराने ढंग के एक बड़े सर्वदल सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादा अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली की असली मन्शा तो यह है कि इस असेम्बली का चुनाव विस्तृतरूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताक़त और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नो पर विचार करने में सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगड़ों से, जिनमें हम लोग इतनी बार उलझ जाते हैं, बरी रहेगा।

इस विचार की शिमला और लन्दन मे जो प्रतिक्रिया हुई वह भी बडी मजेदार रही। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह तो जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमें कोई एतराज न होगा, उसने अपनी सरपरस्ती की सहमति भी दे ही सी दी, क्योंकि प्रत्यक्ष में उसे यह भी पुराने ढग के सर्वदल-सम्मेलन की सी ही दिखाई दी, और चूंकि ऐसे सर्वदल-सम्मेलन के भाग्य मे पहले से ही असफलता लिखी रहती है, उसने सोचा कि इससे भी उल्टे अपने हाथ ही मजबूत होंगे। लेकिन मालूम होता है बाद में उसने इस विचार के अंदर समाये हुए खतरों और इस तरह की असेम्बली से जिन-जिन बातों की सम्भावनायें हो सकती थी, उनको महसूस किया, और तब से वह इसका जोरों से विरोध करने लगी।

बम्बई-कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कांग्रेस के चुनावसम्बन्धी कार्यक्रम में मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस बात में बड़ी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दों में कहा जाय तो यों कहना चाहिए कि मैं उनके विरोधियों की हार

मनाता था। इन विरोधियों में पदलोलुप सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगों का अजीब-सा सम्मिश्रण था, जिन्होंने सरकार की दमन-नीति का ज़ोरों से समर्थन किया था। इस बात में कोई शक नहीं था कि इनमें से अधिकांश लोग हरा दिये जायेंगे, लेकिन बदक़िस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्रदायिक संगठनों की व्यापक रूप में फैली हुई भुजाओं की शरण ली। लेकिन इतने पर भी कांग्रेस को बड़ी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगो में से बहुत से खदेड़ दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक संगठनों के साथ सहयोग किया, यहाँ तक कि सनातनियों तक का, जिनसे बढ़कर कि आज भारत में, राजनैतिक और सामाजिक, दोनों ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नहीं है। साथ ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रतिगामियों तक का सहारा लिया। बंगाल को छोड़कर, जहाँ कारण विशेष से एक ज़बर्दस्त कांग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमें से अधिकतर सब तरह से कांग्रेस के विरुद्ध थे। इसमें शक नहीं कि कांग्रेस के सबसे ज़बर्दस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी सारी तरह की विरोधी शक्तियों के मुकाबिले में, जिनमें कि ज़मीदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफ़सर तक शामिल थे, कांग्रेस उम्मीदवारो ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कांग्रेस का रुख विचित्र था; लेकिन इस परिस्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी पिछली तटस्थता की नीति का या यों कहो कि कमज़ोर नीति का लाज़िमी परिणाम था। शुरू से ही दृढ़ नीति अख्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीक़ा होता। लेकिन क्योंकि कांग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख्तयार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक खास बेहूदगी की चीज़ थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आज़ादी हासिल करना अशक्य था। यह इसलिए नहीं कि सने मुसलमानों को बहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि वे जो कुछ भी मांगते सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को अनेक ऐसे आपस में एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सों में बाँट दिया था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार

कर देता था, जिससे कि विदेशी अंग्रेज़ी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य बना दिया।

खासकर बंगाल में, जहाँ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्राधान्य दे दिया गया है, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फ़ैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है) का तीव्र विरोध होना ज़रूरी था। और चाहे वह हम पर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना खयाल है कि इसके पक्ष में एक ही बात कही जासकती है कि खुद इसकी बुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत में वह किसी बात का स्थायी आधार बन नहीं सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों ने स्वभावतः ही इस जबरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना उसके समर्थकों की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारसरणि के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई और अब भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकर अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गई है। उसको यह सूझता मालूम नहीं पड़ता कि इस नीति का अख़्तियार करना सिर्फ़ अपमानजनक ही नहीं है बल्कि उससे निर्णय का बदला जाना बहुत ज्यादा कठिन हो जाता है, क्योंकि यह मुसलमानो को खिझाता ही है और उन्हें और भी अधिक दूर खीच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियो को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर बहुत बड़ा है और स्वार्थों का संघर्ष बहुत ही साफ़ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनो साम्प्रदायिको को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियों का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह महज़ मुठ्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी और मुसलमानों को नाखुश करेगी?

खुद यह बात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए

हैं और राष्ट्रीय आज़ादी के लिए बहुत ज़ोर देते हैं, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतों के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नहीं सकती) उनके राजनैतिक विरोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ जायगा; लेकिन ऐसी रिआयतें मुसलमानों के रुख में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी।

असेम्बली के चुनावों ने दोनों अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओं, हिन्दू महासभा और मुस्लिम कान्फ्रेन्स, के हिमायतियों की अन्यन्त स्पष्ट रूप से क़लई खोल दी। इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े ज़मींदारों या साहूकारों से लिये गये थे। महासभा ने हाल ही में क़र्ज़-बिल का ज़ोरों में विरोध करके भी साहूकार वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायों से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हींके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगों से लिबरल-दल बना है। हिन्दुओं पर उनका कोई ख़ास प्रभाव नहीं है, क्योंकि निम्न मध्यम वर्ग मे राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है। औद्योगिक नेता भी इन लोगों से अलग ही रहते हैं, क्योकि नये नये धन्धों और अर्द्ध-माण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं में परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धे-वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी ख़तरे में पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियो और सरकार दोनों ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते हैं। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलों पर कोई ख़ास ध्यान नही देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानों के निम्न मध्यम वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियो में रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ़ उनकी साम्प्रदायिक संस्थाओ पर ही क़ब्ज़ा किये हुए हैं, बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम में ला रहे हैं। सरकारी उपाधिधारियों, भूतपूर्व मिनिस्टरों और बड़े-बड़े ज़मीदारों के मजमुए का नाम ही मुस्लिम कान्फ़ेन्स है। और फिर भी मेरा ख़याल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयों में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताक़तवर है। और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ जायँगे। इस समय तो मुस्लिम शिक्षितवर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही तरह से चेतना-हीन सा होगया है और उसमें कोई स्फूर्त्ति नहीं रह गई है। अपने पुराने रहनुमाओं के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का वह साहस कर नहीं सकता।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढ़ी हुई महान् संस्था कांग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन

कर रहे हैं, वह वर्त्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कहीं अधिक फूंक-फूंककर क़दम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो मांग करते हैं, लेकिन उसकी राय जानने या दुःख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हों। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम ग़ैर-कांग्रेसियों को अपनी ओर खींचने की ग़रज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामों तक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख़ बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियों तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कहीं अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कहीं अधिक मदद मिली होती। अब क्योंकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसों के लिए और भी ज्यादा गुंजायश होजायगी, और कांग्रेस के नेताओं और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली में जोरदार भाषणों की झड़ी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसों में, जबकि कांग्रेस कौंसिलों का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलें जनता की असली प्रतिनिधि हैं और लोकमत को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन यह दिल्लगी की बात है कि, अब जब कि असेम्बली में अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव में मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओं की संख्या बहुत ही थोड़ी, तीस करोड़ या उसके लगभग जनता में से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ों लोगों को वोट देने का हक़ नहीं मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अंग्रेज़ी सरकार के हामी हैं। इसका जवाब साफ़ है। हरेक बालिग़ व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगों का ख़याल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारों पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारों ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनायें हुईं, उनमें अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उससे भारतवासियों के प्रति

'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का मुझे यह तरीक़ा बड़ा ही विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितों में कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नहीं है? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे। स्वतन्त्रता क्या हम महज़ साम्राज्यवादी नीति को क़ायम रखने के लिए ही चाहते हैं? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे और जैसा वह चाहती है, ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते हैं, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने खुद के हाथों में शासन की बाग़डोर लेने का यह सब शोरगुल क्यों मचाया जा रहा है?

यह साफ़ ज़ाहिर है कि ओटावा-पैक्ट, आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए, बहुत लाभकारी नहीं हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है, और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितों के बलिदान पर। उपनिवेशों, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में स्थिति इससे उलटी है।[2] उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकांश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और साथ ही अन्य

१. सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाज़ी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से लाभप्रद रहा है।"

२. जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अख़बार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जब कि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच

देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[१] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथों में जल्दी ही शासन सूत्र आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[२] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खीचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई, जिस पर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियों की ओर से सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट का भंग कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर मे आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके खिलाफ़ वहाँ भी कड़ा रुख़ इख्तियार किया गया।[३]

साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०·६ फ़ी सदी घटा था, जब कि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ़ ३२·६ फ़ी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात की कमी कहीं अधिक कभी नहीं हुई, किन्तु इन देशों से हमारे आयात की कमी कहीं अधिक थी।"

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी ग़लती मानते जा रहे हैं।" (१६ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मेञ्चेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

२. कनाडा के वर्त्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजना' (New Deals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तबदीली हो रही है। श्री लिटवीनोव; सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विसवालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे खुद ही उन भयंकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जायँगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किङ्ग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आगये हैं।)

३. मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लङ्काशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लङ्काशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लङ्काशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गर्जियन' से उद्धृत।)

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाड़ा और आस्ट्रेलिया के लोगों में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नहीं है; हां, आयर्लैण्डवालों में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। संघर्ष स्वार्थों के परस्पर विरोध के कारण होता है, और जहां कही इस किस्म के हित-विरोध हों, हिन्दुस्तान में 'संरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित प्रधान रहे। 'संरक्षण' के क्या नतीजे होंगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल में की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से लग जायगा, जिसमें ब्रिटिश-धन्धेवालों की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यवसायियों और उद्योग-धन्धेवालों से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी ज़िद्द से उसे क़ायम रक्खा। ऐसे संरक्षणों की तो बड़ी जबर्दस्त जरूरत कनाड़ा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका में है, जिससे कि इन उपनिवेशो के लोग न केवल व्यापारिक मामले मे ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयों मे भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करले।[1]

कहा गया है कि साम्राज्य का अर्थ है 'क़र्ज़', और संरक्षणों का निर्माण इसीलिए किया गया है कि शाही लेनदार अपने सब विशिष्ट स्वार्थों और शक्तियों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने अभागे क़र्ज़दार पर अपना जबर्दस्त क़ाबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ़ से दुहरायी जाती है, यह है कि गाधीजी और कॉंग्रेस ने ऐसे संरक्षणों के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गांधी-अर्विन समझौते में भारत के हित में 'संरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सरक्षण फिर भी छोटी बातें है।[2] जो कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियों सुविधायें, जिनका

१. दक्षिण अफ्रीका संघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा को किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फ़रवरी १९३५ को भेजा हुआ रूटर का संवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट ज़ोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को ज़ाहिर करता है।

२. लन्दन का 'एकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के

उद्देश हिन्दुस्तानियों पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान में उन्हें इस देश के शोषण में सहायता दी है, स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधायें और 'संरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना ग़ैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए, किसी क़िस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'संरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायगा' और यह दिन-दिन साफ़ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय संघ एक वाहियात चीज़ है; और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही) सौंप दी गई है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कोई शक्तियाँ—कुछ कर-धर सकने के साधन नही दिये गये हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैण्ड अपने हाथों मे रक्खे हुए है। निरंकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तियुक्त हो जिससे कि वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ में उन निर्णयों को अमल में लाने की शक्ति, होनी भी चाहिए। इतने पर भी इसमें शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र भी, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा या नहीं, लेकिन वह प्रश्न हमारे यहाँ नही उठता, क्योंकि हमारी गति हथकड़ी और बेड़ियों से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाज़े बन्द करके ताले लगा दिये गये है। हमें ऐसी मोटर देदी गई है, जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफ़ी लगे हुए हैं, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-लॉ—फौजी क़ानून ही जिनका सदा आधार है, ऐसे लोगों का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल में विश्वास रखने वाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी क़ानून—ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोड़ने का अर्थ है अपना सर्व नाश।

लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों में बसनेवाले मूल निवासियों को हम मंहगी दर पर लङ्काशायर का माल ख़रीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

इंग्लैण्ड के इस तोहफ़े से हिन्दुस्तान को किस हदतक आज़ादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलोंतक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियों को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन उन्होंने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढंग के साथ। दूसरे लोगों ने उग्र रूप से विरोध किया है।

नरम दलवालों का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेजों के मातहत करने मे अपार बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओं ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होंने तीव्र आलोचना की, लेकिन असलीयत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दो और लुभावने हाव-भावों में अनुरक्त होकर, उसमें इसी बात पर सबसे अधिक ज़ोर दिया कि रिपोर्ट और बिल, दोनों में, 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द ग़ायब हैं। इस सम्बन्ध में, उनकी तरफ से, बड़ा बावैला मचा था और अब क्योंकि सर सैमुअल होर ने इस विषय में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नही सकेंगे। हाँ, उसके सपने देख सकते हैं और उसकी अनेक सुन्दरताओ का ओजमय वर्णन कर सकते हैं। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहों से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट की शरण ली है। क्योंकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल क़ानूनदा हैं, उन्होंने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करें, इन दोनों के ऊपर सम्राट हैं, जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकाक्षा किया करते हैं।"[1] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमें शासन-विधान, क़ानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटों में पड़ने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नही होगा कि नरम दलवालों ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमें से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते हैं, बनिस्बत उस बिनमांगे तोहफ़े

१. लखनऊ की, २६ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हें आगे बढ़कर कुछ करने से रोकते हैं, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातों पर जोर देते रहेंगे। एक पुरानी कहावत, वर्त्तमान समय के अनुकूल तबदील कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर-फिर चिल्लाओ!"

लिबरल नेताओं और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कि कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल हैं, इंग्लैण्ड मे मजदूर दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नही है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मजदूर सरकार के आगमन से लाभ क्यो न उठावे। लेकिन इंग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्त्तन पर ही बिल्कुल निर्भर रहना न तो सम्मान की बात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी बुद्धिमानी की बात भी नहीं है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यों रक्खे? हम अभी दो बार मजदूर दल की सरकार देख चुके हैं, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफ़े मिले हैं, उन्हे हम भूल नही सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर दल से अलग हो गये हों, लेकिन उनके पुराने साथियो में भी कोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नही देता। सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट में होनेवाली मजदूर दल-कान्फ़ेन्स में श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ़ेन्स का यह विश्वास है कि यह बहुत ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त कार्य में परिणत किया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बड़ा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से अपनी स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग मे लाने का आश्वासन देने से साफ़ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर से बता चुके हैं कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायों से सलाह करेंगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगों का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ़ेन्स, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलों में इंग्लैण्ड के अनुदार

और मज़दूर-दल में बहुत कम फ़र्क़ है। यह सच है कि सर्व-साधारण मज़दूर-वर्ग कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओं पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मज़दूर दल के उग्र विचारवाले शक्तिसम्पन्न हो जायँ, क्योंकि आजकल परिस्थितियाँ बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं, लेकिन क्या विलायत के नीति-परिवर्तन के इन्तज़ार में, हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दें और सो जायँ ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मज़दूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे हैं, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, इसी फ़रक से, यह मज़दूर दल उग्र विचार का बन जाय और इंग्लैण्ड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्य मे परिणत कर डाले, तो हिन्दुस्तान में और यहाँ के लिबरल और दूसरे नरम दलो पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमें के अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर पुराण-पन्थी हैं। वे मज़दूर दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो को पसन्द न करेंगे और भारत में उनके प्रचलित किये जाने से डरेंगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति समाप्त ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी हैं, अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगे। निस्सन्देह हममें से किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है; यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके कि हम विरोधी है, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बताई नही कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे।

गोलमेज़ कान्फ्रेन्स की कार्रवाई और संघ शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशों को मैदान में बहुत आगे ला देना। उनके और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति प्रदर्शित कट्टर अनुदारपन्थियो की शुभचिन्तकता ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नही थी कि वे ब्रिटिश रेजीडेण्ट के संकेत मात्र तक को अस्वीकार करदें, और अनेक देशी नरेशों के प्रति भारत सरकार का व्यवहार भी साफ़ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में बराबर दस्तंदाज़ी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-संगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकांश रियासतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से 'उधार' दिये हुए अंगेज़-अफ़सरों द्वारा शासित हो रही हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि श्री

चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने में फूंक-फूंककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब ज़रा कहीं अधिक अकड़ के साथ बात-चीत करने लगे हैं।

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का ख़याल मुझे परेशान कर रहा है। असलीयत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सर्वत्र घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े या अमूल्य यौवन नष्ट कर रहे है और बरसों से अपने जिगर का खून पी रहे है।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी और हज़ारों दूसरे लोगों मे कटुता बढ़ती जा रही है और नग्न पाशविकता के सामने अपनी ज़लालत और बेबसी की कुत्सित-भावना ने उन्हे घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक संस्थायें ग़ैरक़ानूनी करार दे दी गई है और 'संकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रेंक्विलिटी एक्टस्) सरकारी शस्त्रागार मे करीब-क़रीब स्थायीरूप से शामिल कर लिये गये हे। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे है। बहुसंख्यक पुस्तकें और पत्रिकायें या तो ज़ब्त

१. होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा सभा में जेलों और स्पेशल केम्पों में बन्द नज़रबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलाई थी—बंगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नज़रबन्दों की है, जिन पर न तो मुकद्दमा चलाया गया न सज़ा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं है। जिन लोगों को सज़ा दी गई है, आमतौर पर उनकी सज़ा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के १७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेंस हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी कैद की सज़ा दी थी! अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पक्ष में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण-करने वाले कई क़ानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज़ कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गये हैं।

की जा रही हैं या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेश बंदी की जा रही है और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सजायें दी जाती हैं। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्त्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसात्मक रिपोर्टें सेंसर की प्रबल नापसन्दी का शिकार होती हैं। 'माडर्न रिव्यू' को बंगाल सरकार की ओर से महज इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होंने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस पर पार्लमेण्ट में फ़रमाते हैं कि—"उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतों का विकृतरूप दिखाया गया था" इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गई थी।[१] इन नियामतो के निर्णायक सेन्सर महोदय होते है, और हम उनके विरुद्ध मत नही रख सकते या ज़ाहिर नही कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ़्रेन्डस् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सांस्कृतिक विषयो मे रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त संसार में सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या ? सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रक्खा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनों से भी कही ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति मे असम्भव है;[२] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओ का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरूआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक समझदार आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार क्रान्ति के मध्य में है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से अनुभूत घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बड़े महत्त्व के परिवर्त्तन

१. १२ नवम्बर १९३४

२. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर ज़मानत और ज़ब्ती आदि का प्रयोग हुआ था। इनमें से ३४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रक़म की व्यवस्था न कर सके; बाक़ी के १६६ पत्रों ने ज़मानत देदीं, जो २,५२,८५३ रुपये की रक़म थी!

हो रहे हैं, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ ही हो, बहुत दूर नहीं है—वह कोई ऐसी दूर की चीज नहीं है, जो मस्तिष्क में निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें वह समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूंढने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओ से आश्चर्यजनक रूप से नावाकिफ हैं, या उनके प्रति उदासीन है। सम्भवतः यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफ़सरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल सर्विसवाले बड़े मज़े से और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से संकुचित दायरे में रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हींके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बडा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते है कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-सघ की बढ़ती हुई ताक़त, या स्यागकियाग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य एशिया या अफ़गानिस्तान या फ़ारस की घटनाओ का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पड़ता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण नीति का आधार-स्तम्भ बन गई है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के है वे आर्थिक परिवर्त्तन, जो आज सारे संसार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का तौर-तरीक़ा गुज़र चुका है और वर्त्तमान अवश्यकतायें इसके ज़रिये पूरी नही की जा सकती। वकीलों का नज़ीरें दे-देकर शुरू करने का तरीक़ा, हिन्दुस्तान में इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि यहाँ नज़ीरें नहीं रही हैं, कुछ काम का नही रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको नाअमली समझकर छोड़ देना होगा, और इसका स्थान दूसरे को देना होगा। रूस के सिवा भी 'नवीन-योजनाओं' और महान् परिवर्त्तनों की चर्चा हो रही

हैं। सब प्रकार से पूंजीवादी प्रणाली को क़ायम रखने और मज़बूत करने की दिली इच्छा से प्रेसीडेण्ड रूज़वेल्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक ऐसी योजनायें प्रचलित की हैं, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने "अत्यधिक विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्ग को उखाड़ फेंकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्त्वकांक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नही हिचकिचाता। इंग्लैण्ड में श्री लायड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नई योजना) लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी अनेक नई योजनायें चाहते है। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने योग्य है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक भयंकर बेवकूफी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और वह हमें बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को ज़िन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था को अधिकतर उन्नत करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दुःख-दरिद्रता की कीमत पर उनको क़ायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुँचाना नही है, वरन उनको दूसरे लोगों पर आघात करने से रोकना है। यदि इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध मे मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की समाजिक उपयोगिता मे बहुत कम को सन्देह होगा। साफ़ है कि समझौता यह इसप्रकर नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ क़ायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और ज़रूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवज़ा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से अधिक हानि होने की सम्भावना है। मगर, अफ़सोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे समझौते स्वीकार नहीं करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अंग नही रह गये हैं, काफी विवेकशून्य होते हैं। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते हैं और इस तरह अपना अन्त कर लेते हैं।

ज़ब्ती आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी 'असम्बद्ध चर्चा' (जैसाकि कांग्रेस कार्य-

समिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा था) हो रही है। लेकिन ज़ब्ती—मुस्तक़िल और मुतवातिर ज़ब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज़ मज़दूरों के गाढ़े पसीने की कमाई ज़ब्त की जा रही है; और इस हदतक लगान और मालगुज़ारी बढ़ाकर कि किसान उसके अदा करने में असमर्थ हो जायँ, उसकी जोत ज़ब्त करली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियों ने सार्वजनिक भूमि पर कब्ज़ा कर लिया और उससे बड़ी-बड़ी ज़मीदारियाँ बनाली; इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड़ फेंके गये। सारांश यह कि ज़ब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम में लाता है, जो स्वयं ही ज़ब्ती के रूपक है, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, क़र्ज़ से छुटकारा दिलाने का क़ानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही मे हमने राष्ट्रों को इन्कार करते, अपरिमित क़र्ज़ की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल रूस का सोवियट सघ ही नही, वरन अग्रणी पूजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये है। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क़र्ज़ अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अंग्रेज़ो द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रक्खा गया एक भयकर उदाहरण! लेकिन इन सब ज़ब्तियों से और कर्ज़ों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणो से छुटकारा नही मिलता। नये-निर्माण के लिए तो जड़ पर ही कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत बदलने का उपाय निश्चित करते समय हमें भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाज़ा करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नही सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियो से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर, हमारे निराशामय और कुत्सित जीवन, भुखमरी और ग़रीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन के गहन भार सहित उसे ज्यों-का-त्यों चलते रहने देने के लिए, हमें कितनी ज़बर्दस्त कीमत चुकानी पड़ती है। हमेशा प्रवाहित होनेवाली प्रलय की बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियों को लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या हममें से कुछ लोग बालटी से पानी ऊलीच-ऊलींचकर इन प्राणियों को बचा नहीं सकते। बाँध

बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह स्पष्ट है कि समाजवाद जो महान् परिवर्त्तन लाना चाहता है, वह कुछ क़ानूनों के सहसा पास कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नीव रखने के लिए क़ानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना ज़रूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है, तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसीको वञ्चित करना नहीं, वरन सम्पन्न करना है, वर्त्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते में से सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो कि समाज को पीछे रखना चाहते हैं, ज़रूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख़्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि हम क्या पसन्द करते हैं या क्या पसन्द नहीं करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, वरन इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितों अथवा स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतामय अपील से काम नहीं चलेगा। उसके साथ-साथ प्रमाणों और अंकों से पुष्ट आलोचना सविवेक और युक्तियुक्त तफसीली विवेचन भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशों की पुस्तकों का पढ़ना ही काफ़ी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद का निर्माण होना है, तो वह भारतीय अवस्थाओं के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की ज़रूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदक़िस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध सरकारी यूनीवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दिशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफ़ी नहीं है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि

बिना उस आधार के किसी हालत में भी हम विषय का मर्म नही समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते हैं। इस क्षण तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ? अवश्य ही, मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा, लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूँ, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूँजीपति भी नही हैं। साधारण लोग इतने निर्धन हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नही मानते, और मजदूरी की वृद्धि और काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी मांग का वे जबर्दस्त विरोध करते हैं। इन्हीं दिनो कपड़े की मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल मालिकों ने मजदूरों की,—फ़ुटकरिये मजदूरों तक की मजदूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मजदूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टेण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइजेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण), मजदूर की उचित मजदूरी बढाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढाता हुआ, तेजी से बढता जारहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवी सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौका आता है, वे अनाप-शाप लाभ उठाते है, और मजदूर वैसे-का-वैसा बना रहता है; लेकिन अगर कोई आफ़त आजाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते है कि मजदूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हींकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मजदूरों की अवस्था कही अधिक अच्छी है बनिस्बत बम्बई या दूसरी जगह के। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरो की हालत बंगाल के जूट मिलों के और कोयले की खानो के मजदूरो से अच्छी है। छोटे-छोटे, असगठित उद्योग-धन्धो के मजदूर औद्योगिक परिमाण में सबसे नीचे दर्जे के है। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिको के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी जीवन और शान-शौक़त की अगर अध-नंगे मजदूरो के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसकी उपेक्षा कर देते है।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत इतनी खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डलवाले गांव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरेक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है? किस तरह वह अपनी जिन्दगी बिता रहा है, यही अत्यन्त आश्चर्य की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८–२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नो आना थी। लेकिन १९३०–३१ मे वह गिर कर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई! पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल माने जाते है। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलों (गोरखपुर वगैरा) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनो में मजदूरी दो आना रोज थी। मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा इस दर्दनाक हालत को उन्नत करने की बातें करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मजाक उड़ाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते है? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो अवश्य है; लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्क़त तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ़ से आती है, जो तबदीली का विरोधी है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए तबदीली का हो सकना ग़ैर-मुमकिन-सा मालूम होता है। आगामी वर्षों में भारत क्या रुख अख्तियार करेगा? समाजवाद और फ़ासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तियां मालूम होती हैं, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय लुप्त होते जा रहे हैं। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फ़ासिज्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियों में फ़ासिस्ट भावना साफ़ प्रकट है—खासकर बंगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तों में भी, और कांग्रेस में भी उसकी झलक आने लगी है। फ़ासिज्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कांग्रेस के बड़े-बूढ़े, जिन्होंने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावतः ही उससे डरते हैं। लेकिन फ़ासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत

सम्पत्ति क़ायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हे पसन्द आजायगा। शुरू में ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढंग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीक़ा बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रक्खो, ये दोनों बातें एकसाथ मुमकिन भी है या नही, यह बात दूसरी है।

फ़ासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम श्रेणी के नवयुवकों से। वस्तुतः इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी है वह मध्यम श्रेणी का ही भाग है, मज़दूर या किसान वर्ग का उतना नहीं, हालांकि कल-कारखानों के मज़दूर-वर्ग में इसकी शक्यता अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम श्रेणी फ़ासिस्ट विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, योरप के ढंग का फ़ासिज्म यहाँ नहीं चल सकेगा। भारतीय फ़ासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादिता से वह अपनेको मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पड़ेगी। यदि ब्रिटिश सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फैसिज्म बड़ी तेज़ी से बढेगा, क्योकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के शीघ्र उठ जाने की सम्भावना नही है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारों का भी ज़ोरों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) ग़ैर क़ानूनी करार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और उन्नत-प्रोग्रामवाले मज़दूर सघों तक को शामिल कर लिया जाता है।

फ़ासिज्म और साम्यवाद, इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्ही पृष्ठो से मालूम हो जायगा कि मै साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवी सदी के है और मानववाद [1] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मै उससे बिलकुल बचकर निकल नही सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे

१. **मानववाद** (Humanism) **वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें आधिदैविक अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानवहित को अपना अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए।**

रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्रों की खिझलाहट के कारण बने हुए हैं। कट्टरता को मैं नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिसको कि चेलेञ्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियों के खिलाफ़ जिहाद, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं हैं।

मूल्यों के सिद्धान्त (Theory of Value) या दूसरे किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन ग़लत हो सकता है, मैं उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूँ, फिर भी मैं समझता हूँ कि समाज-विज्ञान में उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्त्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग में होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओं की जागृति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरे प्रवृत्तियों की उपेक्षा की अथवा उनका महत्व कम आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने का तरीक़ा और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का वह तरीक़ा भी स्थायी अथवा अपरिवर्त्तनीय नहीं है, बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने परिवर्त्तित परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "किसी ख़ास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना, किसी संघर्ष के निश्चित साधनों के प्रश्न पर 'हाँ,' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है।

राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अंधेरे में टटोलने

की चीज़ नहीं रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते हैं। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्यजाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम चलने' की उसमे बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्यूनिस्ट इन सब बातों को नही समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नों को इतना कारगर बनाया। फिर भी, कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातों को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टों के साथ सब्र के साथ पेश आसकना बहुत मुश्किल है; उन्होंने दूसरों को चिढ़ाने देने का अजीब ढंग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी है, और रूस के सोवियट-संघ के बाहर, उन्हे अनगिनती कठिनाइयों का मुक़ाबिला करना पड़ता है। मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोडो भाग्य हीनों की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्व शक्तिसम्पन्न दैव में अन्ध-श्रद्धा रखकर नही। मर्दों की तरह वे मुसीबतो का सामना करते है, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने मे एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगों की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तो पर कोई ज़ाहिरा असर नही पड़ता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नही है, कि प्रतिकूल परिस्थितियों या राष्ट्र-शक्तियों का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगों को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मैं यह समझता हूँ कि वह संसार के लिए ज्यादा से ज्यादा आशा का संदेश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नहीं है, और न मैं अपने आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कही ऐसी भयंकर लीक न छोड जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बड़ी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओं के पक्ष में कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलों से शिक्षा ग्रहण करने में नहीं हिचकते। वे अपना क़दम पीछे ले सकते हैं, और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते हैं। अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादीसंघ—द्वारा दूसरे देशो

में उठायी गईं उनकी प्रगतियां नितान्त असफल रही हैं, और अब तो वैसी प्रगतियां घटते-घटते कम-से-कम रह गई हैं।

और फिर हिन्दुस्तान में तो कम्यूनिज्म और समाजवाद अभी दूर की बात है, बशर्ते कि बाहर की घटनायें उसे क़दम आगे बढ़ाने को विवश न करदें। हमें अपने यहां कम्यूनिज्म का सामना नहीं करना है, बरन उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातों, साजिशों और हथकण्डे फैलाने में यहां अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और इनमें एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे हैं। उनमें से बिरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न मे दिलचस्पी रखते हों। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्जुआ जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नही मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसीकी आवाज़ बुलद है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नही है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियो से दबाई जा रही है। इस समय वह अपने अस्तित्व के खतरे में से गुजर रही है; भविष्य में उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्र की आज़ादी, की प्राप्ति को पूरा नही कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियों की ओर जा नही सकती। लेकिन इसके पहले कि वह इसमें सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियां ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खिचने के लिए प्रभावित करलें। या धीरे-धीरे उसकी जगह लेलें। लेकिन, यह संभव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत कुछ अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयां में डालने के सिवा, जिससे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कहीं नहीं ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में एक सूत्र में बंध जाना चाहिए और सबको 'मिलकर मुक़ाबिला' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी कवि-सुलभ भावुकता के साथ इसका ज़ोरों से प्रचार करती हैं। वह कवि हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त मुक़ाबिला' हमेशा ही वांछनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह मुक़ाबिला हो। इस वाक्य का विश्लेषण किया जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथप्रदर्शन करेंगे। जैसाकि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते है, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त अवरोध' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना—'संयुक्त सामने' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवक़ूफ़ी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग बदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोर-पन है, और क्रान्तिकारी वर्ग की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाज़िमी है, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक परेशान होने की ज़रूरत नहीं हैं। हम समझौता करें या उससे इनकार कर दे, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओ को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुयें उनका स्थान कभी न लेने पावें। अगर हम अपने सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुकसान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपने कमज़ोर भाइयों की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयो से पीछे न हट जायँ। किसीको गुमराह करना कहीं ज्यादा बुरा है, बनिस्बत किसी को नाखुश करने के।

मैं प्रचलित घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मैं तमाशबीन नहीं बना रहता, बल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफ़ी उत्तेजना के बिना ही मै बेवक़ूफ़ी से उसमें कूद पड़ता हूँ। मैं अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊँ? जरूर ही मै एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूँ, तबतक तो, मैं तत्काल-निर्णय की समस्याओ के चक्कर मे फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओं का शिकार होकर रहना पड़ता है, कार्य का विषय बनकर नही; भविष्य में कुछ होने की आशा में रह-रहकर इन्तजार करना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओ पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जो कि एक अर्से से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या वास्ता? क़ैदियों की एक ही बात मे खास बडी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख का खयाल।

नैनी जेल में और यहाँ अल्मोड़ा में भी बहुत-से क़ैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मै समझ ही नही सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है; लेकिन बाद को मुझे खयाल आया कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफ़वाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणो के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था—कुछ लोगो की जेल से मुक्ति या सजा में काफी कमी। इसलिए हरेक क़ैदी, और खासकर लम्बी अवधिवाले क़ैदी, आगे आनेवाली 'जुबली' के बारेमे बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-सुधार-विधान, पार्लमेण्ट के क़ानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कही ज्यादा महत्त्व की चीज थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किन्तु यह क्षमता हमें नहीं दी गई है कि हम अपने कार्यों को पूरा कर सकें।

तालमद

मैं अपनी कहानी की समाप्ति पर पहुँच गया हूँ। अपनी जीवन यात्रा का, अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण, जैसा कुछ भी यह है, अलमोड़ा ज़िला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फ़रवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन मैंने इस जेल मे अपनी पैंतालीसवी वर्षगांठ मनाई थी, और मैं ख़याल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का ख़याल मुझपर ग़ालिब आ जाता है; लेकिन फिर मैं अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफ़ी गठीला है और मेरे दिमाग़ में सदमो को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मैं अभी काफ़ी अर्से तक ज़िन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है।

मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नही रहे है; कई बरसो के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नही दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए है; क्योकि इन बरसो को मैंने, उनके सब उतार-चढ़ाव सहित, अपने हज़ारों देश-भाइयो और बहनों के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है। मै जन-समूह में का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढ़ाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ, और फिर भी, दूसरी इकाइयों की तरह दूसरों से अलग जन-कोलाहल के बीच मे अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए हैं, और उनके अनुसार अपने अनेक रंग बताये है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत कुछ असलीयत थी, बहुत सचाई थी, और उसने हम नाचीज़ प्राणियों को ऊँचा उठा दिया, हमें अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमें मिल नही सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इमसे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन

बिताना, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्त्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्तःक्लेश से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत-से तोहफ़ों के साथ-साथ एक अनमोल तोहफ़ा यह भी मिला है कि मैं जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, वह अब भी मुझमें है और मेरी हलचलों, उसी तरह पुस्तकों के पठन-पाठन में रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने में मैंने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हें देने का—जहाँतक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से याददाश्त पर लाना कठिन है, और बाद में आनेवाली घटनाओ को भुलाना सरल नही है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनो के वर्णन पर पिछले विचारो का प्रभाव जरूर पड़ा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नही है, कि मैं क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता के भावों को प्रदर्शित नही करता, बल्कि और भी अधिक खतरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानों, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढ़ता के कारण, जिसे कि उन्होंने 'आत्मसम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। 'आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूँगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नही है, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनो होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद को बहुत घटनाये घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्करदार जीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुँचे, जबकि मैं पृथिवी पर ही, पृथिवी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनों एक राष्ट्रवासी है अब उनमें और मुझमें कोई समानता नही रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश-राज्य के जबरदस्त हामी है, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक हैं और खुद भी एक देशी रियासत में स्वेच्छा-

चारित्र के चमकदार आभूषण बने हुए हैं। मैं समझता हूँ, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं, लेकिन एक साधारण से मामले में हम सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूँ। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मैं किसीके भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नहीं, मैं वैसा नहीं करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते हैं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर— बन गया हूँ, हर जगह बेमौजूं—अपने घर में कहीं का भी नहीं-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तान जैसा कि वह अपने सब बच्चों के हृदय में रहता है, अनेक रूप से मेरे हृदय में भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ, (या संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतियां छिपी हुई हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। ये दोनों मेरे अंग हो गये हैं, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहाँ साथ ही, न केवल सार्वजनिक कार्यों में बल्कि खुद जीवन में भी एक आध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूँ—अजनबी हूँ। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं कहींका निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढ़ना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है, लेकिन, ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुँचते हैं, कठिनाइयां दिखाई देने लगती हैं, और जैसे-जैसे ऊँचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढ़ाई प्रयत्न किये जानेयोग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज संघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है; कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और दरअसल जिसमें कुछ सचाई है, उसे नजर अन्दाज कर दिया जाता है। अत्यंत नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि किसीके उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूँ कि

बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसों मैंने जेल में बिताये है! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने अतीत दिवसों की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन अतीत दिवसों की प्रेत आत्माओं को उठते हुए, अपनी दुःखद स्मृतियों को साथ लाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करनेयोग्य था"! और इसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नहीं है।

अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमे शक नही कि मै अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक तबदीलियाँ करने की कोशिश करूँगा, जो कुछ मै पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयो मे मेरे प्रमुख निर्णय ज्यो-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मै उन्हें बदल नही सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कही अधिक जबर्दस्त हैं, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खींचकर उन-तक पहुँचाया है।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया; सजा के दो बरसो में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाक़ी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे, सादी सजा में इस तरह दिन नही काटते। इतना ही नही, पिछली अगस्त मे जो ग्यारह दिन मै बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर उसके बाद? मैं नही जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, यह मैं स्पष्ट अनुमान नही कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और
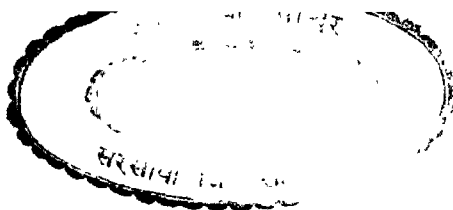
बेडनवीलर, स्वार्टस्वाल्ट
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से योरप इलाज कराने के लिए गई। उसके योरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना बन्द हो गया; पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवारे आवागमन बन्द हो गया। वह मुझे अब दिखाई न देती थी, और अलमोड़ा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत सरकार हमें उसको या उसके विचित्र तरीकों को, भूलने नहीं देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जो कि भूकम्प सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय: किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और पीड़ितों की सहायता करने की इजाज़त नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता को ही वहां जाने दिया गया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारों की ज़मानतें ज़ब्त करली गईं।

जिधर देखिए उधर सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली, में सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से मुतवातिर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डंडों से भरी हो, शायद रहने के लिए उपयुक्त स्थान न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, क्योंकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे ज़लील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊंची नौकरियां, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस वालों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफ़सरों में यह सबसे अधिक पाई जाती है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चितरूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को यकायक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाज़ुक हो गई है। स्वार्टस्वाल्ट (जर्मनी) के बेडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी करदी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढे पांच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज से योरप को रवाना हुआ।

योरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकायें और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मंडराते रहते हैं; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहां की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्तायें आपस में टकरा रही हैं और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई है, और अपनी अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इंग्लैंड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर इंग्लैंड, शान्ति और राष्ट्रसंघ की दुहाइयां दे रहा है। लेकिन यहां इस 'ब्लेक फारेस्ट' मे शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहांतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह स्वस्तिक भी नजर नहीं आता। मैं देख रहा हूं कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मैं हैरत में हूं कि उस पार क्या है?

परिशिष्ट—क

[२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल हम खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार भी ग़रीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आज़ादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फी सदी गरीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मंद हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेज़ी कारखानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेज़ी माल के साथ साफ़ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हलका करने में नहीं, बल्कि एक अत्यंत अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीक़े से निश्चित की गई है कि जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेज़ों के ज़माने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आई। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के

सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक़ छीन लिये गये हैं और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गांवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुक़ाबिले की भावना को बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-संभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बग़ैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञायें देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

परिशिष्ट—ख

[यरवड़ा सेन्ट्रल जेल, पूना में सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकन्दराव जयकर को ता० १५ अगस्त को कांग्रेस-नेताओं द्वारा लिखा गया पत्र, जिसमें सुलह की शर्तें थीं ।]

प्रिय मित्रगण,

आप लोगो ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो खत-किताबत हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पांच महीनों में देश में जो गज़ब की जागृति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगो में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते हैं कि न तो वह कष्ट-सहन काफ़ी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश पूरा हो जाय। शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नही है कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेजों का इतिहास ऐसे-ऐसे रक्तपूर्ण क्रान्तिकारियों के उदाहरणो से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज़ लोग कभी नही थकते; और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्‌भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज़ को शोभा नहीं देता। पर जो सरकारी या ग़ैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते है, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नही है। हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते हैं कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियों और

बच्चों तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति में रखना कि उन्हें जेल जाना पड़े, लाठियाँ खानी पड़ें और इनसे भी बढ़-बढ़कर दुर्दशायें भोगनी पड़ें, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नही हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते है कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सबको ढूँढकर उनका अवलम्बन करने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। हमें अभीतक इस बात का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते है कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणायें की हैं और जिनमें से बहुत-सी प्राय. अच्छे उद्देश से की गई हैं, उनपर हम विश्वास नही करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियों की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये है, उनके कारण उन अंग्रेजों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गई है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नही कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायँ; और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे वे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करे; और अबतक उन्होने हमारे साथ जो अन्याय किये है, उनका इस रूप मे प्रायश्चित्त कर डाले।

पर हम यह बात जानते है कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ लोगों के विचार हमारे इन विचारो से भिन्न है। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है; और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन ज़रूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालांकि हम इस समय एक विशेष प्रकार के बन्धन में पड़े हुए हैं, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम में खुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न में हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस सीमा तक सहायता दे सकते हैं, वह इस प्रकार है:—

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय माँग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि काँग्रेस की कार्य-समिति, और ज़रूरत हो तो महासमिति के नियमित रूप से अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगों के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दों में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जो उसके निवासियों के प्रति जवाबदेह हो। उसे देश की रक्षक शक्तियों (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयों पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमें उन ११ बातों का भी सामावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थी। (ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त न हो जाय कि ज़रूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतंत्र पचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अंग्रेज़ों को जो विशेष पावने और रिआयतें वग़ैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं हैं, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य हैं या नहीं।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की ज़रूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे

(२) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचें और वह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम काँग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफ़ारिश करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय; अर्थात्, केवल आज्ञा-भग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनों का भंग न किया जाय। पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी वगैरा की दूकानों पर तब तक शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़े की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरों

में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-क़ानून की दण्ड-सम्बन्धी धारायें काम में नहीं लाई जायँगी। नमक के सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

(३) (क) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, ज्योंही उसके साथ वे सब सत्याग्रही क़ैदी और राजनैतिक क़ैदी, जो सजा पा चुके हैं पर जो हिंसा के अपराधी नहीं हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार-द्वारा छोड़ दिये जायँगे। (ख) नमक-क़ानून, प्रेस-क़ानून, लगान-क़ानून और इसी प्रकार के और क़ानूनों के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियां ज़ब्त की गई हैं, वे सब लोगों को वापस कर दी जायँगी। (ग) सज़ायाफ्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गये हैं या जो जमानतें ली गई हैं, उन सबकी रकमें लौटा दी जायँगी। (घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गाँवों के कर्मचारी भी शामिल हैं, जिन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा दिये गये हैं, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधारायें दी गई हैं, उनका व्यवहार असहयोग-काल के सज़ायाफ्ता लोगों के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, वे सब रद कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायँगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का सन्तोषजनक निपटारा हो जायगा।

आपके—

मोतीलाल नेहरू
मोहनदास करमचन्द गांधी
सरोजिनी नायडू
वल्लभभाई पटेल
जयरामदास दौलतराम
सैयद महमूद
जवाहरलाल नेहरू

परिशिष्ट—ग

[२६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया स्मारक-प्रस्ताव]

भारत-माता की उन सन्तानों का, जिन्होंने आज़ादी की महान् लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतंत्रता के लिए अनेक कष्ट सहे और क़ुर्बानी की; अपने उन महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं, और जो हमें सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनों का मार्ग दिखाते रहे हैं; उन सैकड़ों हज़ारों बहादुर नवयुवकों का, जिन्होंने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाई; पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का; उन सैकड़ों हज़ारों भाइयों का, जिन्होंने दुश्मन के नृशंस लाठी-प्रहारों का मुक़ाबिला किया और उन्हें सहा; गढ़वाली रेजीमेन्ट के सैनिकों और फ़ौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का, जिन्होंने कि अपनी जानें खतरे में डालकर भी अपने देशभाइयों पर गोली आदि चलाने से इनकार कर दिया; गुजरात के उन दबंग किसानों का, जिन्होंने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस अत्याचारों का मुक़ाबिला किया; भारत के अन्य प्रदेशों के उन बहादुर और पीड़ित किसानों का, जिन्होंने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई में पूरा भाग लिया; उन व्यापारियों और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का, जिन्होंने कि ज़बरदस्त नुक़सान उठाकर भी राष्ट्रीय संग्राम मे, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में, सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषों का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहाँतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं; और खासकर उन साधारण स्वयसेवकों का, जिन्होंने कि भारत माता के सच्चे सिपाहियों की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एक-मात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी अनवरत और शान्तिपूर्वक कार्य किया, हम..........के निवासी गौरव और कृतज्ञता-पूर्ण हृदय से अभिवादन करते हैं; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के संकट के समय अपने घरों की शरण छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना मे अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर अगली कतार में खड़ी रही और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया, और भारत की उस युवकशक्ति और बानरसेना पर जिसे कि उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर क़ुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्गों ने इस महान् संग्राम में हाथ बंटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर अल्पसंख्यक जातियों—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी समान-मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने और उसे क़ायम रखने तथा उस नवीन स्वतंत्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतंत्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

निर्देशिका

ख

ग

घ

च

छ

ज

झ

ट

भ

म

य

र

श

ह

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओ से निराश युवक के लिए संजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। मूल्य १।)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रन्थ। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [शैतान की लकड़ी] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनो में फंसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [जब्त : अप्राप्य] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागों में। मूल्य ३-)

७—**अनोखा**। फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लाफिंग मैन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीडाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गंभीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मूल्य ।।।=)

९—**यूरोप का इतिहास**। अर्थात् बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। मू० २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढ़नेवाले विद्यार्थियो के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १।।)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढंग से सिद्ध की है। मू० ।।।≡)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। इसमें बतलाया गया है कि ससार की सवर्ण जातियां स्वतंत्र होने के लिए किस प्रकार गोरी जातियों से लड़ रही हैं और अपनेको स्वतंत्र कर रही हैं। मू० ।।।=)

१३—चीन की आवाज़। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

१४—दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वयं गांधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़ें कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा अफ्रिकावासियों ने अपने अधिकारों की बहादुरी से और बिना दूसरों को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १।)

१५—विजयी बारडोली। [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—अनीति की राह पर। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक संतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गांधी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। मूल्य ।=)

१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा। लंका-विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। विज्ञान का हवाला देकर यह बताया गया है कि वह घटना सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—कन्या-शिक्षा। इसमे बतलाया गया है कि छोटी बालिकाओं को अपने बाल्य-जीवन के विषय मे किस तरह शिक्षा देनी चाहिए। मूल्य ।)

१९—कर्मयोग। [अप्राप्य] मूल्य ।=)

२०—कलवार की करतूत। महर्षि टाल्स्टाय की सरल भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक कहानी। मूल्य =)

२१—व्यावहारिक सभ्यता। युवकों, बच्चों तथा अवस्थाप्राप्त लोगों के लिए रोज़ के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओं की पोथी। बोधप्रद, शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ।।)

२२—अंधेरे में उजाला। महर्षि टाल्स्टाय के नाटक का अनुवाद। हृदय-मथन की अनुपम कहानी। मूल्य ।।)

२३—स्वामीजी का बलिदान। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

२४—हमारे ज़माने की गुलामी। [जब्त : अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—स्त्री और पुरुष। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। मूल्य ।।)

२६—घरों की सफ़ाई। घरों व गांवों तथा शरीर की सफाई पर उत्तम पुस्तक। मूल्य ।=)

२७—क्या करें? टाल्स्टाय की पुस्तक What to do ? का अनुवाद। गरीबों एवं पीड़ितों की समस्यायें। मूल्य १।।=)

२८—हाथ की कताई-बुनाई। [अप्राप्य] मूल्य ।।=)

२९—आत्मोपदेश। यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा एपिक्टेटस के उत्तम और

महत्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह । मूल्य ।)

३०—**यथार्थ आदर्श जीवन** । [अप्राप्य] मूल्य ।।-)

३१—**जब अंग्रेज़ नहीं आये थे**—तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजों के यहां आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेंट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित । मूल्य ।)

३२—**गंगा गोविन्दसिंह** । [अप्राप्य] मूल्य ।।=)

३३—**श्रीरामचरित्र** । श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र । मूल्य १।)

३४—**आश्रम-हरिणी** । पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिकों के विचार । मूल्य ।)

३५—**हिन्दी-मराठी-कोष** । मराठी भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज है । मूल्य २)

३६—**स्वाधीनता के सिद्धान्त** । आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालों की नसों में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरनेवाली पुस्तक । मूल्य ।।)

३७—**महान् मातृत्व की ओर** । स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक । मूल्य ।।।=)

३८—**शिवाजी की योग्यता** । छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेषण । मूल्य ।=)

३९—**तरंगित हृदय** । गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार । मूल्य ।।)

४०—**हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध]** डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास । हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाली क्रान्तिकारी पुस्तक । मूल्य १।।)

४१—**दुखी दुनिया या प्रलय-प्रतीक्षा** । गरीब और पीड़ित मानवी दुनिया के करुण चित्र । चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओं पर लिखी कहानियां। मधुर, करुण और सुन्दर । मूल्य ।।)

४२—**जिन्दा लाश** । टालसटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद । मूल्य ।।)

४३—**आत्म-कथा** । महात्मा गांधी लिखित । संसार के साहित्य का एक रत्न ।

उपनिषदों की भांति पवित्र और उपन्यासों की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डों में। बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १॥)

४४—**जब अंग्रेज आये।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।=)

४५—**जीवन-विकास।** विकासवाद को विषद रूप से समझानेवाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १।) १॥)

४६—**किसानों का बिगुल।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य =)

४७—**फांसी।** विक्टर ह्यूगो लिखित फांसी की सजा पाये हुए एक युवक के मनोभावों का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ॥)

४८—**अनासक्तियोग और गीता-बोध।** गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध-सहित ३५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** -)॥

४९—**स्वर्ण विहान** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन।** मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा में भी मराठों का ऐसा इतिहास नहीं है। मूल्य २॥)

५१—**भाई के पत्र।** स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनकी घरेलू एवं रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रदर्शक बहनों के हाथों में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओं और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दें। मूल्य १॥) २)

५२—**स्वगत।** चरित्र को गढ़नेवाले उच्च तथा युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३—**युगधर्म।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १=)

५४—**स्त्री-समस्या।** नारी-जीवन की जटिल समस्याओं का गम्भीर अध्ययन। मूल्य १॥) सजिल्द २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला।** प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गांधी लिखित। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपड़ा तैयार कर सकता है। मू० ॥=)

५६—**चित्रपट।** श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतों का संग्रह। भावनामय, करुण और मधुर। मूल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी** । महात्माजी के प्राइवेट सेक्रेटरी का लिखा हुआ महात्माजी की इंग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन । हिन्दी में अपने ढंग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त । मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल** । मशहूर रूसी क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद । समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन । मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्** । सर्वोत्तम नैतिक एवं धार्मिक पुस्तक । 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है ।' गीता की इसी बात का सुन्दर विवेचन है । मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक । मूल्य ।=)

६१—**जीवन-सूत्र** । अंग्रेजी में थॉमस केंपिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट' का अनुवाद । जीवन को उन्नत और विचारों को सात्विक बनानेवाली । मूल्य ।॥)

६२—**हमारा कलंक** । अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारों एव लेखों का संग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी । महात्माजी के आशीर्वाद सहित । मूल्य ।॥=)

६३—**बुद्बुद्** । (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शों से जीवन का मेल मिलानेवाले युवकों के लिए विचारणीय पुस्तक है । मूल्य ॥)

६४—**संघर्ष या सहयोग** ? प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद । इसमें दिखलाया है कि पशु और पक्षियों से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है; संघर्ष नही; एकता है लडाई नही । मूल्य १॥)

६५—**गांधी-विचार दोहन** । श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमें महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों का बड़ा सुन्दर दोहन किया है । मूल्य ।॥)

६६—**एशिया की क्रांति** । [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १॥)

६७—**हमारे राष्ट्र-निर्माता** । लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्मा जी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनियां—उनके संस्मरण, जीवन की झांकियां एवं व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ—लिखी गई है । हिन्दी में अपने क़िस्म की एक पुस्तक, मूल्य २॥) ३)

६८—**स्वतंत्रता की ओर**— । (हरिभाऊ उपाध्याय) इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतंत्रता—को किस प्रकार और

किन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समाज कैसा हो; हमारा साहित्य कैसा हो हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ते चले जावें। हिन्दी में इस पुस्तक का बड़ा आदर हुआ है। मूल्य १॥)

६९—**आगे बढ़ो**। स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का संक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई में पड़े युवकों को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली। मूल्य ॥)

७०—**बुद्ध-वाणी**। भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनों का संग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। बौद्ध-धर्म के हिन्दी में मिले सब ग्रन्थों का सार। मूल्य ॥=)

७१—**कांग्रेस का इतिहास**। डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक The History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा संपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा संस्करण है, बड़े आकार के ६५० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक। मूल्य २॥)

७२—**हमारे राष्ट्रपति**। कांग्रेस के पहले अधिवेशन से अबतक के तमाम सभापतियों के जीवन-चरित्र संक्षेप में इस पुस्तक में दे दिये गये हैं। हिन्दी में अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। सब सभापतियों के चित्रों के साथ, पृष्ठ संख्या ८०० मूल्य १)

७३—**मेरी कहानी**। पं० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा, पृष्ठ सं० ७७५ सजिल्द मूल्य ४)

[सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन १) प्रवेश फीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। —व्यवस्थापक]

———o———